श्री सायणाचार्यविरचिता

छान्दोग्योपनिषद्दीपिका

प्रधानसंपादकः

स्वामी गङ्गेश्वरानन्द उदासीन

संपादकः

डो. गौतम पटेल

भारतीय विद्या भवन के सचिव
श्री वीर राघवन जी को
सप्रेम भेंट —

नई दिल्ली
22/6/95

संस्कृत महाविद्यालय
विद्या भवन, नई दिल्ली
20-1-98

BVB Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya
220

iya Vidya Bhawan's Sri S[illegible] Sanskrit Mahavi

गुरुगङ्गेश्वर ग्रन्थमाला : पुष्प संख्या-४२

श्रीसायणाचार्यविरचिता

छान्दोग्योपनिषद्दीपिका

: प्रधान संपादक :

अनन्तश्रीविभूषित वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर
स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी उदासीन

: संपादक :

डॉ. गौतम पटेल

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सेन्ट झेवियर्स कोलेज
अमदाबाद-३८०००१. (भारत)

Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya * Bharatiya Vidya
Acc -220

: प्रकाशक :

सद्गुरु गङ्गेश्वर इन्टरनेशनल वेद मिशन
बम्बई

श्रीसायणाचार्यविरचिता
छान्दोग्योपनिषद्दीपिका

Chhandogyopanishad-dipika
by Sayanacharya

प्रकाशक :

मन्त्री,

श्री स्वामी गोविन्दानन्दजी उदासीन
सद्गुरु गङ्गेश्वर इन्टरनेशनल वेद मिशन
42/5, तुलसी निवास
'डी' रोड, चर्चगेट,
बम्बई–४०००२० (भारत)

१०८ वीं सद्गुरुगङ्गेश्वर जयन्ती
मकरसंक्रान्ती, २०४५
१४-१-८९, शनिवार

प्राप्ति स्थान :
गङ्गेश्वर धाम
गङ्गेश्वरधाम मार्ग,
करोल बाग,
नई दिल्ही.

BVB Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya
220

मुद्रक :

पूजा प्रिन्टर्स एन्ड ट्रेडर्स
"नारायण निवास" महेंदीकुवा
चाररस्ता शाहपुर अहमदाबाद–३८० ००१

अस्मदीयम्

'सद्गुरु गंगेश्वर इन्टरनेशनल वेद मिशन' वेद एवं वैदिक साहित्य के प्रचार एवं प्रसारमें सदैव बद्धपरिकर है। क्यू न हो ! इस मिशनकी स्थापना ही वेदमूर्ति अनन्तश्रीविभूषित वेददर्शनाचार्य **स्वामीश्री गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज, उदासीन,** की प्रेरणा एवं आशीर्वाद से हुई है। और इनके सभी ट्रस्टी गुरुभक्त एव वेदभक्त है। यह मिशनकी आर्थिक सहायता से हमारे परमपूज्य सद्गुदेव की १०८ वीं जन्मजयन्ती के शुभ अवसर पर यह अप्राप्य ग्रंथ, जो आज तक पाण्डुलिपि में था वह, प्रथमवार प्रकाशित हो रहा है। मैं हृदय से मिशन एवं मिशन के ट्रस्टीयों एवं **मंत्रीश्री गोविन्दानन्दजी उदासीन** के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ ।

धन्यवाद के अवसर पर मुझे सर्वप्रथम करुणावरुणालय सद्गुरुदेव महाराज का स्मरण करना चाहिये जिनके कृपापराग–प्रसारित–चरणकमलों के आशीर्वाद के बिना यह कार्य का आरंभ होना ही असंभव था। मैं उन्हे हृदय से प्रणाम करता हूँ और **'त्वदीयं वस्तु तुभ्यमेव समर्पये–यह आपकी वस्तु आपके चरणों में समर्पित करता हूँ।'**

यह ग्रंथमें अनेक उद्धरणोंके मूलस्रोत खोजने का कार्य पर्याप्तमात्रामें कठिन था। उसमें मुझे सहायभूत होनेवाले डॉ. पी. एन. कवठेकर, डॉ. टी. एन. धर्माधिकारी (वैदिक संशोधन मण्डल, पूणे) डो. के. पी. जोग (डेक्कन कोलेज, पूणे) एवं डो. सुरेश उपाध्याय (भारतीय विद्याभवन, बम्बई)ने अभूतपूर्व सहायता की है। अन्यथा मेरा कार्य अपूर्ण रह जाता। मै यह सबका हृदयसे धन्यवाद करता हूँ। डॉ. दाण्डेकर (पूणे) डॉ. नटवरलाल याज्ञिक, डो. भगवतीप्रसाद पंडया, (अमदावाद) डो. बी. आर. रामचन्द्र, डो. राजेन्द्र नाणावटी, (वडोदा) इत्यादि महानुभावोंने प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूपसे मुझे यह संपादनकार्यमें सहायता प्रदान की है। मैं यह सबका शुकर गुजार हूँ। प्रेसके मालिक श्रीजगदीशभाईको इस अवसर पर हार्दिक धन्यवाद ।

यह गुरुकार्य गुरुकृपासे हुआ है। मेरे सद्गुरुदेव का संकल्प है कि वेद एवं वैदिक साहित्य के अप्रकाशिक या अपाप्य ग्रंथ प्रकाशित किये जाय। इस महान वैदिक यज्ञमें मुझे भी एक आहुति देनेका अवसर पूज्य गुरुदेवने प्रदान किया है। मैं कृतकृत्यता का अनुभव करता हूँ।

आशा है यह ग्रंथ संस्कृत विश्व को और विशेष करके वैदिक जगत् को उपादेय प्रतीत होगा।

१०८ वीं सद्गुरुदेव जयन्ती,
१४, जनवरी, १९८९.
तुलसी निवास, डी रोड, चर्चगेट,
बम्बई, ४०००२०

विद्वद्गुणानुराग
गौतम पटेल
'वालम' 111 स्वातन्त्र्य सेनानी नगरी
नवा वाडज, अमदावाद–३८००१३

अनुक्रमणिका

१. अस्मदीयम् (i)

२. प्रस्तावना (v)

३. संकेतसूचि (xv)

४. छान्दोग्योपनिषद्दीपिका

प्रथमोऽध्यायः 1

द्वितीयोऽध्यायः 47

तृतीयोऽध्यायः 79

चतुर्थोऽध्यायः 124

पञ्चमोऽध्यायः 171

षष्ठोऽध्यायः 232

सप्तमोऽध्यायः 290

अष्टमोऽध्यायः 329

परिशिष्ट

१. उद्धरणसूचि 375

२. वैयासिकीन्यायमालासूचि 378

३. मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका 383

श्रीसायणाचार्यविरचिता

छान्दोग्योपनिषद्दीपिका

प्रस्तावना

यु. जी. सी. दिल्ली द्वारा संशोधनसहाय प्राप्त करके वल्लभदेव की कालिदास के कुमारसंभव की टीका की हस्तप्रतों का अध्ययन करने के लिये मै सन् १९७१ में भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें पूणे जा रहा था। जाने से पहले मैं मेरे आदरणीय सद्गुरुदेव वेददर्शनाचार्य अनन्तश्रीविभूषित **स्वामी श्री गङ्गेश्वरानन्दजी, उदासीन, महाराज**के चरणोमें आशीर्वादार्थ पहुँचा। आपने सुचना दी कि वहाँ पर छान्दोग्योपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् पर सायण भाष्यकी पाण्डुलिपि की खोज करना। वह होनी चाहिये। क्यूंकि श्री सायणाचार्यने प्रायः प्राचीन उपनिषदों पर भी भाष्य लिखा हो ऐसी संभावना है।

मैं जब मेरा शोधकार्य भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें कर रहा था तब मुझे **'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति''** महाकवि भवभूति के वचन की सार्थकता का प्रत्यक्षीकरण हुआ। केवल पृच्छा करने पर ही वहां के तत्कालीन क्यूरेटरने शीघ्र हि श्री सायणाचार्यकी छान्दोग्योपनिषद् पर की दीपिका की पाण्डुलिपि निकाल कर मुझे दे दी। मैं सीधा ही वेदके सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. आर. एन. डाण्डेकर के पास पहुँचा। वे महानुभाव भी श्री सायणाचार्य द्वारा विरचित छान्दोग्योपनिषद्दीपिका की पाण्डुलिपि देखकर प्रसन्न हुए और उत्साहके साथ कहा कि यदि आपके गुरुदेव इसे छापने चाहेंगे तो हम अवश्य अनूमति देंगे। मेरा काम बन गया। वापसी पर मैं ने पू. गुरुदेव से सारी घटना का सहर्ष निवेदन किया और मेरे कृपालु-करुणावरुणालय गुरुदेवने उसका विधिवत् संपादन करनेकी आज्ञा एवं आशीर्वाद प्रदान किये।

मैंने वल्लभदेवकी कुमारसंभवकी टीका का विवेचनात्मक संपादन एवं प्रकाशन करने के बाद पूज्य गुरुदेवकी आज्ञा अनुसार सायणाचार्यकी छान्दोग्योपनिषद्दीपिका का संपादन करनेका आरंभ किया। मुझे उसकी दो पाण्डुलिपि प्राप्त हुई जिसका विवरण इस प्रकार है।

---

१. महाकवि भवभूति, उत्तररामचरितम्, १-७

हस्तप्र – १. संकेत **भ**
स्थान – भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूणे
शीर्षक – छान्दोग्योपनिषद्दीपिका
कर्ता – सायणाचार्य
संख्या – २१. विश्राम (१)
नयी संख्या – सेकसन ३.
साधन – कागज
लिपि – देवनागरी
पत्र संख्या – २२३, १९९ वाँ पत्र कोरा
कद – १२३/४" × ४½"

वर्णन – प्रत्येक पत्रमें प्रायः सात पंक्तियां है। त्रिपाद प्रकार से यह प्रत लिखी गई है मध्यमें मूलग्रंथ एवं उपर तथा नीचे के भागमें टीका हें। अक्षर सुरेख, सुन्दर तथा सुवाच्य है, आरंभ में मोटे है और पत्र ९२ के बाद छोटे होते जाते है। पत्र १४८ से २२३ तक पत्र की दोनों ओर लाल रेखा अंकित की गई है। यह पाण्डुलिपि देवनागरी में लिखी गई है एवं संपूर्ण है।

हस्तप्रत – २, संकेत **म**
स्थान – आरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, मैसूर
शीर्षक – छान्दोग्योपनिषद्–भाष्य
कर्ता – सायण माधव–विद्यारण्य
संख्या – एस पी २६७५
साधन – ताडपत्र
लिपि – नन्दीनागरी
विषय – अद्वैत–वेदान्त
विस्तार – पांच और छ अध्याय
पत्र संख्या – १ से १४२

वर्णन – यह एक अपूर्ण प्रत है और उसमें केवल पांच और छ आध्यायकी टीका ही उपलब्ध है।

हस्तप्रत–१ (भ) का आरंभ नीम्नदर्शित प्रकार से होता है –

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यन्नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तन्नमामि गजाननम् ॥१॥

यस्य निःश्वसितं वेदाः यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥२॥

तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद्बुक्कमहीपतिः ।
आदिशत्सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥३॥ [1]

उस की पुष्पिका है–

इति श्रीराजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्यानेऽष्टमाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः । समाप्तश्चाध्यायः । समाप्ता छान्दोग्योपनिषद् ॥ श्रीविद्याशङ्कराय नमः ॥ श्रीविद्यारण्यश्रीगुरुभ्यो नमः । श्रीभारतीतीर्थगुरुभ्यो नमः ।

विद्यातीर्थाङ्गगुरवे परस्मै तेजसे नमः ।
यस्य नाङ्गाकृतस्नेहदशाहानिः कदाचन ॥
श्रीसाम्बदाशिवाय नमः ॥ श्रीरस्तु । श्रीशुभं भवतु ॥[2]

यह आरंभ और अंतकी पुष्पिका निर्विवादा रूपसे सिद्ध करती है कि यह भाष्य विजयनगर के सुप्रसिद्ध वेदभाष्यकार सायणाचार्य की कृति है। उनकी प्रत्येक कृतिका आरंभ और अन्त उपर्युक्त प्रकार से ही होता है।

यहां आरंभमें यह स्पष्ट कहा गया है कि सायणाचार्यने प्रथम ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद की संहिताओं पर भाष्य लिखा और बादमें छान्दोग्योपनिषद् पर भाष्य किया—

व्याख्यातावृग्यजुर्वेदौ सामवेदेऽपि संहिता ।
व्याख्याताऽथोपनिषदं व्याकर्तुं प्रतिजज्ञिवान् ॥५॥[3]

उपनिषदोंके भाष्यकारो में आद्य शंकराचार्य का नाम सर्वप्रथम है। आपने अद्वैतमतप्रवर्तक भाष्य लिखा है। सायणाचार्यके ऋग्वेदादि भाष्य देखने से स्पष्ट होता है कि वे आद्य शंकराचार्य द्वारा प्रस्थापित अद्वैतवेदान्त या मायावादके समर्थक है। छान्दोग्योपनिषद् पर सायणाचार्यने जो भाष्य लिखा है उसको आपने 'दीपिका'

---

१. छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, संपा. गौतम पटेल, पृ. १

२. छान्दोग्योपनिषपिका, संपा. गौतम पटेल, पृ. ३७१

३. छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, संपा. गौतम पटेल, पृ. १

कहा है। और उसके आरंभमें आपने स्पष्ट कहा है कि आप यहाँ पर आचार्यश्री शंकराचार्यके द्वारा प्रदर्शित मार्गानुसार भाष्य लिख रहे है। और भारतीतीर्थ मुनिकी वैयासिकी–न्यायमालाका भी सहारा लिया है। जैसे कि–

छान्दोग्योपनिषद्व्याख्यां श्रीमच्छङ्करमार्गतः।
कुर्वे वैयासिकन्यायैः संयुक्तां तत्त्वबुद्धये ॥६॥[1]

जब सायणाचार्यकी यह दीपिका का अध्ययन पर और उसकी छान्दोग्योपनिषद् के आद्य शंकराचार्यके उपलब्ध भाष्यके साथ तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ मंत्रोंके अर्थघटनमें शतप्रतिशत सहारा शांकर भाष्य का लिया गया है। केवल छांदोग्योपनिषद् ही नहीं किन्तु बादरायणके ब्रह्मसुत्रों पर जो आद्य शंकराचार्य का भाष्य उपलब्ध होता है वहाँ जो जो स्थान पर छान्दोग्योपनिषद् के वाक्यों के उद्धरण देकर शंकराचार्यने भाष्य लिखा है उस भाष्य का भी सहारा यहाँ लिया गया है। न केवल आद्य शंकराचार्य के भाष्यों का हो सहारा यहाँ लिया है किन्तु भारतीतीर्थने व्यास के सूत्रों पर आधारित शांकर भाष्यके अधिकरणों का सार 'वैयासिक-न्यायमाला' में श्लोकबद्ध किया है। और प्रत्येक अधिकरण का सार दो दो श्लोको में दिया है। यहाँ छान्दोग्योपनिषद्दीपिकामें सायणाचार्यने स्थान स्थान पर भारतीतीर्थकी 'वैयासिकी–न्यायमाला' से अनेक अवतरण भी उद्धृत किये है।[2]

इस दीपिकामें सायणाचार्यने केवल शांकरभाष्यका सिद्धान्तमें अनुकरण किया है किन्तु अर्थघटनमें कहीं तो शब्द, शब्दसमूह, उदाहरण एवं अवतरण भी शांकर भाष्यसे लिये है। साथ ही स्थान स्थान पर अतिसरल भाषामें उपनिषद् के विधानों और सिद्धान्तोंको स्पष्ट करने का प्रशस्य प्रयत्न किया है। शब्दों की नयी नयी व्युत्पत्तियाँ शांकरभाष्यमें प्राप्त न हो वैसे अनेक उदाहरण, नये नये उद्धरण, क्वचित् शांकरभाष्यमें उपलब्ध अपूर्ण उद्धरण को पूर्णरूपसे उद्धरण के रूपमें भी दिया है। नयी मौलिक व्युत्पत्तियां एवं स्थान स्थान पर ब्रह्मसूत्र के अधिकरणसार वैयासिकी-न्यायमालासे देखकर उसे सरलभाषामें समझा कर सायणाचार्यने अपनी छान्दोग्योपनिदीपिका को मौलिकता प्रदान की है एवं उनकी उपादेयतामें वृद्धि की है। शांकर-

---

[1] छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, संपा. गौतम पटेल पृ. १

[2] यह न्यायमालाका प्रकाशन 'वैयासिकी–न्यायमाला' (भारतीतीर्थप्रणीता) के नामसे विनायक गणेश आप्टेने पूना से १९२५में स्वतंत्ररूपसे किया था। यहाँ पर दीपिकामें उसके उद्धरण ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यकी निर्णयसागरकी तृतीय आवृत्ति (१९३४) से दिये गये है।

भाष्यमें प्रायः उद्धरण वेदोंकी सहिता तथा उपनिषद् साहित्यसे उपलब्ध होते है । लेकिन सायणाचार्य वैदिकसाहित्य के मर्मज्ञ विद्वान होने के कारण वेदोंकी संहिता या अन्य उपनिषदोंके उपरान्त, ब्राह्मणग्रंथों, आरण्यको, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र कल्पसूत्र इत्यादि वैदिक साहित्यसे तथा क्वचित् क्वचित् पुराणसाहित्य से भी उद्धरण यह दीपिकामें प्राप्त होते है। यह इसकी विशेषता है। शांकरभाष्य प्रसन्न एवं गंभीर (**भाष्यं प्रसन्नगंभीरम्**) माना गया है । सायणाचार्यकी छान्दोग्योपनिषद्दीपिकामें सरलता एवं माधुर्यका सुभग समन्वय हुआ है, जो प्रायः अन्य सायणभाष्यो में उपलब्ध होता है। जैसे कि–

तानि चोपासनानि द्विविधानि, ब्रह्मोपासनानि प्रतीकोपासनानि च । अन्यवस्तुभावनया यदुपास्यं तत्प्रतीकम् । तच्च द्विविधम् लौकिकं कर्माङ्गं च । तत्र मनआदित्यपुरुषादिकं लौकिकम्, ऋक्सामोद्गीथादिकं कर्माङ्गम् । यानि ब्रह्मोपासनानि तानि ब्रह्मलोकप्राप्तिद्वारा क्रममुक्त्यर्थानि । लौकिकोपासनानि स्वतन्त्राभ्युदयार्थानि ।[1]

एक अन्य उदाहरण जिसमें सायणाचार्य आद्यशंकराचार्यके सिद्धान्त को सरल किन्तु प्रभावक शैलीमें व्यक्त कर रहे हैं—

नन्विदानीं नामरूपक्रियाभिः विकृततया परिदृश्यमानस्य जगतस्तदानीं सत्तामात्रं कथमवगम्यत इति चेत्, मैवम् । यथा कश्चिल्लोके प्रातःकाले कुलालेन घटादिसिसृक्षुणा मृत्पिण्डं प्रसारितमुपलभ्य ग्रामान्तरं गत्वा पुनः प्रत्यागतः तत्रैव सायङ्काले घटशरावाद्यनेककार्यं दृष्ट्वा मृदेवेदं घटशरावादिकं प्रातःकालेऽभूदित्यवधारयति, तद्वत् नियन्तुं शक्यत्वात् ।[2]

सदेव सौम्य इदमग्र आसीत्[3] यह मंत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इस की व्याख्या करते समय आद्य शंकराचार्यने यहाँ वैशेषिक सांख्य इत्यादि आस्तिकदर्शन एवं बौद्धादि नास्तिक दर्शन का खण्डन देखा है। और सायणाचार्यने स्वयं भी '**शांकरपादोपजीवी**'[4] होने के कारण ठीक उसी प्रकार सांख्य, वैशेषिक बौद्ध इत्यादि दर्शनोंका खण्डन करने का प्रयास अत्यन्त सरल भाषामें किया है। यहाँ समयातिक्रमण है। लेकिन इस प्रकार का समयातिक्रमण भारतीय तत्त्वज्ञानके साहित्यमें अत्र-तत्र-सर्वत्र प्राप्त होता है।

---

१. छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, संपा. गौतम पटेल, पृ. ३

२. छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, संपा. गौतम पटेल, पृ. ३३५-३३६

३. छा. उप. ६-२-१

४. छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, संपा. गौतम पटेल, पृ, ३

सायणाचार्यकी भारतीय परंपरा अनुसारकी शास्त्रार्थमय शैली यह ग्रंथमें अनेक स्थानों पर दृष्टिगोचर होती है। **'ननु, 'इति चेत्'** इत्यादि द्वारा पूर्वपक्षका निरूपण और उनका तात्त्विक ढंग से निरसन हमे आद्य शंकराचार्यकी याद दिलाता है। उदाहरणके तौर पर छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय अध्याय के एकादश खण्डके बाद का सायणभाष्य द्रष्टव्य है जिसमें मीमांसा शास्त्रमें **'देवादीनां विद्यायामनधिकारः'** की चर्चा विस्तृत पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष के साथ की गई है। यहाँ पर सायणाचार्यने बादरायणके ब्रह्मसूत्रों एवं विविध उपनिषदोंमें से श्रुतिवाक्यो उद्धृत किये है। और भारतीतीर्थकी **'वैयासिकी-न्यायमाला'**में से ब्रह्मसूत्रों के अधिकरणसार एवं न्यायसिद्धान्त मञ्जरीमें से भी उद्धरण दिये है। यह उनकी बहुश्रुत विद्वत्ताका द्योतक है।

जब यहाँ यास्काचार्यके निरुक्तसे अवतरण दिया गया है वहाँ अन्य सायण भाष्योंकी शैलीका दर्शन होता है।-जैसे कि-

वैश्वानरं विश्वान् नरान् पुण्यपापानुरूपां गतिं नयतीति वैश्वानरः। यद् वा विश्वैर्नरैः प्रत्यगात्मतया प्रविभज्यमानायत इति । यद् वा विश्वानर एव वैश्वानरः सर्वात्मकत्वात्। तथा च यास्कः-वैश्वानरः कस्मात् विश्वान् नरान् नयति विश्वे एनं नरा नयन्तीति वा। अपि वा विश्वानर एव स्यादिति।[1]

सिद्धान्तोंका प्रतिपादन युक्तियुक्त उदाहरणों द्वारा मूलग्रंथके शब्दोंको लेकर करने में भाष्यकार सायणाचार्य कहीं कहीं सिद्धहस्त कलाकार प्रतीत होते है। जैसे कि-

'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' [छा. उप. ६-१४-२] इति श्रुतिः, अयमर्थः । तस्य तत्त्वविदो मुक्तिर्विलम्ब्यमानापि नात्यन्तं विलम्ब्यते किन्तु गर्भाधानकाले कल्प्तस्यायुषः क्षयाभावेन यावद्देहप्राणैर्न विमोक्ष्यते तावदेव विलम्ब्यते। अथ देहप्राणवियोगे सति ब्रह्म सपद्यत इति। यथानया श्रुत्या तत्त्वविदोऽप्यादेहान्तं संसारोऽङ्गीकृतः तथा विद्वदनुभवोऽप्यस्मिन्नर्थे स्फुटः। युक्तिश्चोच्यते यथा लोके तूणनिष्ठेषु धानुष्कस्य स्वीकारपरित्यागयोः स्वातन्त्र्येऽपि मुक्ते बाणे स्वातन्त्र्यं न दृश्यते स तु बाणं वेगक्षीणे स्वयं पतति। एवं अलातचक्रभ्रमणमुदाहर्तव्यम्।'[2]

सायणाचार्यने यहाँ धनुधारी एवं बाणका अपना उदाहरण सविस्तर प्रस्तुत

---

[1] छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, संपा. गौतम पटेल, पृ, २२३, द्र. नि. ७-६-११

[2] छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, संपा. गौतम पटेल. पृ. २८९

किया और कुलालचक्रभ्रमण के प्रसिद्ध उदाहरणका निर्देशमात्र किया। यह उनकी शैलीकी विशेषता है।

ऋग्वेदादि भाष्योमें जिस प्रकार पदे पदे शब्दोंकी व्युत्पत्ति सायणाचार्य प्रस्तुत करते है उसी प्रकार इस ग्रंथमें भी आपने अनेक शब्दोंकी व्युत्पति की है। यदि उसका केवल संग्रह किया जाय तो एक शोधपत्र की सामग्री बन जाय।

छान्दोग्योपनिषद्में सगुण एवं निर्गुण दोनों प्रकारसे ब्रह्मका प्रतिपादन है। भाष्यकार सायणाचार्यानुसार छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम पांच अध्यायोमें सगुण ब्रह्मकी उपासनाका प्रतिपादन है। और अन्तीम तीन अध्यायोमें निर्गुण ब्रह्मका। निर्गुणका वर्णन पहेले होना चाहिये कयूं कि वही 'परमपुरुषार्थ' है तथापि चित्तकी एकाग्रता के बिना तत्त्वज्ञानमें अधिकार प्राप्त नहीं होता है। अतः उपासनाकी बातका प्रतिपादन आरंभके अध्यायोमें है।

अष्टाध्यायेऽथादौ पञ्चभिरध्यायैरुपासनानि प्रतिपाद्यन्ते, उत्तरैस्तु त्रिभिरध्यायैर्निर्गुणब्रह्मतत्त्वम्। यद्यपि तत्त्वज्ञानस्य परमपुरुषार्थत्वेनाभ्यर्हितं तत्त्वमादौ वक्तव्यं तथापि चित्तैकाग्र्यमन्तरेण तत्त्वज्ञानेऽधिकाराभावात् तत्सिद्ध्यर्थमुपासनान्येवादावभिधीयन्ते।[1]

सायणाचार्यके बारेमें सुप्रसिद्ध है कि वे वैदिक साहित्यके बहुश्रुत विद्वान थे। और अपने भाष्योमें अनेक सुप्रसिद्ध या अल्प प्रसिद्ध वैदिक ग्रंथोंसे, क्वचित् क्वचित् पुराणों से भी, उद्धरण प्रस्तुत करते है। यहाँ भी ऋग्वेद, यजुर्वेद, तैत्तिरीयसंहिता, वाजसनेयीसंहिता, सामवेद, अथर्ववेद, शतपथब्राह्मण, माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण, जैमीनीय उपनिषद्ब्राह्मण, ऐतरेयब्राह्मण, तैत्तिरीयब्राह्मण, कौषितकीब्राह्मण, तैत्तिरीय-आरण्यक, ताण्ड्य-ब्राह्मण, तैत्तिरीयोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिद्, कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, मैत्रेयी-उपनिषद्, महानारायणोपनिद्, आश्वलायनश्रौतसूत्र, वाजसनेयीश्रौतसूत्र, सांखानश्रौतसूत्र, कात्यायनश्रौतसूत्र पातञ्जलयोगसूत्र, बादराकणके ब्रह्मसूत्र, यास्काचार्यका निरुक्त, श्रीमद् भगवद्गीता, या कुमारिल भट्टका श्लोकवार्तिक एवं न्यायमञ्जरी इत्यादि अनेक ग्रंथोसें उद्धरण छान्दोग्योपनिषद्दीपिका में सायणाचार्यने दिये है।

यह प्रश्न होना स्वाभाविक हैं कि यदि आद्य शंकराचार्यका भाष्य था तो फिर सायणाचार्यने यह नया भाष्य कयूं लिखा? और वह भी अपने को शंकराचार्यका पादोपजीवी मानते हुए भी कयूं ऐसा किया? उत्तर सरल है।

---

[1] छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, संपा. गौतम पटेल. पृ. ३

हमे यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि सायणाचार्य केवल व्यक्ति नहि लेकिन एक संस्था थे। He was not a person but an institute आपने चारों वेदोंकी संहिता पर भाष्य किया। अष्टादश ब्राह्मणग्रंथों और अनेक आरण्यको पर भाष्य लिखा। इसमें ईशावास्योपनिषद् यजुर्वेदका ४० वाँ अध्याय होने से उसका भाष्य हो गया। एतरेयोपनिषद् ऐतरेय ब्राह्मणमें और तैत्तिरीयोनिषद् तैत्तिरीयब्राह्मणका भाग है। अतः उन पर उनका भाष्य हो गया। बृहदारण्यकोपनिषद् शतपथब्राह्मगका भाग है। अतः उनका भी भाष्य वहाँ हो गया। प्राचीन उपनिषदोमें छान्दोग्योपनिषद् रह गया। अतः शक्य है कि यह गद्यमय प्राचीन छान्दोग्योपनिषद् पर सायणाचार्यने स्वतंत्र दीपिकाका निर्माण किया। वैदिक साहित्य पर भाष्यका निर्माण करना वह सायणाचार्यका जीवनव्रत था। और उसमें छान्दोग्य जैसी महत्त्वकी उपनिषद् रह जाय वह उचित नहीं था।

यहाँ सायणाचार्यने छान्दोग्योपनिषद्की शंकराचार्यकी टीकाका आधाररूपमें अवश्य स्वीकार किया हैं लेकिन यदि सूक्ष्मेक्षिकासे देखा जाय तो उन्होने शंकराचार्यके भाष्यका अन्धा अनुकरण नहीं किया है। बादरायणके ब्रह्मसुत्रों पर शंकराचार्यका जो भाष्य उपलब्ध है वहाँ अनेक स्थानों पर छान्दोग्योपनिषद्के अनेक मंत्र उद्धृत किये है और शंकराचार्यने उनका भी अर्थघटन किया हैं। सायणाचार्यने अपनी दीपिकामें उपनिषद एवं ब्रह्मसूत्र यह दोनों पर जो शांकरभाष्य उपलब्ध हैं उनका अध्ययन करके उपादेय अंशका स्वीकार किया है और सिद्धान्तोंका सारसंक्षेप दिया है। यहाँ भारतीतीर्थकी 'वैयासिकी–न्यायमाला'से अधिकरण–सार उद्धुत करके प्रस्तुत विषयको सविशेषे रूपसे सरल एवं उपादेय बनाया है। दूसरा उपलब्ध शांकर भाष्यमें शास्त्रार्थ अंश कहीं कहीं सुदीर्घ एवं पाणिडत्यपूर्ण है। यहाँ सायणाचार्यने अपनी दीपिकामें लम्बे लम्बे शास्त्रार्थको काट–छान कर सरल भाषामें रख कर यह दीपिकाको **'बालानां सुखबोधाय'** सच्चे अर्थमें दीपिका–अर्थोंकी प्रकाशिका–सिद्ध कर दी है। और छान्दोयोपनिषद्के सिद्धान्तों को हस्तामलकवत् सुस्पष्ट कर दिये है।

यह दीपिकामें स्थान पर भारतीतीर्थमुनि की वैयासिकी–न्यायमालामें से ब्रह्मसूत्रोंके अधिकार सार उद्धुत करके प्रतिपादित सिद्धान्त के विचारको सरलतम भाषामें साणयाचार्यने स्पष्ट किये है। यह उनका प्रदान है। और इससे उपनिषद् समझनेमें सविशेष सुगमता होती है।

यह दीपिकाकी कुछ मर्यादायें भी है। इनकी पाण्डुलिपिमें से १९९ संख्याका

---

१. छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, संपा. गौतम पटेल. पृ. 68

एक पत्र कोरा है। अतः उतना भाग हमारे लिये अप्राप्य रह गया है। वहाँ मूल मंत्रभाग की पूर्ति तो मुद्रित छान्दोग्योपनिषद् की पुस्तकसे कर दी गई है। लेकिन दीपिकावाला हिस्सा अपूर्ण ही है। उनका निर्देश यथास्थान पर किया है। जो भाग अप्राप्य है वह प्राप्यांशकी अपेक्षा अत्यन्त लघ्वी मात्रामें है। यह विद्वानोंके लिये संतोष की बात है। लिपिकार के प्रमादसे या असावधानीसे क्वचित् क्वचित् शब्द या वाक्य अपूर्ण से प्रतीत होते है उसे पूर्ण करने का यथाशक्ति प्रयास किया है।

हमारे प्राचीन भाष्यकार अगणित ग्रंथों के ज्ञाता थे और प्रायः सभी ग्रंथ उन्हे मुखपाठ होते थे। अतः वे अपने भाष्यमें स्थान स्थान उद्धरण दे देते थे। कहीं इस प्रकार से उद्धरणको वाक्य के बीचमें रख देते थे कि वह मौलिक वाक्य है या उद्धरण यह निश्चय करना भी पाठकों के लिये मुश्कील पड जाय। ऐसे अनेक उद्धरणो के मूल स्रोत ढूंढनेमें मुझे कठिनाईयोंका सामना करना पडा और मित्रोंने जों सहायता प्रदान की उसका निर्देश अन्यत्र किया है। एक स्थान पर वो **प्रवर्ग्यं... प्रवृणक्ति**[1] इतना ही वाक्य मिला। वास्तवमें पर्याप्त प्रयत्नके बाद पता चला कि पूर्ण वाक्य कुछ और ही है।

इस सायणभाष्यकी कतिपय विशेषताये हैं, कुछ नवीन प्रदान है। सबका निर्देश करना शक्य नहीं है। किन्तु भारतीय परंपरामें 'त्रयी' शब्दका विशिष्ट अर्थ है ओर वही अर्थघटन सायणाचार्यने स्पष्टरूपसे करके दिखाया है। जैसे कि–

त्रयीशब्दश्च ऋग्यजुःसामाख्येषु मन्त्रेषु प्रयुज्यते। तथा चाथर्वणिका अप्यामनन्ति–'मन्त्रेषु कवयो यान्यपश्यन्' (मुं. उप. १–२-१) इति। तस्मान्मन्त्रेषु कर्मणामेकीभावो युक्तः।[2]

'त्रयी' शब्दका यह विशिष्ट अर्थ नहीं जाननेवाले विदेशी विद्वानों और उनकी पटरी पर चलनेवाले भारतीयों ऐसा मान लेते है कि त्रयी अर्थात् तीन ही वेद ऋग्वेद, सामवेद, और यजुर्वेद। अतः अथर्ववेदका समावेश त्रयीमें नहीं है। लेकिन हमारी परम्परा अनुसार ऋक् यजु और साम यह मंत्रोके प्रकार का द्योतक शब्दप्रयोग हैं और चारों वेदोमें जो मंत्रो है या तो कहो मंत्रो ही वेद है द्र. **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्**) वह सभी का समावेश 'त्रयी' में हो जाता है। अथ जब त्रयी शब्द का प्रयोग होता है तब चारों वेदों का या चारों वेदो के मंत्रों का ग्रहण होता हैं। अतः 'त्रयी' में अथर्ववेद का समावेश नहीं है यह करना हमारी परंपरा का अज्ञान प्रदर्शित करता है।

---

[1] छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, संपा. गौतम पटेल, पृ. ७

[2] छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, संपा. गौतम पटेल, पृ. २९९

यह बात तुलनात्मक अध्ययनसे अधिक स्पष्ट होती है । ऋग् का अर्थ है १.) **ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था**[1] सामका अर्थ है २.) **गीतिषु साम**[2] और यजुस्‌की व्याख्या है ३.) **शेषे यजुःशब्दः**[3] । इसका अर्थ हुआ कि जहां अर्थको प्राधान्य देकर वृत्तबद्ध मंत्रों की व्यवस्था है वह हो गये ऋक्, उसे ही ऋचा कहते है । जिसका संग्रह ऋग्वेद कहलाता है । जो मंत्र गान में उपयुक्त हुए वह साम बने और बाकी के जो गद्यमय रहे उसे यजुस कहे गये[4] । कहने की आवश्यकता नहीं कि साम की संहिता सामवेद कहलाई और यज्ञोपयुक्त मंत्रोकी संहिता यजुर्वेद । अथर्ववेद में भी अर्थको प्राधान्यदेनेवाले मंत्र भी है और यज्ञमें उपयुक्त मंत्रो भी । यह सिद्ध होता है 'ऋग् यजुः, साम' यह तीन के लिये 'त्रयी' का प्रयोग तीन प्रकारके मंत्रों का वाचक है ।

कात्यायन मुनिकी सर्वानुक्रमणिकाकी वृत्तिमें षड्गुरूशिष्य का विधान है—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते ।
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ॥
अहेर्बुध्नीय मन्त्रं गोपायेत्यभिधीयते ।
ऋक्पादबद्धा गीतन्तु साम गद्यं यजुर्मन्त्रः ।
चतुर्ष्वपि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते ॥[5]

यह उपर्युक्त सिद्धान्त को स्पष्ट करता है कि ऋग् यजुस् और साम यह तीनो मंत्र प्रकार चारों वेदोमें प्राप्त होते हैं । यह बात भी नहि उवेखी जा सकती हैं कि भारतीय परंपराने चारों वेदों को एक साथ ही माना है । **भारतं पञ्चमो वेदः** या **नाटकं पञ्चमो वेदः** इस प्रकार के परंपरा में युगोपूर्वसे प्रचलित प्रयोग सिद्ध करता हैं कि हमने चारों वेदों को तो एक साथ माने है ।

यदि तीन वेद पहले थे और चतुर्थवदे पीछे से आया होता तो कोई कहीं भी महत्त्व दर्शाने के लिये **नाटकं चतुर्थो वेदः** जैसा प्रयोग करता । लेकिन वैसा तो कहीं भी नहीं हुआ हैं । अतः 'त्रयी' मंत्रप्रकार का द्योतक शब्द प्रयोग हैं । और त्रयी कहने से उसमें चारों वेदों का समावेश हो जाता हैं । इसी प्रकार का प्रयोग हमे शिष्ट साहित्य में मिलता है, जहां काव्य को गद्य, पद्य एवं चम्पू में विभाजित

---

१. जै. सू. २-१-३५
२. जै. सू. २-१-३६
३. जै. सू. २-१-३७
४. द्र. डॉ. चौबे, व्रजबिहारी, वैदिक वाङ्मय-एक अनुशीलन, प्र. भा. पृ. २५-२६
५. षड्गुरुशिष्यकृता वृत्तिः, कात्यायनकृतसर्वानुक्रमणी भूमिका, संपा. ए.ए. मेकडोनेल

करते हैं। यहां रूपक या नाटक का स्पष्ट निर्देश नहीं है। अतः नाटक 'काव्य' शब्द में से दूर कर दिया गया हैं एसा हम कभी नहीं कह सकते है।

वैदिक साहित्यका आमूल अध्यन, भारतीय परंपरा का परिपूर्ण ज्ञान, विविध शाखाओं का परिचय, सरल शैली, बहुमुखी प्रतिभा, इत्यादि सभी लक्षण जो अन्य सायणभाष्य में प्राप्त होते है वह यहाँ भी हैं। अतः छान्दोग्योपनिषद्दीपिका भी सायणाचार्यकी कृति हैं यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हैं। किसी भी व्यक्ति को प्रश्न अवश्य हो सकता है कि एक ही व्यक्ति इतना सारा साहित्य कैसे लिख सकता हैं।? किन्तु आज २०–२० वोल्युम महाग्रंथ लिखनेवाले विद्वान धरातल पर हैं। अथवा यह समाधान भी शक्य है कि सायणाचार्यके साथ, जैसे आज होता है वैसे, अनेक विद्वानों को 'टीम' थी और सबने एक ही 'सायण' के नामके नीचे काम किया। अतः 'सायण' व्यक्ति नहीं किन्तु 'संस्था' थे यह विधान सार्थक एवं उपादेय बन जाता हैं। और यह छान्दोग्योपनिषद्दीपिका भी वही सुप्रसिद्ध वेदविद्वान सायणाचार्यकी ही कृति है।

संकेतसूचि

हस्तप्रत-संकेत

म. = ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मायसोर, की प्रत
भ. = भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूणे, की हस्तप्रत
अपा. = अधिकपाठ
मुपा = मुद्रितपाठ

ग्रंथ-संकेत

अ.वे. = अथर्ववेदसंहिता
आ. श्रौ. सू. = आश्वलायनश्रौतसूत्राणि
ऋ.वे. = ऋग्वेदसंहिता
ऐ. आ. = ऐतरेयारण्यकम्
ऐ. उप. = ऐतरेयोपनिषत्
क. उप }
कठ. उप } = कठोपनिषत्
का. श्रौ. सु. = कात्यायनश्रौतसूत्राणि
कौ. उप. = कौषीतक्युपनिषत्
कौ. ब्रा. = कौषीतकि-ब्राह्मणम्
गीता. = भगवद्गीता

गोब्रा. = गोपथब्राह्मणम्
छा. उप. = छान्दोग्योपनिषत्
छा. उप. दी. = छान्दोग्योपनिषद्दीपिका
छा. उप. शां. भा. = छान्दोग्योपनिषत्–शांकरभाष्यम्
जाबा. उप. = जाबालोपनिषत्
जै. उप. जैमिन्युपनिषद्-ब्राह्मणम्
तां. ब्रा. = ताण्डयब्राह्मणम्
तै. आ. = तैत्तिरीयारण्यकम्
तै. उप. = तैत्तिरीयोपनिषत्
तै. ब्रा. = तैत्तिरीय–ब्राह्मणम्
तै. सं = तैत्तिरीय–संहिता
नि. = यास्काचार्यकृतम् निरुक्तम्
पा. सू. = पाणिनीयाष्टाध्यायी-सूत्राणि
प्र. उप. = प्रश्नोपनिषत्
बृ. आ. उप.
बृ. उप. } = बृहदारण्यकोपनिषत्
ब्र. सू. = बादरायणकृतब्रह्मसूत्राणि
ब्र. सू. शां.भा. = ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्
भ.गी. = भगवद्-गीता
मनु = मनुस्मृतिः
महाना. उप. = महानारायणोपनिषत्
मा. श. ब्रा. = माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणम्
मु. उप. = मुण्डकोपनिषत्
मै. उप. = मैत्रायण्युपनिषत्
य. वे. = यजुर्वेदसंहित
व. = कात्यायनकृतवार्तिकाणि
वै. श्रौ. सू. = वैखानसश्रौतसूत्राणि
श. ब्रा. = शतपथब्राह्मणम्
शांभा. = शांकरभाष्यम्
श्वे. उप. = श्वेताश्वरोपनिषत्
ष. विं. ब्रा = षड्विंशब्राह्मणम्
सत्य. श्रौ. सू. = सत्याषाढश्रौतसूत्राणि
सा. वे. = सामवेदसंहिता

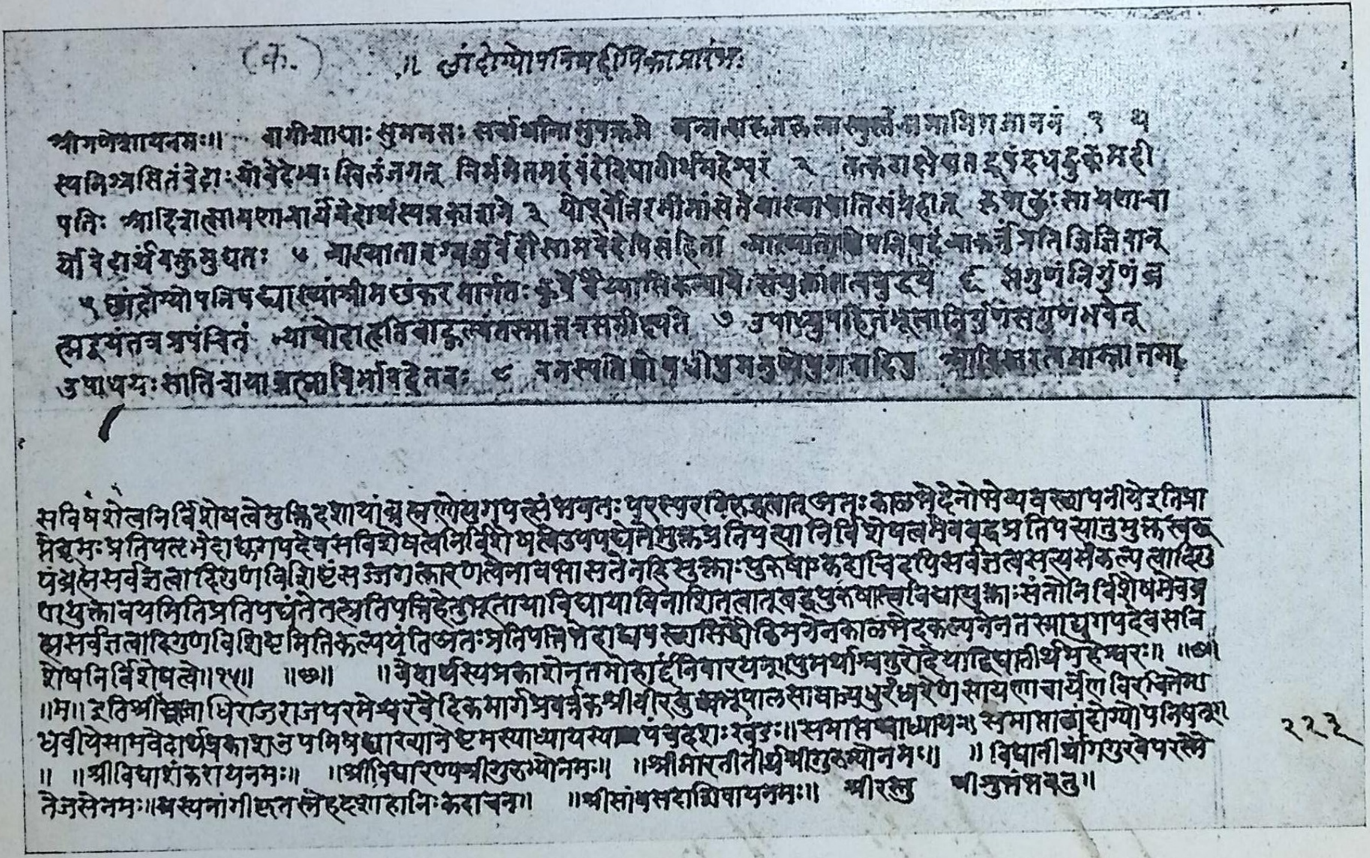

MSS of Sayanabhashya on Chhandogyopanishad, B. O. R. I., Pune

श्रीसायणाचार्यविरचिता

छान्दोग्योपनिषद्दीपिका

।। श्रीगणेशाय नमः ।।

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वाः कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ।।१।।

यस्य निःश्वसितं वेदाः यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ।।२।।

तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद्बुक्कमहीपतिः ।
आदिशत्सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ।।३।।

यो(ये) पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायाऽतिसंग्रहात् ।।
कृपालुः सायणाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ।।४।।

व्याख्यातावृग्यजुर्वेदौ सामवेदेऽपि संहिता ।
व्याख्याताऽथोपनिषदं व्याकर्तुं प्रतिजि(ज)ज्ञिवान् ।।५।।

छान्दोग्योपनिषद्व्याख्यां श्रीमच्छङ्करमार्गतः ।
कुर्वें वैयासिकन्यायैः संयुक्तां तत्त्वबुद्धये ।।६।।

सगुणं निर्गुणं ब्रह्म द्वयं तत्र प्रपञ्चितम् ।
न्यायोदाहृतिबाहुल्यं तस्मात्तत्र समीक्ष्यते ।।७।।

उपाध्युपहितं भूत्वा निर्गुणं सगुणं भवेत् ।
उपाधयः सातिशया ब्रह्माविर्भावहेतवः ।।८।।

वनस्पतिष्वोषधिषु मनुष्येषु गवादिषु ।
आविस्तरत्वमाम्नातमात्मनो ह्यैतरेयके ।।९।।

तदीयतारतम्येन यथोपास्तिफलोत्थितः(तम्) ।
ब्रह्मैकमपि सर्वेभ्यो दत्ते नानाविधं फलम् ।।१०।।

तारतम्येन तद्धीन(नं) निर्गुणं ब्रह्म तस्य धीः ।
मुक्तिमेकविधां दत्ते वेधसे मनुजाय वा ।।११।।

अतो व्यासेन सगुणं निर्गुणं च विचारितम् ।
छान्दोग्यश्रुतिमाश्रित्य मीमांसायां विशेषतः ।।१२।।

नन्वेकस्यां मीमांसायां सगुणनिर्गुणब्रह्मणोरुभयोर्विचारो न युक्तः, संसारमोक्षरूपविरुद्धफलोपेतयोरुपासनतत्त्वकाण्डयोर्भिन्नत्वात् । यथा पूर्वकाण्डस्य धर्ममीमांसा पृथगेव विरचिता तथैवोपासनाकाण्डस्यापि भिन्नैव मीमांसोचितेति चेत्, बाढम् । तथापि तयोः काण्डयोर्ब्रह्मविषयत्वं समानमित्यभिप्रेत्यैकैव ब्रह्ममीमांसा विरचिता । ननु सगुणनिर्गुणरूपेण सत्यप्यवान्तरभेदे ब्रह्मण एकत्वात् तद्विषयाया उपनिषदः काण्डैक्यमिति तवाभिप्रायः । तत्तु काण्डैक्यमयुक्तं बोधनीयान्निर्गुणब्रह्मतत्वा(त्त्वा)दुप(पा)स्यात्सगुणब्रह्मणोऽप्यतिरिक्तानां प्रतीकोपास्तीनामुपनिषदि प्रतिपादितत्त्वात् । तथा हि–आरुणिश्वेतकेतुसंवादे सनत्कुमारनारदसंवादे प्रजापतीन्द्रविरोचनसंवादे च बोधनीयं निर्गुणब्रह्मणस्तत्त्वं प्रतिपादितम् । शाण्डिल्यविद्यायामुपकोशलविद्यायां दहरविद्यायां चोपास्यं सगुणं ब्रह्मप्रतिपादितम् । 'नमो(मनो)ब्रह्मेत्युपासीत' [छा. उप. ३-१८-१] 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' [छा. उप. ३-१९-१] इत्यादिषु तु प्रतीकानि मनआदित्यादीनि अब्रह्मद्रव्याण्युपास्यत्वेन प्रतिपादितानि न तेषां ब्रह्मकाण्डे सम्बन्धो युक्त इति चेत्, मैवम् । अब्रह्मभूतानामपि मनआदिद्रव्याणां ब्रह्मभावनावलम्बनत्वेनौपचारिक ब्रह्मत्वात् । त(य)था श्राद्धकाले पित्रादिस्थानेषु उपवेशितस्य दौहित्रस्योपचारिकपित्रादिरूपत्वं तद्वत् ।

ननु 'पुरुषो वाव यज्ञः' [छा. उप. ३-१६-१] इत्यादिषु पुरुषादिप्रतीकानां यज्ञादिभावनालम्बनत्त्वेन ब्रह्मत्वमौपचारिकमपि नास्तीति चेत्, मा भूदेवं ब्रह्मत्वम् । तथापि पुरुषाद्युपासनादैकाग्र्यं प्राप्ताया बुद्धेर्ब्रह्मदर्शने योग्यता संपद्यते । तथा च कठमामनन्ति–

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।।

[कठ. उप. ३-१२] इति । तस्मात्पुरुषाद्युपास्तीनामप्यस्ति परम्परया ब्रह्मसंबन्धः ।

नन्वीदृशो ब्रह्मसंबन्धो ज्योतिष्टोमादीनामप्यस्ति तेषां ब्रह्मविषयां विविदिषां प्रति हेतुत्वात् । तथा च वाजसनेयिन आमनन्ति–'**तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन**' [बृ. उप. ४-४-२२] इति । अतः कर्मकाण्डस्यापि पृथक्त्वं न प्राप्नुयादिति चेत्, मैवम् । उपास्तीनां कर्मणां चान्तरङ्गत्वबहिरङ्गत्ववैषम्यसद्भावात् । मानसस्य ब्रह्मबोधस्य मानसान्युपासनान्यन्तरङ्गाणि मनस्यैकाग्र्यमापन्ने सति ब्रह्मसाक्षात्कारस्य सहसोत्पत्तेः । कर्माणि तु वाचकैर्मन्त्रैः शारीरैश्च व्यापारैः साध्यत्वाद्बहिरङ्गानि । कर्मभिर्विविदिषाप्रतिबन्धकक्षये सति ब्रह्मसाक्षात्कारस्य सहसोत्पत्तेः । कर्माणि तु वाचकैर्मन्त्रैः शारीरैश्चः व्यापारैः साध्यत्वाद्बहिरङ्गानि । कर्मभिर्विविदिषाप्रतिबन्धकक्षये सति ब्रह्मतत्त्वं वेदितुमिच्छा जायते । ततो वेदनसाधनानि शान्तिदान्तिचित्तैकाग्र्यश्रवणमननादीनि संपादयति । ततो बहिरङ्गत्वात्कर्मसु बहुवक्तव्यसद्भावाच्च काण्डभेदमङ्गीकृत्य पृथगेव जैमिनीया मीमांसा प्रवृत्ता । किं बहुना, ब्रह्मज्ञानस्योपासनानां च प्रतिपादक उपनिष[द्]ग्रन्थो ब्रह्मकाण्ड एक एव । तस्मिंश्चोपनिषद्ग्रन्थे केचिदष्टावध्यायानधीयते, अपरे तु द्वादशामनन्ति । तत्र विच्छेदविशेषेणैवाध्यायाधिक्यं ग्रन्थस्त्वष्टाध्यायपाठे यावानस्ति तावानेव द्वादशाध्यायपाठेऽपि । विच्छेदविशेषस्तु शाखाभेदादुपपद्यते । क्वचित्क्वचित्कतिपयाक्षरविशेषोऽप्यत एवोपपन्नः । य(त)त्राष्टाध्यायपाठस्य श्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादैरादृतत्वात् तत्प्रसादोपजीविभिरस्माभिरपि स एव पाठः प्राधान्येन व्याख्यास्यते, अक्षरविशेषाश्च शाखान्तरीयास्तत्र तत्र प्रदर्शयिष्यन्ते ।

अष्टाध्यायेऽथादौ पञ्चभिरध्यायैरुपासनानि प्रतिपाद्यन्ते, उत्तरैस्तु त्रिभिरध्यायैर्निर्गुणब्रह्मतत्त्वम् । यद्यपि तत्त्वज्ञानस्य परमपुरुषार्थत्वेनाभ्यर्हितं तत्त्वमादौ वक्तव्यं तथापि चित्तैकाग्र्यमन्तरेण तत्त्वज्ञानेऽधिकाराभावात्तत्सिध्यर्थमुपासनान्येवादावभिधीयन्ते । तानि चोपासनानि द्विविधानि, ब्रह्मोपासनानि प्रतीकोपासनानि च ।

अन्यवस्तुभावनया यदुपास्यं तत्प्रतीकम् । तच्च द्विविधम्, लौकिकं कर्माङ्गं च । तत्र मनआदित्यपुरुषादिकं लौकिकम्, ऋक्सामोद्गीथादिकं कर्माङ्गम् । यानि ब्रह्मोपासनानि तानि ब्रह्मलोकप्राप्तिद्वारा क्रममुक्त्यर्थानि । लौकिकप्रतीकोपासनानि स्वतन्त्राभ्युदयार्थानि । अङ्गावबघो(द्धो)पासनानि तु कर्मफलसमृद्ध्यर्थानि । आदौ तावत्तान्येय प्रथमद्वितीययोरध्याययोः प्रतिपाद्यन्ते कर्मकाण्डोक्तनानाविधकर्मवासनावासितस्य पुरुषस्य कर्मपरित्यागेन स्वतन्त्रोपासने सहसा चित्तप्रवेशाभावात् । तेषु चोपासनेषु ऋत्विजः कर्तृत्वम्,

एतच्चोत्तरमीमांसायां तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे त्रयोदशाधिकरणे निर्णीतम् । तत्र यन्न्यायसंग्रहः—

अङ्गध्यानं याजमानमार्त्विज्यं वा यतः फलम् ।
ध्यातुरेव श्रुतं तस्माद्याजमानमुपासनम् ॥१॥

ब्रूयादेवंविदुद्गातेत्यार्त्विज्यत्वं स्फुटं श्रुतम् ।
क्रीतत्वादृत्विजस्तेन कृतं स्वामिकृतं भवेत् ॥२॥[1]

अङ्गावबद्धेषूपासनेषु यजमान एवानुष्ठाता न तु ऋत्विजः, ध्यातुः फलश्रवणात् । फलं तु यजमानस्यैवोचितं स्वामित्वात् । तस्मात्फलिनो यजमानस्यैव ध्यातृत्वमिति प्राप्ते ब्रूमः । 'य एवंविदुद्गाता ब्रूयाद्' [छा. उप. १-६-८] इति वाक्यशेषादुद्गातुरुपासकत्वं स्पष्टं श्रूयते । युक्तं चैतत् । ऋत्विजामशेषकर्तव्यानुष्ठानाय यजमानेन क्रीतत्वात्तस्मादृत्विग्भिः कृतमपि यजमानेनैव कृतमिति फलत्वोपपत्तेः । उपासनमृत्विजां कर्मात[स्त]स्यैवाध्यायस्य तृतीयपादे सप्तविंशाधिकरणे तासामङ्गावबद्धोपास्तीनां कर्मस्वनियतत्वं निर्णीतम्—

नित्या अङ्गावबद्धा स्युः कर्मस्वनियता उत ।
पर्णवत्क्रतुसंबन्धो वाक्यान्नित्यास्ततो मताः ॥१॥

पृथक्फलश्रुतेर्नैता नित्या गोदोहनादिवत् ।
उभौ कुरुत इत्युक्तं कर्मोपास्त्यनुपासिनौ[2] ॥२॥[3]

उद्गीथादिषु कर्माङ्गेषु प्रतिमादिवत् प्रतीकभूतेषु विधीयमाना देवतोपास्तयोऽङ्गावबद्धास्ताश्च कर्मस्वनुष्ठीयमानेषु कर्माङ्गवन्नियमेनानुष्ठातव्याः कर्मप्रकरणमारभ्याध्ययनाभावेऽपि वाक्यात्क्रतुसम्बन्धोपपत्तेः । 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' [तै. सं. ३-५-७-२][4] इत्य[ने]नारभ्याधीतस्याव्यभिचरितजुहूद्वारा वाक्यात्क्रतुसंबन्धः ।

तथा य 'एवं विद्वानुद्गायति' [जै. उ. ब्रा. २-८-९] 'य एवं विद्वान्साम गायति' [छा. उप. १-७-९] इत्यादिषु अव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धिसामोद्गीथादिद्वारा तदुपासनानां क्रतुसंबन्धः प्रतीयते तस्मात्कर्मसु नियता उपास्तय इति प्राप्ते ब्रूमः—गोदोह-

---

[1] ब्र. सू. न्या. पृ. ८१५

[2] '०नुपासिनोः' इति सुपा.

[3] ब्र. सू. न्या. पृ. ७५०

[4] द्र. यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति । -तै. सं. ३-५-७-२

नादिवदनियता उपास्तयः । यथा 'चमसेनापः प्रणयेद्गोदोहनेन पशुकामस्य [आ. श्रौ. सू. १-१६, वा. श्रौ. सू. १-२-४-५] इत्यत्र प्रणयनमाश्रित्य विधीयमानमपि गोदोहनमक्रत्वर्थत्वात्, ऐच्छिकं न तु प्रणयनादिवन्नियतम् । तथा कर्माङ्गान्याश्रित्य विधीयमाना उपास्तयो न क्रत्वर्थाः किं तु पुरुषार्थाः कर्मफलात्पृथक्फलश्रवणात् । 'वर्षति हास्मै' [छा. उप. २-३-२] इति पञ्चविधे सामनि वृष्टिदेवतामुपासीनस्य कामवृष्टिः क्रतुफलात्पृथक्फलत्वेन श्रूयते । 'किं च तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' [छा. उप. १-१-१०] इत्यस्मिन्नङ्गावबद्धोपास्तिवाक्यशेषे उपासकानुपासकयो[र]नुपास्त्याधारभूतेन तेनाङ्गेन कर्मानुष्ठानं विस्पष्टमाम्नायते । तस्मात् कर्मस्वनियता उपास्तयः । एकात्रिंशाधिकरणे तस्याङ्गध्यानस्य सर्वशाखास्थेषु तेष्वङ्गेषु अनुगतिर्दर्शिता—

उक्थ्यादिधीः स्वशाखाङ्गेष्विवान्यत्रापि वा भवेत् ।
सांनिध्यात्स्वस्वशाखाङ्गेष्वेवासौ व्यवतिष्ठते ॥
उक्थ्योद्गीथादिसामान्यं तत्तच्छब्दैः प्रतीयते ।
श्रुत्या च संनिधेर्बाधस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते[1] ॥[2]

यासौ अङ्गावबद्धोपासनेषूक्थ्याख्ये कर्माङ्गे पृथिव्यादिदृष्टिरैतरेयोपनिषदि श्रूयते, उक्थ्यं तु कौषीतक्यादिशाखान्तरेष्वपि विहितम् । तत्र पृथिवीदृष्टिरैतरेयकगतोक्थ्य एव व्यवतिष्ठते उत कौषीतक्यादिष्वनुवर्तत इति संदेहे सति सन्निहितत्वात्स्वशाखायामेव व्यवस्थितेति प्राप्ते ब्रूमः । उक्थशब्दस्तावन्मुख्यया वृत्या सर्वशाखागतमुक्थसामान्यमाचष्टे । तत्र उक्थश्रुतिवशात्सर्वशाखागतोक्थेष्वनुवृत्तिः प्राप्ता । श्रुतिश्च संनिधेर्बलीयसी । तस्मात्क्वचिद्विहिता धीः शाखान्तरेष्वनुगच्छति । षड्विं(ट्त्रिं)शाधिकरणे[3] सर्वासामङ्गावबद्धोपास्तीनां समुच्चयेनैवानुष्ठानमिति नियमो नास्ति । किन्तु य(या)थाकाम्यमित्युक्तम् —

समुच्चयोङ्गावबद्धेषु य(या)थाकाम्येन वा मतिः ।
समुच्चितत्वादङ्गानां तद्बद्धेषु समुच्चयः ॥
ग्रहं गृहीत्वा स्तोत्रस्यारम्भ इत्यादिवन्नहि ।
श्रूयते सहभावोऽत्र य(या)थाकाम्यं ततो भवेत् ॥[4]

---

१. यात्यसौ–मुपा. द्र. ब्र. सू. न्या. पृ. ७६९

२. ब्र. सू. न्या. पृ. ७६९

३. अत्र 'षड्विंश' इति प्रामादिकः पाठः, 'षट्त्रिंश' इत्येव साधु ।

४. ब्र. सू. न्या. पृ. ७७७

द्विविधानि प्रतीकानि लौकिकानि कर्माङ्गानि च। तत्र लौकिके षुप्रतीकेषु निर्णयः पूर्वोक्तः। अत्र कर्माङ्गेषु समुच्चय(यो) याथाकाम्ये विचार्यते। तत्र कर्माणि कर्माङ्गानि समुच्चित्यैवानुष्ठेयतया प्रयोगविधिप्रापितानि तथा चाङ्गतन्त्रत्वादङ्गावबद्धोपासनानामपि समुच्चयनियम इति प्राप्ते ब्रूमः। 'ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपकुर्यात्स्तुतमनुशंसति' [तै. सं. ३-१-२] इत्यादौ यथा ग्रहस्तोत्रशंसनादीनां नियतपौर्वापर्येण सद्भावः श्रुतः, न तथोपासनेषु श्रूयते। तस्माद्विकल्पसमुच्चययोर्याथाकाम्यम्।

उपनिषदः प्रथमाध्याये प्रथमखण्डस्योपक्रमे परमेश्वरप्रसादनार्थं तद्वाचकस्य प्रणवस्य कर्माङ्गभूतस्योपासनं विधत्ते—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।

ओमिति ॥ ननु '**ओमत्येतदक्षरम्**' इत्यादिको नोपनिषदः प्रथमोध्यायः। तस्मादध्यायात्पूर्वत्रापि '**देव सवितः प्रसुव**' [य. वे. ९-१; ११-७, ३०-१] इत्यादि मन्त्राध्यायस्य पाठकैरधीयमानत्वात्। मैवम्। तेषां मन्त्राणां तत्तल्लिङ्गग्राह्येषु कर्मसु विनियुक्तानामौपनिषद्विद्यासम्ब[न्ध]राहित्येन तस्याध्यायस्योपनिषद्यन्तर्भावासंभवात्। आथर्वणिकानामुपनिषत्सन्निधावाम्नाता अपि '**सर्वं प्रविध्य**'[1] इत्यादय आभिचारिकमन्त्रा यथा नोपनिषद्यन्तर्भवन्ति तद्वत्। एतच्च तृतीयाध्याये तृतीयपादस्य चतुर्थाधिकरणे चिन्तितम्।

वैद्यमन्त्रप्रवर्ग्यादिविद्याङ्गमथवा न तु।
विद्यासंनिधिपाठेन विद्याङ्गं मन्त्रकर्मणि ॥
लिङ्गे नान्यत्रमन्त्राणां वाक्येनापि च कर्मणाम्।
विनियोगात्संनिधिस्तु बाध्योऽतो नाङ्गता भवेत् ॥[2]

आथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे '**सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य**' इत्यादय आभिचारिकमन्त्राः पठिताः। काण्वानामुपनिषदादौ प्रवर्ग्यब्राह्मणं पठितम्।[3] एवमन्यत्राप्युदाहर्तव्यम्। तत्र विद्यासन्निधिवशान्मन्त्रकर्मणोवि(र्वि)द्याङ्ग[त्वमिति] प्राप्ते ब्रूमः। हृदयवेधादिमन्त्राणां

---

[1] द्र. ब्र. सू. शां. भा. ३-३-२५

[2] ब्र. सू. न्या. पृ. ७११

[3] द्र. ब्र. सू. शा. भा. ३-३-२५

लिङ्गादभिचारकर्मणि विनियोगः । प्रवर्ग्यस्य च पुरस्तादुपसदां 'प्रवर्ग्यं ...प्रवृणक्ति'[१] इत्यग्निष्टोमे विनियोगो दृश्यते । लिङ्गवाक्ये च सन्निधेर्बलीयसी इति पूर्वकाण्डे श्रुतिलिङ्गाधिकरणे व्यवस्थापितम्, तस्मान्न विद्याङ्गत्वं मन्त्रकर्मणोः ।

उक्तस्य मन्त्राध्यायस्योपनिषत्त्वाभावाद् 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इत्येष एवोपनिषद उपक्रमः । योगशास्त्रे 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' [यो. सू. १-२४] इति सूत्रेणेश्वरं प्रकृत्य 'तस्य वाचकः प्रणवः' [यो. सू. १-२७] इति सूत्रेणेश्वरप्रणवयोर्वाच्यवाचकभाव उक्तः । तथा सत्यत्र यदि 'ओमुद्गीथमुपासीत' इत्येतावदेवोच्यते तदानीमोश्वर उपासितव्य इति वाक्यार्थे सत्युद्गीथमिति विशेषणं न संगच्छेत । तस्मादोंकारेणात्र वाच्यार्थो न विवक्षितः । किन्तु वाचकस्योंकारस्य शब्दस्वरूपमात्रं विवक्षितमिति दर्शयितुम् 'इत्येतदक्षरम्' इत्युक्तम् । तस्य त्वक्षरस्योद्गीथशब्देन सामभागवाचिना विशेष्यतं(त्वं ?) न्यायसिद्धम् । स च न्यायस्तृतोयाध्यायस्य तृतीयपादे चतुर्थाधिकरणेऽभिहितः ।

किमध्यासोऽथवा बाध ऐक्यं वाथ विशेष्यता ।
अक्षरस्यात्र नास्त्यैक्यं नियतं हेत्वभावतः ॥
वेदेषु व्याप्त ओंकारः उद्गीथे[न] विशेष्यते[२] ।
अध्यासादौ फलं कल्प्यं सन्निकृष्टांशलक्षणा ॥[३]

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इति अक्षरोद्गीथयोः सामानाधिकरण्यं श्रूयते । तत्र चतुर्धा संशयः । तथा हि 'नाम (मनो) ब्रह्मत्युपासीत' [छा. उप. ३-१८-१] इत्यत्र नास्ति ब्रह्मदृष्ट्याध्याससामानाधिकरण्यं श्रुतम् । तथा बाधादिष्वप्युदाह्रियते । यश्चोरः स स्थाणुरिति चोरत्वस्य बाधः, यो जीवस्तद्ब्रह्मेत्येकत्वम्, यन्नीलं तदुत्पलमिति विशेष्यता । अक्षरस्य चतुर्धा संदेहे सति इदमेवेत्यत्र नास्त्यध्यवसायः । नियामकस्य हेतोरभावादिति प्राप्ते ब्रूमः । अक्षरस्योद्गीथेन विशेष्यता नियन्तुं शक्यते । ओंकारो हि ऋग्यजुःसामसु त्रिषु पठयते । तत्र कस्योपास्यत्वमित्यपेक्षायामुद्गीथभागगतस्य न त्वितरस्येति सामवेदगतस्य विशेषणीयत्वात् । अध्यासबाधैक्यपक्षेषु फलमपि कल्पनीयं प्रसज्येत

---

[१] द्र. अथ प्रवर्ग्यमुत्सायत्याप्त्वा तं कामं यस्मै कामयैनं प्रवृणक्ति । –मा. श. ब्रा. ९-२-१-१८

[२] विशिष्यते–मुपा. ब्र. सू. न्या. पृ. ६८६

[३] ब्र. सू. न्या. पृ. ६८६

स्वतन्त्रोपासनत्वेन फलस्याकांक्षितत्वात् । विशेषणपक्षे तु वक्ष्यमाणरसतमत्वादिगुणोपासनाय प्रतीकत्वेनोंकार उद्गीथेन विशेष्यते न तु स्वतन्त्रमुपासनं ततोऽत्र पृथक् फलं [न] कल्पनीयम् ।

ननूगीथशब्दः कृत्स्नभक्तिवाचकः, ओंकारस्तु तदवयवः । अत ओंकारं विशेष्टुमुद्गीथशब्देन तदंशलक्षणा स्वीकरणीया स्यात् । बाढम् । तथाप्यध्यासपक्षात्समीचीनो विशेषणपक्षः । अध्यासपक्षे तु यथा विष्णुशब्दः स्वार्थं सर्वं परित्यज्यार्थान्तरभूतां शिलाप्रतिमां लक्षयति । तथोद्गीथशब्दोऽपीति विप्रकर्षः । अंशलक्षणायां तु स्वार्थैकदेशस्यैव परित्याग इति सन्निकर्षः । ओंकारादितराक्षरजातं परित्यक्तव्यं तदेकदेशः । तस्माद्वेदान्तरगतोंकारव्यावृत्यर्थमुद्गीथावयवत्वेनेदमक्षरं विशेष्यते ।

हिंकारप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारनिधनाख्याभिः पञ्चभिर्भक्तिभिरुपेतस्य साम्नो या तृतीयाभक्तिः सेयमुद्गीथशब्दवाच्या । तस्योद्गीथस्य प्रथमावयवभूतमोमित्येतदक्षरं वक्ष्यमाणरसतमत्वादिगुणविशिष्टेनोपासीत । उपासनं नाम विजातीयप्रत्ययान्तरितः सजातीयप्रत्ययप्रवाहः ॥

उपास्याक्ष[र]स्योद्गीथावयवत्वमर्थवादवाक्येन विशदयति—

ओमिति ह्युद्गायति ॥

ओमिति ॥ हिशब्दः प्रसिद्धिद्योतनार्थः । उद्गाता स्वकीयया उद्गीथभक्तेराद्यं ॐकारमुच्चार्योद्गायतीति प्रयोगाभिज्ञेषु प्रसिद्धम् ॥

ॐकारस्य गुणान् रसतमत्वादीनुपास्यत्वेन प्रतिपादयति—

तस्योपव्याख्यानम् ॥ [१] एषां भूतानां पृथिवी रसः । पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥ [२] स एष रसानांꣳ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥ [३] ॥

तस्येति ॥ तस्याक्षरस्य उपव्याख्यानम् । एवमुपासनमेवं विभूतिरेवं फलं चेत्यादिकथनं वर्तत इति शेषः । एषां स्थावरजङ्गमानां भूतानां प्राणिनां संबन्धिनी पृथिवी । तच्छरीरारम्भकत्वाद्रसः सार इत्युच्यते । पृथिव्या सम्बधिन्य आपो नदीतटाकादिनिष्ठा[ः] स्नानपानाद्युपयोगेन जलरहितभूप्रदेशात्सारभूताः । अपां संबधिन्य

ओषधयस्ताभिरद्भिर्वर्धिताः सत्यः क्षुन्निवारकत्वात्ताभ्योऽद्भ्यः सारतराः । ओषधिसंबन्धी पुरुषोऽन्नेनाभिवर्धितश्चेतनत्वादोषधीभ्यः सारतरः । पुरुषस्य संबन्धिनी वाक् सभायामभिवदत्वहेतुत्वान्मूकात्पुरुषात्सारतरा । वाचः संबन्धिन्यृक् सुकृतहेतुत्वाल्लौकिकवाग्व्यापारात्सारतरा । ऋचः संबन्धि साम सप्तस्वरोपेतं श्रवणसुखकारित्वाद्देवतानां विशेषेण तुष्टिहेतुत्वाद्बहुविधभृत्यमध्यवर्ति राजवदितरव्यक्तिभ्योऽतिशयेन सारभूतम् । तादृशोद्गीथभक्त्यवयव ॐकारस्तु वक्ष्यमाणप्राणादित्यादिबहुविधदेवताबुद्ध्यवलंबनत्वादतिशयेन सारभूत इति किमु वक्तव्यम् । तस्माद्यदुद्गीथो य एष उद्गीथावयव ॐकारः स एष रसानां पृथिव्यादीनामुत्तरोत्तरमतिशयेन साराणां मध्ये अष्टमोऽष्टसंख्यापूर्णः । अतो रसतमः सारतमः परममुत्कृष्टः सारत्वतारतम्यस्य पर्यवसानभूमिरित्यर्थः ।

परार्ध्यः, अर्ध्यं स्थानम् । परं च तदर्धं च परार्धं तदर्हतीति परार्ध्यः । ईश्वरो यथोपास्यस्तद्वदोंकारोऽप्युपास्यः । तस्मात्तस्योत्कृष्टस्थानार्हत्वम् । अत्रोक्तस्य रसतमत्वगुणस्य ध्येयत्वं तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे तृतीयाधिकरणे चिन्तितम् ।

स्तोत्रं रसतमत्वादि ध्येयं वा गुणवर्णनात् ।
जुहूरादित्य इत्यादाविव कर्माङ्गसंस्तुतिः ॥
भिन्नप्रकरणस्थत्वान्नाङ्गविध्येकवाक्यता ।
उपासीतेति विध्युक्तेर्ध्येयं रसतमादिकम् ॥[१]

उद्गीथावयवस्योंकारस्य रसतमत्त्वादयो गुणाः श्रूयन्ते । **'स एष रसानां रसतमः परमः'** इत्यादिना तत्र रसतमत्वादिकं ओंकारस्य स्तुतिः । न तु ध्यातव्यम् । यथा **'इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गोलोकः'**[२] इत्यादौ कर्माङ्गभूतायाः जुह्वा आदित्यादिरूपेण स्तुतिः । तथा रसतमत्वादिगुणैः ॐकारस्य स्तुतिरिति प्राप्ते ब्रूमः-विषमो दृष्टान्तः । **'जुहूरादित्यः'** इत्यादिकं जुहोर्विधिप्रकरणे पठितत्वात् स्तोत्रमस्तु । रसतमत्वादिकं तूपनिषदि पठितत्वेन कर्मप्रकरणपठितोद्गीथविधिवाक्यैनैकवाक्यत्वाभावान्न स्तावकं किन्तु **'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'** इति संनिहितेन विधिनैकवाक्यत्वात् रसतमत्वादिकं ध्यातव्यम् ॥

रसतमत्वगुणवद् ध्यातव्यं कामप्रापकत्वगुणं विधा(नं) विमर्शनिरूपणमिथुनतत्संयोगतत्फलप्रतिपादकैः पञ्चभिरर्थवाक्यैस्तद्गुणमुद्भावयति—

---

१. ब्र. सू. न्या. पृ. ७९६

२. द्र. ब्र. सू. शां. भा. ३-४-२१, तुल. मा. श. ब्रा. ७-५-१-६

कतमा कतमर्क्कतमत् कतमत् साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ।। [४] वागेवर्क्, प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथस्तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्चर्क्च साम च ।। [५] तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ।। [६] ।।

कतमेति ।। अर्थवादादिभागयुक्ता मंत्रा ऋच इति प्रसिद्धत्वात् ऋक्तन्त्रेषु मुख्यं तदुच्चारणकारणभूतायां वाचि पादादिभागेषु चौपचारिक ऋक्शब्दः । तथा सति मुख्यानामितरासां च मध्ये कतमात्र कामप्रापकत्वगुणोद्भावनायोपयुक्ता । कतमेति पदस्य द्विरुक्तिरादरार्था । सामशब्दो गीतौ मुख्यः, तदवयवेषु गीत्युत्पादकबलकरप्राणे चौपचारिकः । उद्गीथशब्दः साम्नो मध्यमभागे मुख्यः, तदवयवेष्वौपचारिकः । अन्यत्पूर्ववद्व्याख्येयम्, इति विमृष्टं भवति । कामप्रापकत्वगुणमुद्भावयद्भि[:] पुरुषैरनेन प्रकारेण विमर्शो विचारः कृतो भवति । सोऽयं विमर्शवाक्यस्यार्थः । वाक् प्राणाक्षररूपा, औपचारिका ऋक्सामोद्गीथा इह विवक्षिता इति निरूपणवाक्यस्यार्थः । ऋक् च प्राणश्चेति द्वयं यदस्ति तदेवैतदत्रोचितं मिथुनं स्त्रीलिङ्गपुंलिङ्गवाच्यत्वान्मिथुनत्वोपचारः । तावेव ऋक्प्राणौ ऋक्सामशब्दाभ्यां विशेष्येते तत्कारणत्वेन तद्रूपावित्यर्थः । ततो मिथुनद्वयशंकानुदयान्मिथुनमित्येकवचनं न विरुध्यते । अनेन वाक्येन संपादितं यद्वाक्प्राणात्मकं तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे संसृष्टं भवति । ॐकारगानकाले शब्दोच्चारणाय गानोत्पादकबलाय च वाक्प्राणयोर्मेलनात् । अनेन वाक्येनोदितस्य मिथुनसंसर्गस्य फलं लौकिकदृष्टान्तेन स्पष्टीक्रियते-यदा मिथुनौ लौकिकमिथुनावयवौ स्त्रीपुरुषौ समागच्छतो ग्राम्यधर्मार्थं संगतौ भवतस्तदा तौ स्त्रीपुरुषावन्योन्यस्य काममभिलषितं सुखं प्रापयतः । यथा प्राप्तं भवति तथा कुरुतः । लौकिकमिथुनसंसर्गवदोंकाररूपमिथुनसंसर्गोऽपि यजमानस्य कामप्रापक इति वाक्यस्य तात्पर्यार्थः ।।

एतद्गुणध्यानस्य फलमाह-

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ।। [७] ।।

आपयितेति ।। यः पुमानुद्गाता भूत्वा एतदोंकारस्य कामप्रापकत्वगुणोद्भावनमेवमुक्तेन प्रकारेण शास्त्रमुखाद्विद्वानुद्गीथावयवभूतमोमित्येतदक्षरं यथोक्तगुणोपेतमुपास्ते स उद्गाता यजमानस्य कामानां प्रापयिता भवति ।।

यथा कामप्राप्तिगुण उद्भावितस्तथैव कामसमृद्धिगुणमुद्भावयति—

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किं चानुजानात्योमित्येव तदाह एषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा । समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ [८] ॥

तद्वेति ॥ यद्क्षरं रसतमत्वप्रापकत्वगुणोपेतमुक्तं तदेवेतदोमित्यक्षरमनुज्ञारूपं कथमिति चेत्, तदुच्यते । केनचित्पुरुषेण यत्किञ्चिदुक्तं तद्यदा परोऽङ्गीकर्तुमिच्छति तदानीमङ्गीकारवाचिनं ओमित्येतादृशमेव शब्दमुच्चारयति । हि शब्दः प्रसिद्धिद्योतनार्थः । काण्वानां शाकल्यब्राह्मणे याज्ञवल्क्यो यां यां देवविषयां संख्यां ब्रूते तां सर्वां शाकल्य ओंकारेणैवाङ्गीचकार । तथा च श्रूयते—'**त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योम्**' [बृ. उप. ३-९-१] इति । होवाचेत्यादि लोकेऽपि व्रीहीयवादिसमृद्धियुक्तः पुरुषो निधने विप्रादिभिर्याचितं व्रीह्यादिकमोमित्यनेन शब्देनाङ्गीकृत्य ददाति । ततो यदनुज्ञा येयमोंकारवाच्यानुज्ञा सैव समृद्धिरूपा उ एवेति निपातद्वयं समुच्चित्यावधारणं ब्रूते । यस्य समृद्धिर्नास्ति नासौ परैर्याचितं तदनुजानाति सत्यां तु समृद्धावनुजानाति । तस्मादनुज्ञावाचक ओंकारः समृद्धिगुणकः । फलवाक्यं पूर्ववद्योज्यम् ॥

ओंकारोपासने पुरुषप्रोचनार्थमोंकारं प्रशंसति—

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शꣳसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै ॥

तेनेयमिति ॥ यदृग्यजुः सामाख्यवेदत्रयरूपा विद्या तेनोंकारेणोपकृता वर्तते वेदत्रयविहितानां कर्मणामोंकारोच्चारणपूर्वकमनुष्ठीयमानत्वात् । तथा हि यजुर्वेदविहितं कर्मानुतिष्ठन्नध्वर्युर्हविःप्रदानकालोऽयमिति देवान् श्रावयितुमाग्नीध्रं प्रत्योमाश्रावयेति प्रैषमन्त्रं पठति । सोमयागे शंसनमृग्वेदविहितमुद्गानं च सामवेदविहितमनुतिष्ठन् होता चोद्गाता चोभावोमित्युच्चार्य अनुतिष्ठतस्तदेतत्सर्वमोंकारस्यैवोपचित्यै पूजायै संपद्यते । इत्थं प्रशस्तोऽयमोंकार इति हि तस्य पूजा । तया च तच्छब्दवाच्यस्येश्वरस्य पूजायां सत्यां पूजकस्याभीष्टसिद्धिर्भवति । '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।**' [भ. गी. १८—४६] इति स्मृतेः ॥

रसतमकामप्राप्तिकामसमृद्धिगुणविशिष्टत्वादोंकारस्य यदुपासनमुक्तं तदेतदाक्षिपति—

महिम्ना रसेन ॥ [९] तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद ॥

महिम्ना इति ॥ महिम्ना महता रसेन पूर्वोक्तरीत्या रसतमेनेत्यर्थः । तेन तथाविधेनोंकारेणोभावपि पुरुषावुद्गानरूपं कर्म कुरुतः। कौ तावुभाविति चेत्, उच्यते। यः पुमानेतदक्षरमेवमुक्तेन प्रकारेण वेदोपास्ते यश्च न वेद नोपास्ते । चकारौ कर्मकर्तृत्वे तयोरुभयोः समुच्चयार्थौ । यथा हरीतकीं भक्षयितुस्तदीयमहिमाभिज्ञानभिज्ञयोर्विरेचनं समानं तथैवोपास्तितदभावयोः कर्मानुष्ठानेन फलं भवत्येव, अनुपासकस्योद्गातुः कर्मानुष्ठानप्रवृत्तिरुत्तरत्रोषस्त्युपाख्याने श्रूयते । अनुपासकस्याप्यनुष्ठानसंभवे सति किमनेनोपासनाप्रयासेनेत्याक्षेपाभिप्रायः । अत्र महिम्नां रसत्वेति शाखान्तरपाठः । तस्मिन्पाठे पदद्वयं पूर्ववाक्यस्यैव शेषः। तयोश्च पदयोरयमर्थः–पूर्वोक्ता भूतपृथिव्या ओषधिपुरुषादयः पदार्थाः परमेश्वरस्य महिमानः, तेषां मध्येऽतिशयेन रसत्वमोंकारस्योक्तम् ॥

तेनापचितियोग्यमक्षरस्यापचित्यर्थमित्युक्तमाक्षेपं परिहरति–

नाना तु विद्या चाविद्या च । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति ॥

नाना इति ॥ तुशब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः । उपासनं व्यर्थमित्ययं पक्षो न संगच्छते। कुतः । यस्माद्विद्या चाविद्या च नाना उपास्तितदभावौ विलक्षणफलोपेतौ । कथमिति चेत्, उच्यते। विद्यया यथोक्ताङ्गावबद्धोपासनेन श्रद्धया तद्विषयास्तिक्येन उपनिषदा योगेनैकाग्र्यलक्षणेन चोपेतः सन् यदेव कर्म करोति तदेव कर्मोपासनरहितात्कर्मणोऽतिशयेन वीर्यवद्भवति । श्रुत्युक्तस्य कर्मफलस्य समृद्धिरुपासनस्य फलं यथा मणिविक्रयं कुर्वतोर्वणिक्शबरयोर्मणिमहिमाभिज्ञेन वणिजा[फल]मधिकं लभ्यते तद्वदित्यर्थः । इतिशब्द उपास्ति समाप्त्यर्थः ।

सोपास्तिनिरुपास्त्योः कर्मणोः फलतारतम्यं चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे त्रयोदशाधिकरणे चिन्तितम् ।

किमङ्गोपास्तिसंयुक्तमेव विद्योपयोग्युत ।
केवलं वा प्रशस्तत्वाच्चोपास्त्ये[1]वोपयुज्यते ॥
केवलं वीर्यवद्विद्यासंयुक्तं वीर्यवत्तरम् ।
इति श्रुतेस्तारतम्यादुभयं ज्ञानसाधनम् ॥[2]

---

[1] ०त्वात्सोपास्त्ये० –मु. पा.

[2] ब्र. सू. न्या. पृ. ८५२

विद्यासाधनं वेद्यं कर्म द्विविधं संभाव्यते । अङ्गावबद्धोपास्तिसहितं तद्रहितं च । तत्र सोपासनस्य कर्मणः प्रशस्तत्वात् तदेव विद्यासाधनं न तु(तू)पास्तिरहितमिति ब्रूमः । **'यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति'** [छां. उप. १-१-१०] इति श्रुतिः । सोपासनस्य कर्मणोऽतिशयेन वीर्यमस्तीति वदन्ति । निरुपासनस्यापि वीर्यमात्रमता(तोऽ)नुजानाति, अन्यथा तरप्रत्ययानुपपत्तेः । तस्मात्सोपासननिरुपासनयोस्तारतम्येन विद्यासाधनत्वम् ॥

पूर्वोक्तोपासने रसतमत्वादिगुणान्भावयितुमोमित्यक्षरं प्रतीकत्वेनाम्नातम् । अथोत्तरेष्वप्युपासनेषु प्राणादित्याभावनार्थं तस्यैवाक्षरस्य प्रतीकत्वं प्रतिजानीते—

खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ [१०] ॥

मुखेन बहूच्छ्वासनिश्वासँकुर्वन् उपलभ्यमानो वायुर्मुख्यः प्राणः । तमेव प्राणमुद्गीथावयवभूतमोंकारमुपासीत । ओंकारे प्राणदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः । तस्य मुख्यप्राणस्यासुरैर्वागादिभिः प्राणैः सह गुणदोषविचाररूपमुपव्याख्यानमुपरि[त]ने खण्डे भवति ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशने उपनिषद्व्याख्याने
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥

*

अथ प्राणध्यानमोंकारे विधातुं प्राणस्य निर्दोषत्वप्रतिपादकमुपाख्यानमाह—

देवासुरा ह वै यत्र संय(ये)तिरे । उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥ [१] ॥

'देवासुरेति [॥ अत्र ज्ञानकर्माधिकारी पुरुषः कालान्तरे प्रजापतिर्भविष्यतीत्यभिप्रेत्य भाविनीं संज्ञामाश्रित्य प्रजापतिशब्देन विवक्ष्यते । तस्यापत्यस्थानीया इन्द्रियवृत्तिविशेषादुभये द्विविधाः । के ते देवाश्चासुराश्च, परलोकार्थं यथाशास्त्र प्रवर्तमानत्वेन दीव्यन्ति द्योतन्त इति सात्विकवृत्तयो देवाः परलोकचिन्तामकृत्वा देहादिपोषणमात्रेणासुषु प्राणेषु रमन्त इत्यसुरास्तामसवृत्तयः । ते देवासुरा एकस्मिन्पुरुषे वर्तमानाः परस्पराभिभवार्थं संयेतिरे युद्धं कृतवन्तः । 'सम्' पूर्वो यततिधातुर्युद्धार्थः ।

ह वै शब्दौ प्रसिद्धिद्योतकौ। सर्वेषु पुरुषेषु प्रतिदिनं पर्यायेण परलोकविषये आस्तिक्यनास्तिक्ये प्रसिद्धे । युद्धस्य चेतनधर्मत्वेऽपीन्द्रियवृत्तिषु तदुपचर्यते । यद्वा तत्तद्वृत्त्यभिमानिदेवतानां युद्धं द्रष्टव्यम् । एतदेवाभिप्रेत्य भगवता व्यासेन सूत्रितम्–'**अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्**' [ब्र. सू. २-१-५] इति । यत्र यदा देवासुराः संयेतिरे तद्ध तदा देवा उद्गीथं ध्यातव्यं भक्त्यद्व(व)यवमोंकारमाजह्रुरानीतवन्तः, ध्यातुं निश्चितवन्त इत्यर्थः । अनेनोंकारध्यानेन एनानसुरानभिभवितुं शक्ष्याम इति देवानामभिप्रायः ।।

न खलु ध्याननिष्ठे पुरुषे तामसेन्द्रियवृत्तीनां रागद्वेषादिरूपाणामवकाशोऽस्ति, ओंकारे मुख्यप्राणविधित्सया तत्प्रशंसार्थमिन्द्रियान्तराणां ध्यानयोग्यतां निराचिकीर्षुः श्रुतिरादौ घ्राणेन्द्रिये दोषमुपन्यस्यति–

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तꣳहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ।। [२] ।।

ते ह नासिक्यमिति ।। नासिकायां भवः प्राणो घ्राणेन्द्रियम् । सर्वेषामिन्द्रियाणां प्राणशब्दाभिधेयत्वं पञ्चमाध्याये वक्ष्यते । नासिक्यमिन्द्रियमुपासांचक्रिरे । ओंकारे घ्राणेन्द्रियदृष्टिं कृतवन्त इत्यर्थः। तं ह तमेव नासिक्यं प्राणमसुरा आयुधसदृशेन पाप्मना विषयासक्तिलक्षणेन विद्धवन्तः । सुगन्धमेवाघ्रातुमासक्तिरासीदित्यर्थस्तस्मादासुरपापवे(वि)धातेन घ्राणेन्द्रियेन सुगन्धदुर्गन्धोपेतं वस्तुद्वयं लोको जिघर्ति । हि यस्मादेष नासिक्यः प्राणः पाप्मना विद्धस्तस्माद्दुर्गन्धाघ्राणं विशेषणं संपद्यते । तथा हि लोके राजामात्यादयश्चतुरा धनिकाः सुगन्धासक्त्या दुर्गन्धलेशमप्यसहमानास्तत्परिहाराय भोज्ये घृतादौ स्वदेहे कलत्रपुत्रदेहादिषु च परिहर्तव्यस्य दुःखस्यान्वेषणमतिप्रयत्नेन कुर्वन्तो यत्र क्वापि दुर्गन्धलेशं लभमानाः सर्वदा क्लिश्नन्ति । तदन्वेषणरहिता मुग्धा बालाः पशवश्च न तथा क्लिश्नन्ति । एतमेव न्यायं भट्टाचार्याश्चिकीर्षया एवमाहुः–

न चात्रातीव कर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः ।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ।।[1]

इति ।।

---

[1] कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्तिक १-१-४

वाक्चक्षुःश्रोत्रमनसामपि घ्राणवदासुरपापवेधं दर्शयति—

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । ताꣳहासुराः पाप्मना विविधुः । तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा॥ [३] अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च । पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ [४] अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳशृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च । पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ [५] अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्धासुरा पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं संकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च । पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ [६] ॥

अथ ह वाचमिति ॥ सत्यानृते प्रसिद्धे दर्शनीयं मणिमुक्तदेवतादि अदर्शनीयमुच्छिष्टादि, श्रवणीयं श्रुतिस्मृतिपुराणादि अश्रवणीयमधिक्षेपादि, संकल्पनीयं धर्मानुष्ठानकुटुम्बपोषणादि, असंकल्पनीयं परद्रव्यापहारादि । अन्यत्पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

इदानीमोंकारे मुख्यप्राणदृष्टिं दर्शयति—

अथ य[१] एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे ॥

अथ एवायमिति ॥ पूर्वोदाहृतशाखान्तरवाक्यवद्व्याख्येयम् ॥

असुरविनाशं सदृष्टान्तमाह—

तꣳहासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसेतैवम् ॥ [७] ॥

तं हासुराइति ॥ तमपि मुख्यप्राणमसुरा हासक्तिरूपेण पाप्मना वेद्धुमृत्वा प्राप्य शक्तिरहिताः सन्तः स्वयमेव विध्वस्ताः । कुदालकादिना खनितुं टङ्केन भेत्तुं च योऽशक्यः सोऽखनः, छान्दसेन वर्णविकारेण स एवाखणो भवति । तादृशमत्यंतदृढं पाषाणं भेत्तुं केनचिन्मंदमतिना बालेन प्रक्षिप्तः शिथिलो लोष्टः स्वयमेव स तथा

---

[१] अथ ह य—मुपा.

भिन्नो यथा विध्वंसते तथैवासुराः विनष्टाः । आसुरपापवेधाभावान्मुख्यः प्राण उपासितुं योग्य इति अभिप्रायः ॥

लोष्टस्येव शत्रोर्विनाशमुपास्तिफलत्वेनोपन्यस्यति—

यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसत एवꣳ हैव स विध्वꣳसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति ॥

यथाऽश्मानमिति ॥ यः शत्रुरेवंविदि प्राणोऽसुरविनाशक इत्येवमुपासिनि पुरुषे पापं कामयते वधादिकं मनसा चिन्तयति योऽप्यन्यः शत्रुरेनमुपासकमभिदासति धनापहाराद्युपद्रवेनोपक्षीणं करोति स शत्रुर्द्विविधोऽपि पाषाणप्रक्षिप्तलोष्टवद्विनश्यति ॥

ननु घ्राणेन्द्रियं गंधग्रहणायान्तःप्रविशन्तं निश्वासरूपं वायुमपेक्षते मुख्येऽपि प्राणे स निश्वासोऽस्ति । तथा सति घ्राणेन्द्रियात्को विशेषो मुख्यप्राणस्येत्याशंक्याह—

स एषोऽश्माखणः ॥ [८] नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानाति । अपहतपाप्मा ह्येषः ॥

स एष इति ॥ यो मुख्यप्राणः स एष खनितुमशक्यः प्राणस्तत्सदृश इत्यर्थः । एतेन मुख्यप्राणेन कश्चिदपि पुरुषः सुरभिद्रव्यं चम्पककेतक्यादिरूपं नैव विजानाति । दुर्गन्धि च लशुनादिकं [न] जानाति । हि यस्मादेष मुख्यप्राणोऽपहतपाप्मा विषयासक्तिरहितस्तस्मान्निश्वासमात्रसाम्येऽप्यस्ति महान्विशेषः ॥

किं चाशेषरक्षाहेतुत्वादपीन्द्रियेभ्योऽसौ श्रेष्ठ इत्याह—

तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्प्राणानवति ॥

तेन यदिति ॥ तेन मुख्यप्राणेन भोज्यादिद्रव्यस्य निगरणं कुर्वन् जन्तुर्यदन्नमश्नाति यच्चोदकं पिबति तेनाशितेन पीतेन स जन्तुरितरान्वागादीन् प्राणानवति रजति । तदेव प्राणस्येतररजकत्वं व्यतिरेकमुखेन दृढीकरोति । स यदश्नातीति शाखान्तरपाठः । तत्र स प्राण इति व्याख्येयम् ॥

एतमु एवान्ततोऽवित्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ॥[९]॥

एवमु एवेति ॥ अन्ततोऽन्ते मरणकाले वागादीन्द्रियसंघ एतमु एव मुख्यमेव प्राणमवित्वावपुष्य लब्ध्वा स्वयमप्युत्क्रामति वपुषो निर्गच्छति । अत एव रक्षकाभावा-

दन्ततोऽन्तकाले व्यवदात्येव देहो मुखं विदार्यैव विकृतोऽवतिष्ठते । इति शब्दो मुख्यप्राणस्य श्रेष्ठत्वनिर्णयसमाप्त्यर्थः ॥

प्राणदृष्टिमोंकारे कुर्यादित्ययं विधिरनेन देवासुरोपाख्यानेन विवक्षितः । उपाख्यानस्य विद्यार्थत्वं तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे चतुर्थाधिकरणे चिन्तितम्—

पारिप्लवार्थमाख्यानं किं वा विद्यास्तुतिः स्तुतेः ।
ज्यायोनुष्ठानशेषत्वं तेन पारिप्लवार्थता ॥
मनुर्वैवस्वतो राजेत्येवं तत्र विशेषणात् ।
अत्र विद्यैकवाक्यत्वभावाद्विद्यास्तुतिर्भवेत्[1] ॥

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः' [बृ. उप. ४–५–१] **'जनको ह वैदेह आसांचक्रे'** [बृ. उप. ४–१–१] इत्यादिकमुपनिषदि श्रूयमाणमाख्यानं पारिप्लवार्थं[2] भवितुमर्हति । अश्वमेधयागे रात्रिषु राजानं सकुटुम्बमुपवेश्य तस्याग्रे वैदिकान्युपाख्यानान्यध्वर्युणा वक्तव्यानि । तदिदं पारिप्लवाख्यं कर्म **'पारिप्लवमाचक्षीत''** [आ. श्रौ. सू. १०–६–१०] इति वाक्येन विहितं तदर्थत्वे[3] सत्यौपनिषदाख्यानान्यनुष्ठानायोपयुज्येरन्, ज्यायोनुष्ठानं विद्यास्तुतेः । तस्मात्पारिप्लवार्थमिति प्राप्ते ब्रूमः— **'प्रथमेऽहनि मनुर्वैवस्वतो राजा'** [शां. श्रौ. सू. १६–२–१] **'द्वितीयेऽहनि यमो वैवस्वतो राजा'**[4] इत्याद्याख्यानानां परिप्लवार्थानां विशेषितत्वात्, औपनिषदानामाख्यानानां तच्छ्रेयस्वं(स्त्वं) न संभवति । सन्निहितविद्यास्तावकत्वे तु विद्यावाक्यैकवाक्यता लप्स्यते । तस्माद्विद्यास्त्वा(स्ता)वकमाख्यानम् । एतस्मात्प्राणध्यानाद्बृहदारण्यकोक्तस्य प्राणध्यानस्य भिन्नत्वं तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे तृतीयाधिकरणे चिन्तितम्—

एका भिन्नाथवोद्गीथविद्या छन्दोग[5]काण्वयोः ।
एका स्यान्नामसामान्यात्संग्रामादिसमत्वतः ॥
उद्गीथावयवोंकार उद्गातेत्युभयोर्भिदा ।
वेद्यभेदेऽर्थवादादिसाम्यमत्राप्रयोजकम्[6] ॥

---

१. ब्र. सू. न्या. पृ. ७९९

२. अश्वमेधे पुत्रादिपरिवृताय राज्ञे पारिप्लवमाचक्षीतेति नानाविधाख्यानकथनात्मकः पारिप्लवप्रयोगो विहितः । –रत्नप्रभा, ब्र. सू. ३–३–२३

३. द्र. श. ब्रा. १३–४–३–३, ब्र. सू. शां. भा. २–३–२३

४. द्र. श. ब्रा. १३–४–३–६

५. छान्दोग्य० – मु.पा., द्र. ब्र. सू. न्या. पृ. ६८०

६. ब्र. सू. न्या. पृ. ६८०

उद्गीथविद्येति सामाख्याया एकत्वात् छन्दोगकाण्वशाखयोर्विद्यैक्यमुचितम् । अथ सामाख्या न श्रौती तथापि श्रौताः संग्रामादयः उभयत्र सममाह । तथा हि-छान्दोग्ये देवासुरभावं क्रमेण सात्त्विकेन्द्रियवृत्तीनां तामसेन्द्रियवृत्तीनां चाङ्गीकृत्य तत्संग्रामं निरूप्य वागादिदेवानामसुरविद्धत्वमुक्त्वा प्राणदेवस्यैकस्यैव तदविरुद्धत्वमुक्तम् । एतत्सर्वं काण्ववेदेऽपि समानम् । तस्मादुभयत्र विद्यैक्ये प्राप्ते ब्रूमः-भिन्नेयमुद्गीथविद्या वेद्यस्वरूपस्य भिन्नत्वात् । छान्दोग्ये तावत्सामभागविशेषस्योद्गीथस्यावयवो य ओंकारः स एव प्राणदृष्ट्योपासनीयः । काण्ववेदे तु कृत्स्नोद्गीथभक्तेर्योऽङ्गान्तर्वागिन्द्रियप्रेरकः प्राणः स उद्गातृत्वेनोपास्य इति वेद्यभेदः । यत्तु संग्रामादिसाम्यमुक्तं तदप्रयोजकम्, अर्थवादत्वात् । यद्यपि प्राणस्यासुरविद्धत्वाभावेन श्रेष्ठत्वं तद्यद्युपास्यं तथाप्युक्तस्य वेद्यभेदस्यानिराकरणाद् भिन्नैवोद्गीथविद्या ॥

ओंकारे भावना यस्य प्राणस्याङ्गिरसस्तद्धि(द् ?)गुणविधिमर्थवादेनोद्भावयति-

तꣳहाङ्गिरा उद्गिथमुपासांचक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥ [१०] तेन ॥

[**तं हाङ्गिरेति** ।।] तमेव प्राणमङ्गिरोनामको मुनिरुपासितवान् । तस्मादुपासकयोरभेदोपचारेणेदानींतना उपासका एतमेव प्राणमङ्गिरोनामकं मन्यन्ते ध्यायन्ति । अन्योऽपि तथा ध्यायेदित्यभिप्रायः, न केवलमभेदोपचारः । किं तर्हि निर्वचनमप्यस्ति-यद्यस्मादप्ययं प्राणोऽङ्गानामितरावयवानां वागादीनां मध्ये रसः सारभूतस्तेन कारणेनाङ्गानां रस इति विग्रहे सत्यङ्गिरोनामको भवति ॥

तथैव बृहस्पतिनामकत्वमयास्यनामकत्वं चोद्भावयति-

तꣳ ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्र एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः ॥ [११] तेन तꣳहायास्य उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवाऽयास्यं मन्यन्ते आस्याद्यदयते ॥ [१२] तेन ॥

[**तं ह बृहस्पतिरिति** ॥] ऋग्वेदादिरूपेण प्रभूतत्वाद्वाचो बृहतीत्वं तदुच्चारणाय शारीरबलहेतुत्वात्प्राणस्तत्पतिर्यद्यस्मात्प्राण आस्यान्मुखादयते गच्छति श्वासरूपेण सञ्चरति तेनासावयास्यनामकः । शाखान्तरे त्वयास्यवाक्यं पूर्वभावि बृहस्पतिवाक्यं पश्चाद्भवतीति विशेषः ॥

अस्य प्राणध्यानस्योद्गातैव कर्ता न तु यजमान इत्येतद्दर्शयति–

तꣳह बको दाल्भ्यो विदांचकार । स ह नैमिशीयानामुद्गाता बभूव । स ह स्मैभ्यः कामानागायति ॥ [१३] ॥

[**तं ह बक इति** ॥] दल्भस्य पुत्रो बकनामकस्तमेव प्राणमुपासितवान्स एवोपासको नैमिशारण्ये सत्रमनुतिष्ठतामृषीणामुद्गाता भूत्वा कामांस्तदपेक्षितानि फलान्येभ्य ऋषिभ्य ऋषिसंतोषार्थमागायति स । ध्यानसहितेनोद्गीथभक्तिमनेन सर्वतः संपादितवान् । बकवदन्यस्याप्युपासकस्य फलं दर्शयति–

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥

[**आगाता हेति** ॥] वक्ष्यमाण उपास्तिभागे बुद्धिसमाधानाय पूर्वस्योपास्तिभागस्य विशेषविषयं दर्शयति–

इत्यध्यात्मम् ॥ [१४] ॥

[**इत्यध्यात्ममिति** ॥] उक्तप्रकारोपेतप्राणध्यानमध्यात्मं लोकप्रसिद्धस्येन्द्रियदेहरूपमात्मानमधिकृत्य वर्तत इति द्रष्टव्यम् । ध्येयस्य प्राणस्य जीवदेहमध्यप्रापित्वं सर्वलोकप्रसिद्धम् ॥

॥ इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥

◆

उपासनगतस्योत्तरभागस्य विषयमुपन्यस्यति–

अथाधिदैवतम्[१] **॥ ॥**

[**अथाधिदैवतमिति** ॥] अ(आ)ध्यात्मिकप्राणदृष्टिकथनान्तरं दैवतमादित्यरूपमधिकृत्य वर्तमाना दृष्टिः कथ्यत इति शेषः ।

तामेव दृष्टिः विधत्ते–

य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत ॥

[**य एवेति** ॥] य एवादित्योऽस्माभिर्दिवि दृश्यमानस्तपति तद्दृष्टिमोंकारे कुर्यादित्यर्थः ॥

आदित्यं प्रशंसति—

उद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति ॥

---

१. अथाधिदैवम् – मु.पा.

[**उद्यन्वा एष इति** ॥] य एष आदित्य उद्यन्वै पूर्वस्यां दिश्युदयं गच्छन्नेव प्रजार्थमुद्गायति । धातूनामनेकार्थत्वात् सस्यादि(दीनि) पाकमयानि करोतीत्यर्थः संपद्यते । आदित्यकृतस्य संतापस्याभावे केवलेन शैत्येन सस्यं क्लिन्नं भवेत् । न तु पच्येत ॥

पुनः प्रकारान्तरेण प्रशंसति–

उद्यंस्तमोभयमपहन्ति ॥

[**उद्यन्निति** ॥] तदेतल्लोके प्रसिद्धम् ॥

एतद्गुणध्यानस्य फलमाह–

अपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥ [१] ॥

[**अपहन्तेति** ॥] भयं जन्ममरणादिलक्षणम् । भयहेतुभूतमज्ञानं तमः ॥

ओंकारे ध्यातव्ययोः प्राणादित्ययोरन्योन्यसाम्यमेकविद्योतनाय प्रतिजानीते–

समान[१] एवायं चासौ च ॥

[**समान इति** ॥] अथ प्राणश्च असावादित्यश्च वक्ष्यमाणगुणेन परस्परं समान एव ॥

एतदेव गुणसाम्यं दर्शयति–

उष्णोऽयमुष्णोऽसौ ॥

[**उष्णोऽयमिति** ॥] अयं प्राण उष्णः । अत एवोत्क्रान्तिपादे भगवान् व्यासः सूत्रयामास–‘**अस्यैव चोपपत्तेरेष उष्मा**’ [ब्र. सू. ४–२–११] इति । उपपत्तिश्च लोकप्रसिद्धा मरणवेलायामुष्णस्पर्शेन जीवनशेषनिर्गमात् । असावादित्य उष्ण इति तु प्रसिद्धम् ॥

पुनरपि साम्यान्तरं दर्शयति–

स्वर इतीममाचक्षते । स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुम् ॥

[**स्वर इति** ॥] स्वर इति मरणकाले गच्छतीत्येवमिमं प्राणं जनाः स्वर इत्याचक्षते अस्तमयार्थं पश्चिमदिशि गच्छति । पुनरप्युदयार्थं प्राच्यां दिशि प्रत्यागच्छति । तस्मात्स्वरो नाम उभयोः समानम् ॥

सति साम्ये फलितं दर्शयति–

तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत ॥ [२] ॥

---

१. समान उ–मु. पा.

[तस्मादिति ॥] यस्मादुभयोः साम्यमस्ति तस्मादेव कारणादेतमुद्गीथमोंकारे प्राणस्वरूपत्वमादित्यस्वरूपत्वं चापाद्यैकत्वमुपासनं कुर्यात् । अत्रोद्गीथमालम्बनम् । तस्मिन्प्राणादित्यदृष्टिर्न तु विपर्यय इत्येषोऽर्थश्चतुर्थाध्याये प्रथमपादस्य पञ्चमाधिकरणे चिन्तितः-

आदित्यादावङ्गदृष्टिरङ्गे रव्यादिधीरुत ।
नोत्कर्षो ब्रह्मजत्वेन द्वयोस्तेनैच्छिकी मतिः ॥
आदित्यादिधियाङ्गानां संस्कारे कर्मणः फले ।
युज्यतेऽतिशयस्तस्मादङ्गेष्वर्कादिदृष्टयः ॥१॥[1]

'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' [छा. उप. १-३-१] इत्यत्र आदित्यदेवतां प्रतीकं कृत्वा कर्माङ्गभूतोद्गीथदृष्टिः कर्तव्या । विपर्ययेण वा कर्माङ्ग आदित्यदृष्टिरादित्योद्गीथयोरुभयोर्ब्रह्मकार्यत्वेन पूर्वाधिकरणोक्तोत्कर्षन्यायावतारेण नियामकाभावादिति प्राप्ते ब्रूमः-आदित्यदृष्ट्या कर्माङ्ग संस्कर्तव्यम् । तथा सति दृष्टिभिः संस्कृतस्य कर्मणः फलातिशयसंभवात् विपर्यये तु कर्माङ्गैरादित्यदेवतायां संस्कृतायां किं तव फलिष्यति । न ह्यक्रियात्मिका देवता फलस्य साधनं भवति । अन्यथा देवतायाः साधारणत्वेन यजमानायजमानयोः फलसाम्यप्रसङ्गात्, तस्मादङ्गेष्वादित्यादिदृष्टयः कर्तव्याः ॥

पुनरप्योंकारोपासनान्तरं विधत्ते-

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥

[**अथ खल्विति** ॥ स्पष्टम्]

व्यानस्वरूपं निरूपयति-

यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानोऽथ यः प्राणापानयोः [सन्धिः] स व्यानः ॥

[**यद्वै प्राणितीति** ॥] उच्छ्वासनिःश्वासव्यापारौ परित्यज्य देहमध्ये वायोर्यदवस्थानं सा व्यानाभिधा वृत्तिः ॥

व्यानस्य कार्यं दर्शयति-

यो व्यानः सा वाक् । तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ॥

[३] या वाक् सर्क् तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति । यर्क्

---

[1] १. ब्र. सू. न्या. पृ. ८३७

तत्साम, तस्मादप्राणन्ननपानन् त्साम गायति । यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥ [४] ॥

[**यो व्यान इति ॥**] वाचः प्रवर्तकत्वाद् व्यान एक उच्चार्यमाणोऽक्षरमथो वाक् तदवान्तरविशेषः ऋग् इत्युच्यते । तस्यामध्यूढं गानं साम । तस्मिन् मध्यमो भाग उद्गीथः । वागादिविषयाः पुरुषव्यापारा प्रा[णा]गाननिरोधेन नोत्पद्यमानत्वाद्व्यानकार्याः ॥

तस्यैव कार्यान्तरं दर्शयति–

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मथनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानꣳस्तानि करोति ॥

[**अतो यानीति ॥**] अतो वागुच्चारणादिव्यापारादन्यानि वीर्यवन्ति शारीरबलसाध्यानि कर्माणि यानि सन्ति तानि पुरुषः प्राणापानौ निरुद्ध्यैव करोति । कानि तानि कर्माणीति चेत्–यथा तत्कर्मस्वरूपं विशदं भवति तथोदाह्रियते । अरण्योरग्निमन्थनं बलवतैव कर्तुं शक्यम् । तदिदमेकं कर्म । आजिः मर्यादा तत्पर्यन्तं सरणं धावनं तदेतद्द्वितीयम् । दृढस्य धनुष आयमनमाकर्षणं तृतीयम् । एवमन्यदप्युदाहार्यम् ॥

उपासनविधिमुपसंहरति–

एतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥ [५] ॥

[**एतस्येति ॥**] इत्यनेन प्रकारेणोक्तो वागुच्चारणाद्यग्निमथनादिसाधनत्वलक्षणयोः प्राशस्त्यहेतुरस्ति । एतस्माद्धेतोः प्राणापानावुपेक्ष्य व्यानदृष्टिमेवोंकारे कुर्यात् । फलं तु सर्वत्र कर्मफलसमृद्धिः समाना । विशेषस्तु यथागुणं बलवान् भवतीत्येवमुन्नेयम् ॥

ओँकारं प्रतीकं परित्यज्य नामाक्षरेषू[द्गीथा]दिषु त्रिषूपासनं विधत्ते–

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीत–उद् गी थ इति ॥

[**अथेति ॥**] भक्तिगतेष्वक्षरेषु प्रसङ्गं वारयितुमुदादीनि त्रीण्यक्षराणि निर्दिश्य प्रदर्श्यन्ते ॥

तेषु त्रिषु प्राणे वागिरन्नानां दृष्टिं विधत्ते–

प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षते । अन्नं थमन्ने हीदꣳसर्वꣳ स्थितम् ॥ [६] ॥

[**प्राण एवेति ॥**] हि यस्मात्कारणात्प्राणबलेन मनुष्यदेहमुत्तिष्ठति तस्मादुत्तिष्ठेत् । वाचिन्युदित्यक्षरे प्राणसंबन्धसद्भावात्प्राण इति दृष्टिः कर्तव्या । तथा लोके

वाचो गिर इत्येतौ शब्दौ पर्यायत्वेन जना वदन्ति । तेन पर्यायत्वसंबन्धेन गीरित्यक्षरमेव वागिति ध्यायेत् । तथा सर्वमिदं शारीरजातमन्ने जीवनहेतौ सति सुस्थितं भवति । अतस्थकारस्य स्थितिशब्दद्वारा तद्धे[तु]त्वेन संबन्धसद्भावात् । थशब्दोऽन्नमिति ध्यायेत् ॥

तथैवोदादिष्वक्षरेषु लोकत्रयदृष्टिं च विधत्ते-

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थꣳ सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थम् ॥

[**द्यौरेवेति** ॥] अत्र सर्वत्र प्रतीकभूतानामुदाद्यक्षराणां तेषु भावयितव्यानां च संबन्धविशेषो बुद्धिमता स्वयमेवोहनीयः ।

उक्तस्याक्षरध्यानस्य फलमाह-

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति । य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद् गी थ इति ॥ [७] ॥

.[**दुग्धेऽस्मै वागिति** ॥] अत्रापि पूर्ववद्भक्तिगताक्षरशङ्कानिवृत्त्यर्थं उदादीनि त्रीणि नामाक्षराणि निर्दिश्यन्ते । य उद्गाता एतान्युदाद्यक्षराणि एवं विद्वानुक्तप्रकारेण शास्त्रतो जानन्नुपास्ते स उद्गाता । अस्मै यजमानाय वाग्दोहं दुग्धे । वाचो धेनुस्थानीयायाः सरस्वत्याः क्षीरस्थानीयो वेदशास्त्रपाण्डित्यलक्षणो यो दोहोऽस्ति तं वाग्दोहं दुग्धे संपादयतीत्यर्थः । न केवलं विद्वत्ता किन्तु अन्नसमृद्धिस्तद्भक्षणसामर्थ्यरूपारोग्यसंपत्तिश्च यजमानस्य भवति ॥

उपासनान्तरं विधत्ते-

अथ खल्वाशीःसमृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत ॥

[**अथ खल्विति** ॥] यान् भोगान् पुरुष आशास्ते कामयते ते भोगा आशिष इत्युच्यन्ते । आशिषां समृद्धिराशीःसमृद्धिः । तस्याः समृद्धेरिति विभक्तिव्यत्ययः । उपसरणानि प्रापकानीत्यनया दृष्ट्या सामादीनि वक्ष्यमाणानि वस्तून्युपासीत ॥

उक्तमेवोपासनविधिं विशदयति-

येन साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत् ॥ [८] यस्यामृचि तामृचं, यदार्षेयं तमृषिं, यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥ [९] येनच्छदसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्तꣳ स्तोममुपधावेत् ॥ [१०] यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां

दिशमुपधावेत् । [११] आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तः ॥

[**येन साम्नेति ॥**] देवतां स्तोतुमुद्गातुः सामगीत्यात्मकं साधनम् । तस्य च साम्नः ऋगाश्रयः । तस्या ऋचः कश्चिदृषिर्द्रष्टा । काचिद्देवता प्रतिपाद्या । किञ्चिच्छन्द ऋच्यवस्थितम् । साम्न आवृत्तिप्रकारविशेषस्त्रिवृदादिनामकः स्तोमः । स्तोतुरपि(भि)मुखान् कांश्चिदकृतानेतान्सामादीन् दिगन्तान् सप्तपदार्थानुपधावेत् । एते कामप्रापका इति ध्यायेत् । अन्ततो(तः) सप्तपदार्थध्यानावसान आत्मानं स्तोतारमुपसृत्य कामप्रापकोऽहमिति ध्यात्वा कामं यजमानस्यापेक्षितं फलं ध्यायन्नप्रमत्तः प्रमादेनान्यचित्तचित्स्वरूपेण रहितः स्तुवीत ॥

उक्तोपासनस्य फलमाह–

अभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥ [१२] ॥

[**अभ्याशो हेति ॥**] यस्मिन् विषये कामोऽस्यास्ति सोऽयं यत्कामः । इत्युक्तप्रकारेण तं कामं ध्यायन् स्तुवीत । स कामः काम्यमानफलसमृद्धो भवति । अभ्याशो यदित्येतदव्ययत्रयं क्षिप्रमेवेत्यस्मिन् अर्थे वर्तते । ओंकारोपास्तिप्रसङ्गादुद्गीथानामक्षराणां सामर्ग्ऋष्यादीनां चोपासनमुक्तम् । तस्यैतस्य प्रासङ्गिकस्य समाप्तिं द्योतयितुं द्विरभ्यासः ॥

॥ **इति प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः खण्डः** ॥

⁂

प्रासङ्गिके समाप्ते सति पुनः प्रकृतस्य ओंकारस्योपासनानुवृत्तिं विवक्षिताध्यायादावुक्तमेव वाक्यं स्मारयति–

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति, तस्योपाख्यानम् ॥ [१] ॥

[**ओमिति ॥**] पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

तस्योंकारस्य गुणत्वविशिष्टत्वेनोपासनं विधातुमादौ स्तुत्यर्थमाख्यायिकामाह–

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छंदोभिरात्मानमाच्छादयन्येभिराच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥ [२] ॥

'आत्मानम्'– मु. पाठे नास्ति

[**देवा इति** ॥] पुरा देवा मृत्युभयं वारयितुमृग्यजुःसामाख्यवेदत्रयं प्राविशन्, तद्विहितमग्निष्टोमादिकर्मानुष्ठितवन्तः । ये कर्मण्यशक्तास्ते छन्दोभिर्गायत्र्यादि छन्दोयुक्तैर्मन्त्रैरात्मानं स्वदेहमाच्छादयन् मन्त्रजेन मृत्युपरिहारममन्यन्तेत्यर्थः । छादयत्येभिरिति छन्दःशब्दनिर्वचनं द्रष्टव्यम् । मृत्युशब्देनात्र पुनरावृत्तियुक्तं भाविजन्म विवक्षितम् ॥

तत्परिहार उपासनारहितेन कर्मणा जपेन वा न सिद्ध्येदित्येतदाह–

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि ॥

[**तानु तत्रेति** ॥] ये देवाः पुनरावृत्तिरूपं मृत्युपरिहारार्थं वेदत्रयविहिते तत्र कर्मणि मन्त्रजपे च प्रविष्टास्तान् तथा देवान्मृत्युः पुनरावृत्तिप्रापको देवः पर्यपश्यत् । तत्र दृष्टान्तः–लोके यद्वाव(यद्वापी)जले तिरोहितं मत्स्यं बडिशजलस्रावाद्युपायेन व्याधः पश्यति एवमसौ मृत्युः स्वर्गानुभवेन यः पुण्यकर्मक्षयस्तेन कर्मक्षयेणोपायेन पुनरावृत्तिं करोमीत्यमन्यन्त ॥

देवानां पुनरावृत्तिनिवारक उपायो यः प्रतिभातस्तं दर्शयति–

ते नु वित्त्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥[३]॥

[**ते न्विति** ॥] तेऽपि देवा वित्त्वा मृत्योरभिप्रायं विदित्वा ऋगादिवेदविहितान् कर्मण ऊर्ध्वा उद्गाता[र]स्तावन्मात्रेण पर्यवसानमकुर्वन्त, उपासनार्थं स्वरं प्रणवमेव प्राविशन् ॥

प्रणवस्य स्वरशब्दवाच्यत्वकथनव्याजेन वेदसारत्वं दर्शयन् उपास्यगुणममृतत्वमभयत्वं चोपन्यस्यति–

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवꣳसामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयम् ॥

[**यदा वेति** ॥] आप्नोति प्रारभते तदानीमोमित्येवोच्चार्य तत ऊर्ध्वमिति स्वर इत्यतिशयेन वेदपाठे प्रवर्तते । एवं यजुःसामनी अपि पठति । तस्माद्यदेतदोमित्यक्षरं स एष एव स्वर इत्युच्यते । स्वरत्यनेनेति व्युत्पत्तेः । पुनरावृत्तिरूपस्य मृत्योरभावादमृतत्वं पुनरावृत्तिरहिते ब्रह्मलोके जरारोगादिभीतिरपि नास्ति । **'न जरया बिभेति'** [क. उप. १-१२] इति श्रुत्यन्तरात् । तल्लोकप्राप्तिसाधनत्वादोंकारोऽप्यमृतो निर्भयश्च ॥

देवानां तदुपासनेन फलमाह–

तत्प्रविश्य देवा अमृता[1] अभवन् ॥ [४] ॥

---

[1] अमृता अभया –मु.पा.

[**तत्प्रविश्येति** ॥] तदक्षरं प्रविश्योपास्य अमृताः पुनरावृत्तिरहिताः [देवाः अभवन्] ॥ ६ ॥

उक्तफलकामिन उपासनं विधत्ते—

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरꣳस्वरममृतमभयं प्रविशति । तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥ [५] ॥

[**स य एतदिति** ॥] यः प्रणौति उपासितुं प्रारभते प्रविशति सम्यगुपास्ते यद् ब्रह्मलोकप्राप्तिरूपममृतं येषां देवानामस्ति ते यदमृतास्तदुपासकस्तदमृतो भवति । यद्यप्यङ्गावबद्धोपासनं कर्मकाल एवानुष्ठेयं तथापि तस्य कर्मणः सकृदनुष्ठानेनोपासकस्यापि चित्तानुष्ठानसिद्धेर्महाफलत्वं युज्यते । यद्वा वचनबलात्तत्फलं द्रष्टव्यम् ॥

॥ इति प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥

⁂

ॐकारस्योद्गीथावयवस्य प्रकारान्तरेणोपासनमाह–

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येव(ष) स्वरन्नेति ॥ [१] ॥

[**अथेति** ॥] ॐकार उद्गातॄणां भाषयोद्गीथ इत्युच्यते । तस्योद्गीथभक्तेरादौ प्रयुज्यमानत्वात् निष्कैवल्यमरुत्वतादिशस्त्रशंसिनां होतॄणां भाषया त्वृचः संबन्धी प्रणव इत्युच्यते । ऋच्च उपक्रमेऽपि तत्प्रयोगात्तदेतदुभयं तैत्तिरीया आमनन्ति '**उद्गीथ एवोद्गातॄणाम् । ऋचः प्रणव उक्थशंसिनाम्**' [तै. सं. ३-२९-५, ६] इति तस्मादुद्गातृहोतृप्रयुक्तयोरुद्गीथप्रणवयोरन्योन्यतादात्म्यमस्तीति ध्यात्वा तस्मिन्नोंकार आदित्यदृष्टिं कृत्वा तदप्यादित्यस्योद्गीथप्रणवशब्देऽभिधेयत्वमस्तीति ध्यायेद्धि यस्मादेष आदित्यः स्वरन् गच्छन्नोमित्येति ॐकारमुच्चारयन्नेव गच्छति । गतिकाले हि प्राणिनामपि कश्चित् ध्वनिरुत्पद्यते । ध्वनेश्चोंकारोच्चारणसादृश्यादोंकार आदित्यदृष्टिरुचिता ॥

आख्यायिकामुदाहृत्य रश्मिबहुत्वध्यानं विधत्ते–

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच । रश्मीꣳस्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो वै ते भविष्यतीत्यधिदैवतम् ॥ [२] ॥

[**एवमिति** ॥] कौषीतकिनामको मुनिः स्वपुत्रं प्रति एवमुवाच–रश्मीनुपेक्ष्याहमेतमादित्यमेकमेवाभिध्यायन् सामगानं कृतवानस्मि । तस्मादेकस्यैव ध्यानान्मम

त्वमेक एव पुत्रोऽसि । त्वं तु तमादित्यं ध्यायन् रश्मीनपि पर्यावर्तयात् पर्यावर्तय पुनः पुनः उपास्व एवमुपासीनस्य ते तव बहवः पुत्रा भविष्यन्तीत्युक्तं ध्यानमधिदैवतत्त्वादित्यदेवताविषयविवक्षितस्योपासनस्यैको भाग इत्यर्थः ॥२॥

उत्तरं भागमाह–

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्य प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ [३] एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच । प्राणाꣳस्त्वं भूमानमभिगायताद्बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥ [४] ॥

[**अथेति** ॥] निद्राणे पुरुषे श्वासरूपस्य प्राणध्वनेरोंकारोच्चारणसादृश्यं समीपवर्तिभिः श्रूयते । एतमेव मुख्यप्राणमेकमेव प्राणान्वागादीन्द्रियविशेषान्बहूनुपासीनो बहवः पुत्रा मम भविष्यन्तीत्येवं भूमानमभिपुत्रबाहुल्यमभिलक्ष्य सामानि त्वं गायतात् । स्पष्टमन्यत् । इतिशब्दः कौषीतक्युक्तिसमाप्त्यर्थः ॥

उद्गीथप्रणवतादात्म्यध्यानमनुद्य तत्फलमाह–

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीतमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति॥ [५] ॥

[**अथ खल्विति** ॥] होता सीदति सम्यग् वर्तते । यस्मिन्प्रणवोपेते याज्यानुवाक्यादि कर्मणि तद्धौत्रकर्महोतृषदनम् । तस्मादेव कर्मण उद्गाता दुरुद्गीतं स्वकीयमौद्गात्रगतं वैकल्यमनुसमाहरति । अनुकूलं यथा भवति तथा समादधाति । इति शब्दो हेतौ । यस्मादेवं तस्मादुद्गीथप्रणवयोरन्योन्यं तादात्म्यं ध्यायेदित्यर्थः ।

॥ इति प्रथमस्याध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥

⁂

अथोंकारस्यादित्यचक्षुरुपाधिकब्रह्मदृष्ट्योपासनानन्तरं विधातुमादौ तदङ्गभूतमृक्सामयोर्नानाविधध्यानमाह–

इयमेवर्गग्निः साम ॥

[**इयमेवेति** ॥] ऋगियमेव पृथिव्येव सामाग्निरेव ऋचि पृथिवीदृष्टिः साम्नि चाग्निदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः । पृथिव्यग्न्योराधा[रा]धेयभाव ऋक्सामयोरिव विद्यते ॥

---

१. दुरुदीथ० –मु. पा. ।

तस्माद्दृक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिरित्युक्तेत्यभिप्रेत्याह–

तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते ॥

[**तदेतदिति** ॥] तदेतदग्न्याख्यमुपचरितं सामैतस्यां पृथिव्यात्मिकायामुपचरितायामृच्याश्रितम् । तस्मात्पृथिव्यग्निसाम्येनाध्यापकैरपि मुख्यं साम मुख्यायामृच्याश्रितं यथा भवति तथा गीयते ॥

सामेत्यनयोर्नामाक्षरयोः पृथिव्यग्निदृष्टिमाह–

इयमेव साग्निरमस्तत्साम ॥ [१] ॥

[**इयमेवेति** ॥] सेत्यस्य पृथिवीरूपत्वादम इत्यस्य चाग्निरूपत्वात्तत्पृथिव्यात्मकद्वयं मिलित्वा ध्यानदृष्ट्या साम संपद्यते ।

पुनरप्यृक्सामयोरन्तरिक्षे वायुदृष्टिं द्युलोकादित्यदृष्टिं नक्षत्रचन्द्रदृष्टिमादित्यगतशुक्लरूपकृष्णरूपदृष्टिं च क्रमेणाह–

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते[1] ॥ [२] द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम[2] ॥ [३] नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम[3] गीयते नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ [४] अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते ॥ [५] अथ तदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥

[**अन्तरिक्षमिति** ॥] आदित्यमण्डले यच्छुक्लं रूपमस्ति या च शुक्लरूपनिष्ठा भा दीप्तिरुज्ज्वलं तदुभयमृचि ध्येयम् । तस्मिन्मण्डले यन्नीलमीषत् कृष्णरूपमस्ति यच्च परोऽतिशयेन कृष्णं तदुभयं साम्नि ध्येयम् । साकारान्तं पर इति पदमव्ययम् । केषुचित्क्षणेष्वादित्यमण्डलमनिमिषदृष्ट्या पश्यतो नीलरूपं भाति । चिरं पश्यतोऽत्यंतकृष्णरूपं भाति । अन्यत्पूर्ववद्व्याख्येयम् । शाखान्तरे त्वग्निरमस्तदमस्तत्साम वायुरमस्तदमस्त-

---

१. अन्तरिक्षमेव सा । वायुरमः । तत्साम ॥२॥ – मु. अधिकपाठः ।

२. द्यौरेवर्क् । आदित्यः साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम । तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते द्यौरेव सा । आदित्योऽमः । तत्साम ॥ ३ ॥ – मु. पा.

३. तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम–मु. अधिकपाठः ।

त्सामेत्येवं सर्वत्र तदम इत्यधिकमाम्नातम् । सोऽयमुक्तार्थैकदेशानुवादः । स चेतरस्याप्यंशस्योपलक्षणार्थः । तथा सत्येवं योजनीयं तत्तयोर्देवतयोरम इत्येषाऽङ्गोपास्तिस्तेनोपलक्षितः(ता) । सेत्ययमप्यंशोऽस्ति । अतस्तद्देवताद्वयं मिलित्वा ध्यायेदिति ॥

अङ्गानां ध्यानमुक्त्वाङ्गिनो ब्रह्मणो ध्यानमाह—

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते । हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥ [६] तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी ॥

[**अथेति** ॥] अथाङ्गकथनान्तरमङ्गी कथ्यते । आदित्ये तदीयमण्डले यः पुरुषो हस्तपादादियुक्त ईश्वरविग्रहः, एष उपासकानां ध्यानदृष्ट्या प्रत्यक्ष ईक्ष्यते । स च हिरण्मयः सुवर्णनिर्मितप्रतिमेव तेजस्वी । लोके गौरवर्णस्यापि पुरुषस्य केशश्मश्रूणि कृष्णानि । अस्य तु न तथा किन्तु हिरण्यसदृशवर्णोपेतानि । नखेष्वपि स इत्थं नास्ति । किन्तु नखाग्रपर्यन्तः सर्वो देहः सुवर्णसदृश एव । कपेरास आसनमुपवेशनस्थानं पुच्छादधोभागो रक्तवर्णस्तद्वत्पुण्डरीकम् । तच्च यथा रक्तवर्णमेव तस्याक्षिणी रक्तवर्णे, नीचोपमान्यावृत्तये पुण्डरीकव्यवधानमुक्तम् ॥

ध्येयस्य ब्रह्मणो विग्रहमुक्त्वा नामधेयं तन्निर्वचनं तद्ध्यानफलं चाह—

तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥ [७] ॥

[**तस्येति** ॥] उदित उद्गते इत्युन्नामकत्वम् । स्पष्टमन्यत् ॥

पूर्वोक्तानामङ्गानामङ्गिनि देवविग्रहे संबन्धं दर्शयति—

तस्य ऋक् च साम च गेष्णौ ॥

[**तस्येति** ॥] पृथिव्यन्तरिक्षादिरूपेण ध्याता येयमृक् सापि अग्निवाय्वादिरूपेण ध्यातं यत्साम तदपि मिलित्वा तावुभौ पदार्थौ देहस्य वामदक्षिणयोरङ्गुल्यादिगते पर्वणी । गेष्णशब्दः पर्वणो वैदिकसंज्ञा ॥

यथोक्तगुणस्येश्वरस्योद्गीथनामकप्रणवस्वरूपमाह—

तस्मादुद्गीथः ॥

[**तस्मादिति** ॥] यस्मादयमीश्वर उन्नामको यथोक्तगेष्णयुक्तश्च तस्मादुकारसाम्यादुद्गीथो भवति । पूर्वत्रप्राप्त उद्गत इति निर्वचनादुन्नामकत्वमुक्तम् ॥

तदेवोद्गातृशब्दनिरुक्त्या द्रढयति–

तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता ॥

[**तस्मादिति** ॥] हि यस्मादुन्नामकस्यैतस्येश्वरस्यौद्गात्रकर्मानुष्ठायी सामभिर्गाता । तस्मादेव हेतोरुद्गातेत्युच्यते ॥

उपास्यं गुणान्तरमाह–

स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो[१] लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च ॥

[**स एषेति** ॥] अमुष्मादादित्यलोकात्पराञ्च ऊर्ध्वभाविनो यल्लोका सन्ति तेषामप्येष हिरण्मय इष्टे स्वामी भवति । देवानामिन्द्रादीनां ये भोगाः सन्ति तेषामपीष्टे ॥

उपासनस्य पूर्वभागमुपसंहरति–

इत्यधिदैवतम् ॥ [८] ॥

[**इतीति** ॥] स्पष्टोऽर्थः ॥

॥ इति प्रथमस्याध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥

⁂

उक्तोपासनस्योत्तरभागमाह–

**अथाध्यात्मं वागेवर्क् प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम ।
तस्माहच्यध्यूढꣳ साम गीयते । वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥ [१]
चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम । तस्माहच्यध्यूढꣳ
साम गीयते । चक्षुरेव सात्माऽमस्तत्साम ॥ [२] श्रोत्रमेवर्क् मनः
साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम । तस्माहच्यध्यूढꣳ साम
गीयते । श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥ [३] अथ यदेतदक्ष्णः
शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ
साम । तस्माहच्यध्यूढꣳ साम गीयतेऽथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव
साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥ [४] अथ य एषोऽन्तरक्षिणि
पुरुषो दृश्यते सैवर्क् तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म ॥**

---

१. प्राञ्चो–मु.पा.

२२०

BVBSSMV

[**अथेति ॥**] चक्षुरेवर्गात्मा सामेत्यत्रैकस्य चक्षुषि परेण दृश्यमानछायापुरुष आत्मेत्युच्यते । अक्षिगतस्य शुक्लमण्डलस्य मध्ये नीलमण्डलं तस्यापि मध्ये परःकृष्णमण्डलम् । अत एवैतरेयिण आमनन्ति । ‘ **त्रिवृदिव वै चक्षुः शुक्लं कृष्णं कनीनिकेति** ’ चक्षूंष्युपासकैः ध्यानेन दृश्यमानः पुरुषः ऋगाद्यात्मकः । सर्वजगत्कारणत्वेन तस्येश्वरस्य सर्वात्मकत्वसंभवात् । उक्थशब्देनाज्यप्रउगादिशस्त्रमभिधीयते । ब्रह्मशब्देन वेदसामान्यं विवक्षितम् ॥

आदित्यपुरुषस्य यद्रूपं हिरण्यश्मश्रुत्वादि यावृक्सामगेष्णौ यच्चोदिति नाम तत्सर्वमक्षिपुरुषेऽप्यतिदिशति–

तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम ॥ [५] ॥

ध्यातमीशितृत्वगुणं दर्शयति–

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति ॥

[**स एष इति ॥**] एतस्माद्भूलोकादधस्तना ये लोकास्तेषां मनुष्यभोगानां चाक्षिपुरुष ईश्वरः ॥

तदेवेश्वरत्वमुपपादयति–

तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः ॥ [६] ॥

[**तद्य इति** ॥] तत्तत्र लोके य इमे गायका देवालयराजगृहादौ वीणायां गायन्ति ते सर्वेऽप्येतं परमेश्वरं गायन्ति । तस्मात्कारणात्ते गायका धनसनयो धनलाभयुक्ता दृश्यन्ते ॥

लौकिकादीश्वरगानाद्यथा धनलाभस्तथेश्वरोपासनयुक्तासामगानात्सर्वलोकसर्वभोगप्राप्तिरित्येतदाह–

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति । सोऽमुनैव स एव ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति देवकामाꣳश्च ॥ [७] अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तांꣳश्चाप्नोति मनुष्यकामांꣳश्च ॥

[**अथेति ॥**] अथ लौकिकफलोदाहरणानन्तरं शास्त्रीयं फलमुच्यते । यः पुमानेतदीश्वरध्यानमेवमुक्तेन प्रकारेण विद्वान् शास्त्रज्ञो जानन्नुपासीत, औद्गात्रं साम गायति स उद्गातादित्यपुरुषमक्षिपुरुषं चोभौ गायति । सोऽमुमेवादित्यं प्राप्य तद्रूपेणैव स्थितो भवति । स एष तथा वर्तमान उपरितनलोकान् देवभोगांश्च प्राप्नोति । अथानन्तरमिममेवाक्षिपुरुषं प्राप्य तद्रूपेणावस्थायाधोवर्तिलोकान्मनुष्यभोगान् स प्राप्नोति । यद्यपि प्रतीकोपासनेष्वहंग्रहाभावादुपास्यदेवताप्राप्तिर्नास्ति तथाप्येतैः प्रतिबन्धापाये सत्यहंग्रहोपास्तिर्देवत्वप्राप्तिश्च भवतीत्यवगन्तव्यम् ॥

उपासकस्यर्त्विजो यजमानं प्रति वरप्रदानसामर्थ्यं दर्शयति—

तस्मादेवं[1]विदुद्गाता ब्रूयात् ॥ [८] कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामगानस्येष्टे य एवं विद्वान् साम गायति साम गायति ॥ [९] ॥

[**तस्मादिति ॥**] यस्मात्सामर्थ्यमस्ति तस्मादुक्तप्रकारेणोपासक उद्गाता हे यजमान तव कं फलविशेषमुपास्तिपूर्वकेन सामगानेन संपादयानीत्येवं पृच्छेत्पृष्ट्वा च तथैव संपादयेत् । य एवमुपासकः साम गायति एष च कामसंपादने समर्थो नेतरः । अभ्यासः उपास्तिसमाप्त्यर्थः ।

अत्रोक्तस्यादित्यपुरुषस्य परमेश्वरत्वं प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे सप्तमाधिकरणे चिन्तितम्—

हिरण्मयो देवतात्मा किंवाऽसौ परमेश्वरः ।
मर्यादाधाररूपोक्तेर्देवतात्मैव नेश्वरः ॥
सर्वात्म्यात्सर्वदुरितराहित्याच्चेश्वरो मतः ।
मर्यादाद्यादुपास्त्यर्थमीशेपि स्युरुपाधिगाः ॥[2]

छान्दोग्यस्य प्रथमाध्याये उद्गीथोपासनायामुपसर्जनान्युपास्यान्यभिधाय प्रधानमुपास्यमभिधातुमिदमाम्नायते । **'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यत'** [छा. उप. १-६-६] इति । तत्रादित्यमण्डले विद्याकर्मातिशयवशात्कश्चिज्जीवो देवभावमुपेत्य जगदधिकारं निष्पादयन्नवतिष्ठते । ईश्वरश्च सर्वगतत्वान्मण्डलेऽपि वर्तते । अतस्तयोः संशयः, तत्र देवतात्मेति तावत्प्राप्तं कुतः मर्यादाधाररूपाणामुच्यमानत्वात् ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च इति । ऐश्वर्यमर्यादोक्तिः । अन्तरादित्य

---

१. तस्मादुहैवं० —मु.पा.

२. ब्र. सू. न्या. पृ. १३०

इति रूपोक्तिः । न हि सर्वेश्वरस्य सर्वाधारस्य नीरूपस्य परमेश्वरस्यैश्वर्यमर्यादाधारं रूपाणि संभवन्ति तस्माद्देवतात्मेति प्राप्त उच्यते– **हिरण्मय ईश्वरो भवेत्** ।

कुत सर्वात्मत्वश्रवणात्त्**सैवार्क् तस्साम** तदुक्तं **तद्यजुस्तद् ब्रह्म** इति वाक्ये तच्छब्दैः प्रकृतं हिरण्मयं पुरुषं परामृश्य ऋक्सामाशेषजगदात्मकत्वमुपदिश्यते तच्चाद्वितीयपरमेश्वरे मुख्यमुपपद्यते न तु स द्वितीयायां तथा **स एष सर्वेभ्य उदित** इति श्रूयमाणं सर्वपापराहित्यं ब्रह्मणः साधारणं लिङ्गम् । यद्यपि देवतायाः कर्मण्यनधिकारात्क्रियमाणकरिष्यमाणपापयोरभावः, तथाप्यसुरादिनिमित्तजनितदुःखसद्भावात्तद्धेतुभूतजन्मान्तरसञ्चितदुरितमनुवर्तत एव। मर्यादाधारणरूपाणि त्वुपाधिधर्मतया सोपाधिके परमात्मन्युपास्ये वर्तितुमर्हन्ती[ति] । तस्मादीश्वरो हिरण्मयः ॥

॥ इति प्रथमाध्याये सप्तमः खण्डः ॥

◆

पुनरप्योंकारस्योपासनान्तरं विधित्सुस्तस्य स्तुत्यर्थमुपाख्यानमाह–

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः सिलकः[1] शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति ॥

[**त्रय इति** ॥] सिलकश्चैकितायनप्रवाहणशब्दास्त्रयाणां नामधेयानि । शालावत्यदाल्भ्यजैवलिशब्दा अपत्यार्थास्तद्धितान्ताः ॥

उद्गीथे तदवयवभूतप्रणवध्याने तेषां त्रयाणामालोचनं दर्शयति–

ते होचुरुद्गीथे वै कुशला[ः] स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥ [१] तथेति ह समुपविविशुरिति[2] ॥

[**ते होचुरिति** ॥] हंतेति हर्षपूर्वकं सम्बोधनम् ॥

कथां तत्त्वनिर्णयार्था[य] उपविष्टानां मध्ये प्रवाहणस्य क्षत्रियस्य राजो(ज्ञो) वचनमाह–

---

१. शिलकः –मु. पा.

२. समुपविविशुः –मु. पा.

स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच । भगवन्तावग्रे वदताम् । ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचꣳ श्रोष्यामीति ॥ [२] ॥

[सहेति ॥] भगवन्तौ उत्तमजातित्वेन पूज्यौ शालावत्यदाल्भ्यौ । इति शब्दो राजवाक्यसमाप्त्यर्थः ॥

तयोः प्रष्टृत्वं वक्तृत्वं च विभज्यते–

स ह सिलकः[1] शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति । पृच्छेति होवाच ॥ [३] ॥

शालावत्यप्रश्नस्य दाल्भ्योत्तरपरंपरां दर्शयति—

का साम्नो गतिरिति । स्वर इति होवाच । स्वरस्य का गतिरिति । प्राण इति होवाच । प्राणस्य का गतिरिति । अन्नमिति होवाच । अन्नस्य का गतिरितित्योष (त्याप ?) इति होवाच ॥ [४] अपां का गतिरिति । असौ लोक इति होवाच । अमुष्य लोकस्य का गतिरति । न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच । स्वर्गं वयं लोके (कꣳ?) सामभिसꣳस्थापयामः । स्वर्गसꣳस्तावꣳ हि सामेति ॥ [५] ॥

[का साम्न इति ॥] उद्गीथावयव ओंकारे जगन्मूलकारणस्य परमात्मनो दृष्टिर्विधेया । ततस्तन्निश्चयाय कारणपरम्परा प्रश्नोत्तराभ्यां विचार्यते । उत्पन्नं कार्यं गम्यते प्रतीयतेऽस्मिन्नुपादान इति व्युत्पत्या गतिशब्दः कारणमाचष्टे । साम्नः कारणं स्वरः । कृष्टादिभिः सप्तभिः स्वरैः सामनिष्पत्तेः । प्रकर्षेणानिति चेष्टते । तेन शारीरेण बलेनेति प्राणो बलं तच्च स्वरस्य कारणम् । उच्चध्वनिस्वरूपस्य स्वरस्य दुर्बलेन रोगिणा निष्पादयितुमशक्यत्वात् शारीरबलस्यान्नं कारणम् । अन्नस्य च व्रीह्याद्युत्पादिका आपः कारणम् । अपां च वृष्टिसंपादकः स्वर्गो लोकः कारणम् । तच्च स्वर्गलोकमतिक्रम्य कारणप्रश्नं [न ?] नयेत । वयं दाल्भ्यादय उपासकाः स्वर्गं लोकमभिलक्ष्य साम संस्थापयामः । साम्नः कारणपरम्पराविचारः स्वर्गे समाप्तः । तस्मात्स्वर्ग एव मूलकारणम् । हि यस्मात्साम स्वर्गसंस्तावं स्वर्गरूपत्वेन संस्तुतिरर्थवादेऽवगम्यते ।

---

[1] शिलकः –मु. पा.

स्वर्गो वै लोकः सामेत्यर्थवादम् । तस्मात्स्वर्गध्यानमोंकारे कर्तव्यमित्यभिप्रायः । इति शब्दो दाल्भ्योति(क्तिः) समाप्त्यर्थः ॥ ५ ॥

एतस्य दाल्भ्यमतस्य निराकरणं दर्शयति–

तꣳ ह सिलकः[1] शालावत्य[2] उवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम । यस्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥ [६] ॥

[**तं हेति** ॥] स्वर्गस्य फलत्वेन कर्मजन्यत्वान्मूलकारणत्वलक्षणप्रतिष्ठास्वर्ग(र्गं ?)-दुर्लभा तस्मादप्रतिष्ठितमेव साम स्यात् । वै किलेति निपातद्वयमवधारणार्थम् । वीतराग-पुरतोपसिद्धान्तेऽभिहितेऽपि न काचित्तव हानिरभूत् । यदा विजिगीषोः पुरतस्त्वमेवं ब्रूषे एतर्ह्येतत् काले यः कोऽपि प्रतिवादी त्वां प्रति मूर्धा ते विपतिष्यतीति शापं ब्रूयात्तदानीमेव[3]........शालावत्योक्तिसमाप्त्यर्थमिति शब्दः ।! ६ ॥

इदानीं पूर्वोक्तयोः वक्त्रोर्विपर्ययेण प्रश्नोत्तरे दर्शयति–

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति । विद्धीति होवाच अमुष्य लोकस्य का गतिरिति । अयं लोक इति होवाच अस्य लोकस्य का गतिरिति । न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच । प्रतिष्ठां वयं लोकꣳ सामाभिसꣳस्थापयामः । प्रतिष्ठासꣳस्तावꣳ हि सामेति ॥ [७] ॥

[**हन्तेति** ॥] अहं दाल्भ्यः । भगवतः पूज्याच्छालवत्यात् । अयं लोकः स्वर्गस्य कारणम् । देवानां मनुष्यप्रत्तहविर्भोजित्वात् **'इतः प्रदानं देवा उपजीवति'** [?] इति श्रुत्यन्तरत्वात् । प्रतितिष्ठन्ति हविः प्रदाय यजमाना अत्रेति प्रतिष्ठात्वं भूलोकस्यास्ति । प्रतिष्ठागुणकभूलोकरूपत्वेन संस्तारो रथन्तराख्यस्य साम्नोऽस्ति **'इयं वै रथन्तरम्'** [?] इति श्रुत्यन्तरात् । अन्यत्पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

अथ राज्ञः शालावत्यमतनिराकरणम्—

तꣳ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य साम

---

१. शिलकः –मु. पा.

२. चैकितायनं दाल्भ्यम्–मु. अ. पा.

३. कतिपयानि अक्षराणि न सन्ति । [मूर्धा ते विपतेदिति ?]

यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति । हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ॥ [८] ॥

[**तं हेति** ॥] भूलोकस्य नश्वरत्वात्तद्रूपस्य साम्नोऽन्तवत्वम् । अन्यत्पूर्ववत् ॥

॥ इति प्रथमाध्यायस्याष्टमः खण्डः ॥

◆

शालावत्यस्य प्रश्नं राज्ञ उत्तरं च दर्शयति–

अस्य लोकस्य का गतिरिति । आकाश इति होवाच ॥

[**अस्येति** ॥] अस्य प्रत्यक्षादि विषयस्य लोकस्य भूलोकोपलक्षितस्य सर्वस्य जगतः । आसमन्तात्काशत इत्याकाशः परमात्मा ॥

राज्ञोक्तस्य वस्तुनो यत्परमात्मतत्त्वं तदेव जगत्कारणत्वोपन्यासेन श्रुतिर्विशदयति–

सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति ॥

[**सर्वाणीति** ॥] इमानि साक्षिचैतन्यत्वेन दृश्यमानानि पञ्च महाभूतानि स्थावरजङ्गमशरीराणि च सर्वाण्यपि निरवशेषेणाकाशशब्दवाच्यात्परमात्मन एव जायन्ते लयकालेऽप्याकाशं प्रति परमात्मानं प्रतिपद्य समुद्रं प्राप्ता नद्य इवास्तं नाशं यन्ति प्राप्नुवन्ति ॥

तस्य परमात्मन उपास्त्यर्थं ज्यायस्त्वपरायणत्वपरोवरीयस्त्वानन्तत्वगुणान्विधत्ते–

आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान् आकाशः परायणम् ॥ [१] स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः ॥

[**आकाश इति** ॥] परिपूर्णचैतन्यप्रकाशरूपो य आकाशोऽभिहितः स एव सर्वेभ्यो गगनादिभ्यः पञ्चभूतेभ्यः स्थावरजङ्गमभूतेभ्यश्च भूतेभ्यो ज्यायान्, अतिशयेन वृद्धः परिपूर्णः । हि शब्देनास्मिन्नर्थे सर्ववेदान्तप्रसिद्धिः प्रदर्श्यते । स आकाशः परायणं सर्वेषां भूतानामुत्कृष्ट आश्रयः । तत्कल्पनाधिष्ठानत्वात् स शास्त्रप्रसिद्धः । एष बुद्धिसाक्षित्वेनोपलभ्यमानः परमात्मा परोवरीयान् । वरशब्देन श्रेष्ठा इन्द्रादयो देवा विवक्षिताः । तेभ्यो-

ऽतिशयेन श्रेष्ठा हिरण्यगर्भादयो वरीयांसः तेभ्योऽप्यत्यंतश्रेष्ठत्वा......परसिति प्रादिकं सकारान्तं द्रष्टव्यम् । उद्गीथ ॐकाररूपः अनन्तो देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितः ॥

यद्यप्युपासनस्य कर्मसमृद्धिः साधारणफलं तथापि गुणप्रयुक्तं फलविशेषमाह—

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकान् जयति [य] एतमेवं विद्वान्परोवरीयांꣳसमुद्गीथमुपास्ते ॥ [२] ॥

[परोवरीय इति ॥] उपासकस्यास्मिल्लोके परोवरीयः, अत्युत्कृष्टादप्युत्कृष्टतरं जीवनं भवति मरणादूर्ध्वमप्युत्कृष्टतरान् लोकान् जयति ॥

उक्तोपासनमर्थवादेन प्रशंसति—

तꣳ हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच । यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति ॥ [३] तथामुष्मिँल्लोके लोक इति ॥

[तं हेति ॥] अतिधन्वनामकः शुनकपुत्रो महर्षिरुदरशाण्डिल्यनामकाय शिष्याय तमेतमुद्गीथ(थं ?) आकाशदृष्ट्योपास्यमुपदिश्य तत्फलमेवमुवाच—हे उदरशाण्डिल्य भवत्पुत्रपौत्रादिरूपायां प्रजायां वर्तमानाः पुरुषाः यावन्तं कालमुद्गीथमुपासिष्यन्ते तावन्तं कालमेभ्यो येषां पुरुषाणामिहात्युत्कृष्टं जीवनं परत उत्कृष्टो लोकश्च भवित । एतत्फलं पूर्वेषामेव ऋषीणां भवति ॥

नेदानींतनानामित्यताह—

स एतमेव विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यामस्मिँल्लोके जीवनं भवति तथाऽमुष्मिँल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥ [४] ॥

[स एतमिति ॥] अभ्यास उपास्तिद्योतनार्थः । तद्द्योतनीयम् । अभ्यास उपास्तिसमाप्त्यर्थः ।

आकाशशब्दस्य ब्रह्मविषयत्वं प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादेऽष्टमाधिकरणे चिन्तितम्—

आकाश इति होवाचेत्यत्र खं ब्रह्म वात्र खम् ।
शब्दस्य तत्र रूढत्वाद्वाय्वादेः सर्जनादपि ॥

---

१ य – मु. अधिकपाठः

आकाशजगदुत्पत्तिहेतुत्वाच्छ्रौतरूढितः ।
एवकारादिना चात्र ब्रह्मैवाकाशशब्दितम् ॥[1]

पूर्वोक्तहिरण्मयवाक्यादुत्तरस्मिन् वाक्ये शालावत्येन महर्षिणा सर्वलोकाधारवस्तुनि पृष्टे सति प्रवाहणो राजोत्तरमाह । तत्रत्यं वाक्यमेतद् **'आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति। आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्'** [छा. उप.१-८-१] इति। तत्राकाशशब्दार्थो वियद्वा ब्रह्म वेति संदेहे रूढत्वाद्वियदिति प्राप्तम् । सर्वत्र भूतोत्पत्तिलयहेतुत्वे च वियत् उपपद्यते । **'आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः'** [तै. उप. २-१-१] इत्यादौ वाय्वादीनां सर्वभूतानां वियत्कार्यत्वश्रवणात् । अत्रोच्यते-ब्रह्मैवात्राकाशशब्दार्थः । **'सर्वाणि ह वा'** [छा. उप. १-८-१] इत्यत्रासंकुचितसर्वशब्देन वियत्सहितसर्वभूतोत्पत्तिहेतुत्वश्रवणात् । न च वियतो वियद्धेतुत्वं संभवति । रूढिस्तु लौकिकी वियत्येवास्तु। श्रौती तु ब्रह्मण्यपि **'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता'** [छा. उप. ८-१४-१] इति प्रयोगदर्शनात्किं चाकाशादेवेत्येवकारः कारणान्तरं व्युदस्यति। न चैतद्वियत्पक्षे संभवति घटादिषु वियद्व्यतिरिक्तानां मृदादिकारणानामुपलंभात् । ब्रह्मपक्षे तु ब्रह्मणः सद्रूपस्य सर्वानन्यतया कारणान्तरव्युदास उपपद्यते । ज्यायस्त्वपरायणत्वे च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मणि श्रूयेते-**'ज्यायन् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्'** [छा. उप. ३-१४-३] विज्ञानमानकर्मफलं दातुं समर्थमित्यर्थः । तस्माद्ब्रह्म एवाकाशशब्देन विवक्षितम् ।

॥ इति प्रथमाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥

⁂

अथ प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारभक्तिषु प्राणादित्येषु दृष्टिं विधातुमादौ स्तुत्यर्थमुपाख्यानमाह—

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्र(क्रा)यण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥ [१] ॥

[**मटचीति** ॥] मटचीशब्देन धान्यभक्षाः सस्यविनाशकाः पक्षयुक्ताः कीटविशेषा उच्यन्ते । मटचीभिः कुरुनामका देशा दुर्भिक्षतामापाद्य विनाशिताः । अप्रवृद्धपयोधरा योषिदाटिकीत्युच्यते । तादृश्या जायया सहित उपास्तिनामकचक्राख्यस्य पुत्रः क्षुत्पीडितः स्वगृहान्निर्गत्य देशान्तरे गच्छन् प्रद्राणकः प्रकर्षेण कुत्सितां

---

[1] १. ब. सू. न्या. पृ. १३४

गतिं प्राप्नुवन् गन्तुमशक्त इत्य(भ्य)ग्रामे तस्थौ । इभा गजाः तत्पालनार्थं राज्ञा नियुक्तो दास इभ्यस्तदीयः कश्चिदल्पो ग्रामः। तत्र स्थित्वा जायां कस्यचिद्गृहेऽवस्थाप्य स्वयमिभ्यसमीपे समागतः ॥

तदानीमुषस्तेरिभ्यस्य च यो वृत्तान्तः प्रवृत्तस्तं दर्शयति–

स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे । तꣳ होवाच । नेतोऽन्ये [विद्यन्ते यच्चये म इम उपनिहिता इति ॥ [२] एतेषां मे देहीति होवाच । तानस्मै प्रददौ । हन्तानुपानमिति । उच्छिष्टं वै मे पीतꣳ स्यादिति][1] होवाच ॥ [३] न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति । न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच । कामो म उदकपानमिति[2] ॥ [४]

[**स हेभ्यमिति** ॥] चिरं खातेवस्थापितत्वेन दुर्गन्धनिःसारत्वोपेताः कुत्सिता माषाः कुल्माषाः । तान् पाचयित्वा गजाय दत्वा तच्छेषं स इभ्यो भक्षयति । तमित्थं स उषस्तिर्याचितवान् । तं प्रतीभ्य एवमुवाच–य इमे माषाः उच्छिष्टाः सन्ता मम पुरतः पात्रे प्रक्षिप्ताः यदापि कवलीकृत्य माषरूपं मुखे प्राप्यते इतोऽन्ये माषा अनुच्छिष्टा न विद्यन्ते इत्युक्त उषस्तिरेतेषामुच्छिष्टानामिव मध्ये मह्यं देहीत्युवाच । स इभ्यस्तानुच्छिष्टानस्मै दत्वा मदीय मृत्पात्रावस्थितं पीतावशिष्टमुदकं हे मुने गृहाणेत्युवाच । मे मया यद्यतेदुदकं पीतं स्यात्तदानीमुच्छिष्टं भवेत् । इत्युक्त इभ्य आह–एते भक्ष्यमाणा अप्युच्छिष्टाः किं न भवन्ति । इत्युक्त उषस्तिराह—उच्छिष्टानप्येतानखादयन् जीवितुं न शक्तोऽस्मि । ततः प्राणरक्षार्थत्वा[त्] न तद्भक्षणे प्रत्यवायोऽस्ति । उदकपानं मे कामः ममेच्छया लभ्यते नदीतटाकादिसद्भावात् ॥

उपरितनमुषस्तेर्वृत्तान्तमाह–

स ह खादित्वाऽतिशेषान् जायाया आजहार । साऽग्र एव सुभिक्षा बभूव । तान्प्रतिगृह्य निदधौ ॥ [५] स ह प्रातः संजिहान उवाच । यद्बतान्नस्य लभेमहि, लभेमहि धनमात्राम् । राजाऽसौ यक्ष्यते

---

१ [ ] कोष्ठान्तरगतः पाठः मूलप्रतौ नास्ति किन्तु तस्य व्याख्या दीपिकायां दृश्यते । अतः मुद्रितपाटोऽत्र प्रस्तूयते ।

२ म उदपानमिति—मु. पा.

[स मा] सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ॥ [६] तं जायोवाच–हन्त पत इम एव कुल्माषा इति । तान् खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय ॥ [७] तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश ॥

[**स हेति** ॥] स उषस्तिरिभ्योच्छिष्टान् खादित्वावशेषितान् स्वोच्छिष्टान् जायार्थमाहृतवान् । सा जाया तदाहरणात्पूर्वमेव कृपालुभिरन्ने दत्ते सति भुक्त्वा भर्त्रा दत्तान्माषादीन् स्वीकृत्य सुरक्षितत्वेन स्थापितवती । स उषस्तिः परेद्युः प्रातः संजिहानो निद्रां परित्यजन्नेवमुवाच–बत अहो कष्टा क्षुद्बाधा । यद्यन्नस्य लेशमिदानीं वयं लभेमहि तथा सति धनमात्रां धनलेशं लभेमहि । कथमिति चेत् , उच्यते–असौ समीपदेशवर्ती राजा यक्ष्यते । मयि गते सति स राजा सर्वार्त्विज्यनिमित्तेन मां सर्वथा वरीष्यति । जाया तद्वचनं श्रुत्वा संचितान् माषान् ददौ ॥

तान् खादित्वा यज्ञभूमिं प्राप्य यत्रोद्गातारः स्तुवन्ति तस्मिन्नास्तावदेशे स्तोतुमुद्युक्तानुद्गातॄनुपेत्य तत्रोपविष्टान् प्रस्तोत्रादीन् प्रत्युषस्तेराक्षेपप्रकारं दर्शयति–

स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥ [८] प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता, तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ [९] एवमेवोद्गातारमुवाच । उद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ [१०] एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच । प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता, तां चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥

[**सहेति** ॥] अन्वायत्ता उपास्यत्वेन प्रस्तावभक्तिमनुप्राप्यावस्थिता प्रस्तोष्यसि प्रस्तावभक्तिगानं करिष्यसि । स्पष्टमन्यत् ॥

भीतानां प्रस्तोत्रादीनामौद्गात्रा उपरमं दर्शयति–

ते ह समारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे ॥ [११] ॥

[**स हेति** ॥] स्पष्टोऽर्थः ॥

॥ इति प्रथमस्याध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

◆

उषस्तिना सह राज्ञः संपन्नं वृत्तान्तं दर्शयति–

अथ हैनं यजमान उवाच । भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीति । उषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥ [१] स होवाच । भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्यैषिषम् । भगवतो वा अहमवित्त्यान्याऽनवृषि ॥ [२] भगवाꣳस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति । तथेति । अथ तर्ह्येत एव समि(म ?)तिसृष्टा[ः] स्तुवताम् । यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति । तथेति[1] यजमान उवाच ॥ [३] ॥

[अथेति] ॥ ये(ए)नमुषस्तिं यजमानो राजोवाच–हे मुने किन्नाम कोऽसीत्येवं पूज्यं त्वां वेदितुमिच्छामि । पर्यैशि(षि)षं श्रुतपूर्वं पूज्यं त्वामेवोद्दिश्य सर्वेषु ग्रामेष्वन्वेषणं कारितवानस्मि । अवित्तिरलाभः । त्वदलाभेनेतरानृत्विजो वृतवानस्मि । इत ऊर्ध्वे(र्ध्वं) त्वमेव मदीयसर्वार्त्विज्यहेतुना परिगृहीतः सन् सर्वं कुरु । तथेत्यङ्गीकृत्य इदमुवाच–यद्यहं त्वया..................एव पूर्ववृता ऋत्विजो मया सम्यगनुज्ञाताः स्तुवतां बहिष्पवमानादिस्तोत्रप्रयोगं कुर्वन्तु । तेषु न मे द्वेषोऽस्ति । किंत्वन्यत्किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति । अहं धनार्थी । ततो यावदेभ्यः सर्वेभ्य ऋत्विग्भ्यो धनं दद्यास्तावन्मह्यं देहि । इत्युक्तो राजा तथेत्यङ्गीचकार ॥

प्रश्नोत्तराभ्यां प्रस्तावभक्तेर्देवतां दर्शयति–

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद । प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यति इति । मा भगवानवोच[2]–कतमा सा देवतेति ॥ [४] प्राण इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति । प्राणमभ्युज्जिहते । सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता । तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत् तथोक्तस्य मयेति ॥ [५] ॥

---

[1] १. तथेति ह – मु. पा.

[2] २. अवोचत्–मु.पा.

[अथेति] ॥ प्रकर्षेणानिति जगत्प्रादौ चेष्टत इति प्राणः परमात्मा । प्राणमेवाभिलक्ष्य सम्यग्विशन्ति प्रलयकाले तस्मिन् लीयन्ते इत्यर्थः । प्राणमभिलक्ष्य उज्जिहते सृष्टिकाले तस्मादुत्पद्यन्त इत्यर्थः । मया देवताभिज्ञेनोपस्तिना तथोक्तस्य मूर्धा ते विपतिष्यतीत्येवं शप्तस्य तव मूर्धा व्यपतिष्यत् । शापनिमित्तोऽयं मूर्धापातः न तु परिज्ञानाभावमात्रेण । तस्मादनुपासकस्यापि कर्मण्यधिकारोऽस्ति इत्यर्थः ॥

प्रस्तोतुरिवोद्गातृप्रतिहत्तो(र्त्रो)रपि तत्तद्भक्तिदेवतोपदेशं दर्शयति—

अथ हैनमुद्गातोपससाद । उद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्—कतमा वा देवतेति ॥ [६] आदित्य इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति । सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता । तां चेदविद्वानुद्गास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ [७] अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तु(र्त)र्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि[1]मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत् । कतमा सा देवतेति ॥ [८] अन्नमिति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति । सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता । तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति [तथोक्तस्य मयेति] ॥ [९]

[अथ हेति] ॥ उच्चैः सन्तमुन्नतदेशोऽवस्थितं गायन्ति, ‘**चित्रं देवानामुदगात्**’ (ऋ. वे. १-१५१-१; ऐ. ब्रा. ३-९; अ. वे. १३-३-३५; २०-११७-१४; तै. सं. १-४-४३-१; २-४-१४-४; तै. ब्रा. २-८-७-३; तै. आ. १-७-६; २-१३-१; नि. १२-१६) इत्यादिमन्त्रैः स्तुवन्ति । पात्रेऽवस्थितान्नस्य मुखे प्रक्षेपः प्रतिहरणम् । प्राणप्रस्तावयोः प्रशब्दसामान्यम् । उच्चदेशस्थितादित्योद्गीथयोरुच्छब्दसामान्यम् । प्रतिह्रीयमाणान्न-प्रतिहारयोः प्रतिशब्दसामान्यं द्रष्टव्यम् । द्विरभ्यास उपास्तिसमाप्त्यर्थः ।

प्राणशब्दस्य परमात्मपरत्वं प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे नवमाधिकरणे चिन्तितम्—

मुखस्थो वायुरीशो वा प्राणः प्रस्तावदेवता ।
वायुर्भवेत्तत्र सुप्तौ भूतसारेन्द्रियक्षयात् ॥

---

[1] प्रत्यहरिष्यः -मु.पा.

संकोचोऽक्षपरत्वे स्यात्सर्वभूतलयश्रुतेः ।
आकाशशब्दवत्प्राणशब्दस्तेनेशवाचकः ॥[1]

आकाशवाक्यादुत्तरस्मिन्वाक्ये प्रस्तावनाम्नः सामभागस्य देवतायां प्रस्तोत्रा पृष्टायामुषस्तिरुत्तरं ददौ । तत्रत्यं वाकयमेतत्, ‘**प्राण इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्ज(ज्जि)हते । सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता**’ (छा. उप. १-११-५) इति तत्र प्राणशब्दोक्तो मुखबिलान्तवर्ति वायुर्भवेत्, सर्वभूतलयस्य तत्र सुसंपादत्वात्सुषुप्तिकाले भूतसाराणामिन्द्रियाणां प्राणवायौ प्रविलयादिति प्राप्त उच्यते–इन्द्रियमात्रविलयपरत्वे व्याख्यायमाने ‘**सर्वाणि ह वा**’ इत्यसौ सर्वशब्दः संकुचितः स्यात् । अत आकाशशब्दवत्प्राणशब्दोऽपि श्रौतरूढ्यैवकाराभ्यां ब्रह्मवाचकः । अस्ति प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि श्रौतरूढिः । ‘**प्राणस्य प्राणम्**’ (बृ. उप. ४-४-१८) इत्यत्र ब्रह्मविवक्षया द्वितीयप्राणशब्दप्रयोगात् तस्मादीश्वरः प्राणः ॥

॥ इति प्रथमस्याध्यायस्यैकादशः खण्डः ॥

◆

पूर्वोक्तप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारभक्त्युपासनस्तुत्यर्थं[र्थं] यदाख्यानमुदाहृतं तत्रान्नाभावनिमित्तावस्थोक्ता । तत्प्रसङ्गादन्नप्राप्तिहेतुभूतं सामोपदेष्टव्यमित्यारभते—

अथातः शौव उद्गीथः ॥

[**अथेति**] ॥ भक्त्युपास्तिकथानन्तरं तत्प्रसङ्गात्प्रति तमन्नप्राप्तिसाधनं यतो वक्तव्यम् । अन्तःकरणाद्देवताभूतैः श्वभिः संपादित्वाच्छौवोद्गीथ उत्कर्षेण गातव्यः । सामविशेषोऽभिधीयत इति शेषः ॥

शौव इत्युक्तो यः शुनां संबन्धस्तं विशदयति–

तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ॥ [१] तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव । तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुः । अन्नं नो भगवानागायतु । अशनायाम वा इति ॥ [२] तान् होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति । तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयांचकार ॥ [३] ॥

---

[1] ब्र. सू. न्या. पृ. १३७

[**तद्धेति**] ॥ ग्रामात्प्राच्यामुदीच्यामैशान्यां वा यावति दूरे मते सति ग्रहाणामुपरितनं तृणकटादिकं न दृश्यते । स एव ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायस्य मुख्यो देशः । तथा चान्यत्र श्रूयते, '**ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि ग्रामादच्छतिर्दर्श उदीच्यां प्रागुदीच्यां वा**' [?] इति । तद्ध तस्मिन्नेव देशे दल्भ्यस्य पुत्रो बकनामको मुनिर्मित्रयोः पुत्रो गालवनामकश्च स्वाध्यायमुद्वव्राज । उत्कर्षेण प्राप्त वा अत्र ग्लावो वेति वाशब्दः समुच्चयार्थः । एकोऽध्यापयत्यपत्रो(रो)ऽधीत इत्युभयोः स्वाध्यायप्राप्तिः । तस्मादुभयस्मै श्वेतवर्णः कश्चिद्देवः शुनो वेषं धृत्वा प्रादुर्बभूव । मुनिद्वयस्य देवभक्तिविशेषपरीक्षणाय स्वाध्यायपरितुष्टाया देवताया नीचजातिवेषधारणं तद्दृष्ट्वापि जुगुप्सामकृत्वा मुनिद्वयं भक्तिविशेषेण तत्रैव तस्थौ । तदानीमन्ये बालकाः श्वानस्तं श्वेतं श्वानमुपेत्यैवमूचुः–हे मुने प्रौढस्वरूपभगवान् पूज्यो भवान् नोस्मदर्थमन्नं मायतु (आगायतु ?) सामगानेन संपादयतु । अशनायाम वै अशितुमिच्छाम एव । एवमुक्तः श्वा(सः ?)तान् बालकान् शूनः इहैवास्मिन्नेव देशे परेद्युः प्रातःकाले मामुपसमीयात उपेत्य सम्यक् प्राप्नुत । वक्ष्यमाणस्य साम्नः प्रातःकाले गेयत्वमभिप्रेत्य तथोक्तत्वं तद्वचनं श्रुत्वा तन्मुनिद्वयं तथैव प्रातःकालपर्यन्तमत्रस्थाय श्ववेशधारिणां देवानामागमनस्य प्रतीक्षां चकार ॥

अनन्तरं स्वरूपधारिणां देवानां व्यापारविशेषं दर्शयति—

तꣳ[1] ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सꣳरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुः । ते ह समुपविश्य हिं चक्रुः ॥ [४] ॥

[**तं हेति** ॥] सोमयागमध्ये बहिष्पवमाननामकेन स्तोत्रेण स्तोतुमुद्युक्ताः प्रस्तोत्रादयो यथैव संरब्धाः परस्परं उपसृष्टा एकस्य पृष्ठतो इतरोऽगच्छत्सर्वे चात्वालदेशं संप(प्र)ति तदेतदस्माकं प्रत्यक्षमिति वक्तुमिदं शब्दः क्रियाविशेषणत्वेन प्रयुज्यते । एवमत्र बालकाः श्वान एकस्य पुच्छमन्यो मुखेन स्पृष्ट्वा प्रौढं श्वानमाससृपुः । ततस्ते ह श्वानः समुपविश्य हिं चक्रुः साम गातुं प्रथमभक्तिरूपं हिंकाररूपं कृतवन्तः ।

इदानीं तैर्गीयमानं साम दर्शयति–

ओ३मदा३म । ओं३ पिबाम । ओं३ देवो वरुणः प्रजापतिः सवितारऽन्नमिहारऽऽहरत् । अन्नपते३ऽन्नमिहारऽऽहरा२ऽऽहरो३मिति ॥ ५ ॥

---

१. ते–मु.पा.

[**आमिति ॥**] ॐकारेणात्र प्रौढस्वरूपो देवः संबोध्यते । अथवा तस्यापि गाने प्रवृत्तत्वादन्नप्रदः परमेश्वरः संबोध्यते । हे परमेश्वर क्षुधिता वयमन्नमदाम । हे परमेश्वर तृषार्ता वयमुदकं पिबाम । हे परमेश्वर देवोद्योतनात्मकवरुणः क्षुत्पिपासयोर्निवारयिता प्रजापतिः प्रजानां पालकः सविता भगवानादित्यस्त्वया परमेश्वरेण प्रेरितः सन्नस्मदर्थमन्नमिह देशे आहरत् आनयतु । हे अन्नपते सवितः अन्नमिह देशे आहराहर । सर्वथैवानय द्विरुक्तिरो(रा)दरार्थ(र्था) । पुनरप्योंकारः परमेश्वरस्मरणार्थः । तदेतत्सामद्वयं भक्तियुक्तेन मुनिद्वयेन यथा लब्धं तथाऽन्योऽपि लभेतेति तात्पर्यार्थः ॥

॥ इति प्रथमस्याध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥

प्रासङ्गिकमन्नप्रदं सामोपदिश्य प्रकृतमेव सामावयवविषयमुपासनान्तरमुच्यते । यथा प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारभक्तयः सामावयवाः तथाक्षावुकारादयस्तोता अपि सामायवयवाः ऋचमाश्रित्य प्रवृत्तायां सामरूपायाङ्गीकृतावृचक्षरव्यतिरिक्ता गतिकालपरिपूरणार्थास्तत्तद्देवतानां हर्षोत्पादनार्थाश्चाम्नाताः । अक्षरविशेषा हावुहायीत्येवमादाय स्तोता इत्युच्यन्ते । तेषु स्तोत्रेषु भूलोकादिदृष्टिमाह–

अयं वाव लोको हावु(उ)कारः । वायुर्हाइकारः । चन्द्रमा अथकारः । आत्मेहकारः । अग्निरीकारः ॥ [१] आदित्य उकारः । निहव एकारः । विश्वे देवा ओहाइकार (औहोयिकारः ?) । प्रजापतिर्हिंकारः । प्राणः स्वरः । अऽन्नं य(या) । वाग् विराट् ॥ [२] अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो क्षुष्कारः [हुंकारः ?] [३] ॥

[**अयमिति** ॥] हावुहापीत्यादौ न कोऽपि वाच्यार्थोऽस्ति । किन्त्वक्षरस्वरूपमात्रं स्तोभत्वेन विवक्षितमिति दर्शयितुं कारप्रत्ययः प्रयुज्यते । **वर्णात्कार**[1] इत्येवं व्याकरणे स प्रत्ययो विहितः । तेष्वक्षरमात्रस्वरूपेषु हावुप्रभृतिषु स्तोभेषु त्रयोदशसु क्रमेण भूलोकादीनां दृष्टिः कर्तव्या । आत्मशब्देन देहस्वामी जीवो विवक्षितः । तद्दृष्टिरिहेति स्तोभे कर्तव्या । निवहशब्देनाभीष्टदेवताह्वानमुच्यते । तद्दृष्टिमेकारस्तोभे कुर्यात्स्वर इति कश्चित्स्तोभः । तस्मिन् प्राणदृष्टिः ये ते स्तोभेऽन्नदृष्टिः वागिति स्तोभे विराडाख्यछंदो देवतादृष्टिः, जगत्सृष्टेः प्रागवस्थायामनिर्वाच्याया विद्यामात्रशरीरधारी यः प्रजापतिः सोऽयमनिरुक्त शब्देनोच्यते, ‘**अनिरुक्तः प्रजापतिः**’ [कौ.ब्रा. २३-२; २९-७ तां.ब्रा.

---

[1] वा. २२२७, पा.सू. ३-३-१०८

७-८-३] इति श्रुत्यन्तरात् । तद्दृष्टिं हुविति स्तोभे कुर्यान्नास्मिन्स्तोभे हकार उकारो वा विद्यते । किंत्वस्याक्षरविशेषं ध्वनिमात्रमनुकर्तुं हुविति प्रयुज्यते । यथा वंशदलविभागध्वनिमनुकर्तुं पटपटेति प्रयोगः तद्वत् स च ध्वनिमात्ररूपस्तोभः संचरो भवति, बहुषु सामसु संचरणात् । उक्तस्तोभो गणनया त्रयोदेशो भवति । अत्र स्तोभसमूहस्यैक उपासनं न विधित्सितम् । एतेषां स्तोभानां क्वापि सहाम्नानाभावात् प्रत्येकं पृथगुपासने सति त्रयोदशैतान्युपासनानि संपद्यन्ते । ततः कर्माङ्गभूते साम्नि य स्तोभो यदा प्रयुज्यते स एव तदोपासनीयः ॥

उक्तोपासनानां फलमाह–

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहः । अन्नवानन्नादो भवति ।
य एतामेवꣳ साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद ॥ [४]

[**दुग्धेऽस्मा इति** ॥] साम्नां सामावयवानां स्तोभानां संबन्धिनीम् एताम् , **'अयं वाव लोकः'** [छा. उप. १-१३-१] इत्यादिवाक्योक्तां उपनिषदं यो ह्यस्योपास्तिं वेद अनुतिष्ठति । अन्यत् सर्वमुद्गीथनामाक्षरोपास्तिफलवद्व्याख्येयम् । अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥

इति प्रथमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्दीं निवारयन् ।
पुमार्थांश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थं महेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येण विरचिते
माधवीये वेदार्थप्रकाशे सामोपनिषद्व्याख्याने
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

श्रीसायणाचार्यविरचिता छान्दोग्योपनिषद्दीपिका

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

॥ द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते ॥

प्रथमाध्याये सामावयवानामोंकारादीनां स्तोभाक्षराणां हाउकारादीनां चोपासनमनेकफलमुद्दिश्येदानीमवयवीभूतस्य समस्तस्य साम्न उपासन(नं) उपदेष्टु(ष्टुं) प्रतिजानीते–

समस्त[स्य] खलु साम्न उपासनम् ॥

[**समस्तेति** ॥] समस्तस्य सर्वावयवविशिष्टस्य हिंकारादिभिः पञ्चभिः सप्तभिश्च भक्तिभिरुपेतस्य साम्न उपासनं वक्ष्यत इति विशेषः । खल्विति शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः ।

समस्ते साम्न्युपासनं विधत्ते–

साधु ॥

[**साध्विति** ॥] समस्तं साम साधु शोभनमित्युपासीतेत्यर्थः । उपासाविधिपरत्वादेव साधुशब्दोऽत्र न पूर्वोक्तैकदेशोपासननिन्दापरिहारः । नन्वत्र समस्ते सामोपासने पूर्वं विद्यमानं साधुत्वमभिधीयताम् । किमित्यश्रुतसाधुत्वोपास्तिविधिपरत्वमङ्गीक्रियत इति चेत् – मैवम् । साधु सामेत्युपसंहारदर्शनात् । उपसंहारवलेनोक्तमस्यापि नेयत्वादन्यथोपक्रमोपसंहारयोरेकवाक्यता न स्यादिति साधुत्वोपास्तिविधिपरत्वमङ्गीकियते ॥

साधुसामशब्दयोरेकार्थत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां विवेचकप्रसिद्ध्या लोकप्रसिद्ध्यानुभवेन चोपपादयति–

यत्खलु साधु [तत्] सामेत्याचक्षते । यदसाधु तदसामेति ।।[१] तदुताप्याहुः । साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः । असाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥ [२] अथोताप्याहुः । साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुः । असाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥[३]॥

यत्कार्यं खलु लोके साधु सम्यग् दोषरहितं प्रसिद्धं तत् कार्यं सामेत्याचक्षते विवेकिनः कथयन्ति । अथ व्यतिरेकः – यत्कार्यमसाधु अप्रशस्तं तदसामेति विवेकिप्रसिद्धिः । तत्रैव साध्वसाधुविचारणे उताप्यपि चाहुर्लौकिकाः । साम्ना एवं राजानम् अमात्यं चोपागात् उपगतवान् । राजादीनां समीपं प्राप्तवानित्यर्थः । इतिशब्दः प्रकाशवाची । एवमाहुरिति संम(ब ?)द्धः साधुना शोभनाभिप्रायेणेनं राजानममात्यं वोपागादित्येव । अनेन प्रकारेणैव तद्यत्र शोभनं कार्यं पश्यन्ती(न्ति) तत् तत्राहुर्वदन्ति लौकिकाः । अथ व्यतिरेकः – यत्र पुनरप्रशस्तं कार्यं पश्यन्ति तत्र असाम्ना दुष्टाभिप्रायेणैनं राजानममात्यं चोपागादित्याहुः । एतस्यैवाभिप्रायः । असाधुना अप्रशस्ताभिप्रायेण एनमुपागादित्येव तत्तत्राहुरिति लौकिकप्रसिद्धिः, स्वानुभाववर्णनम् । अथशब्दोऽवान्तरवाक्योपक्रमार्थः । उतेति च निष्पन्नसाधुकार्यवतः पुरुषा बतेत्यनुकम्पयन्तो नोऽस्माकं साम साधु कार्यं संवृत्तमिति । आहुर्वर्णयन्ति । एतस्यैवाभिप्रायं यत्कार्यं साधु शोभनं भवति तत्कार्यम् । बतेत्यनुकम्पयन्तः साधु शोभनमित्येवमाहुर्नान्यथा । व्यतिरेकम् – अनभीष्टे कार्ये निष्पन्ने बतेति जुगप्सां कुर्वन्तः पुरुषाः नोऽस्माकं असाम अशोभनं मा भूदित्याहुः । एतस्यैवाभिप्रायः – यत्कार्यमसाध्वशोभनं भवति तत्कार्यं बतेति विषादं कुर्वन्तः पुरुषाः असाध्वशोभनमित्येवाहुर्नान्यथा ॥

अतः [साधु] सामशब्दयोरेकार्थत्वं समस्ते साम्नि साधुत्वोपास्तेः फलमाह–

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्यासो:(शो)[1] ह यदेनꣳ साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥ [४]

स यो यः कश्चित्पुमान् एवं समस्तं साम साधुगुणविद्वान् जानन् समस्तं साम साध्वित्युपास्ते तस्यै तद्वक्ष्यमाणं फलम् । अभ्याशो ह क्षिप्रमेव भवतीत्यर्थः । यच्छब्दः क्रियाविशेषणार्थः । एवं समस्तं साम साध्वित्युपासकं साधवः प्रशस्ता धर्माः श्रुतिस्मृतिचोदिता आगच्छेयुश्च अनुष्ठिता भवन्ति । न केवलमनुष्ठिता भवन्ति अपि तर्ह्युप च नमेयुश्च स्वस्वफलप्रदत्वेनोपस्थिताश्च भवेयुरित्यर्थः ॥

---

[1] द्र. स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशा ह यदेनं साधवो......– छा. उप. ३–१९–४

॥ इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये सामवेदार्थप्रकाशे
उपनिषद्व्याख्याने द्वितीयाध्यायस्य
प्रथमः खण्डः ॥१॥

◆

समस्तानि सामानि साधुत्वगुणविशिष्टतया उपास्यानीत्युक्ते कानि पुनस्तानीति विशेषजिज्ञासा जायते । अतस्तान्युच्यन्ते । तत्र प्रथमं लोकविषयं सामोपासनं दर्शयति–

लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत ॥

नन्विति । ननु लोकादिदृष्ट्या सामोपास्तिरत्र विधीयते । न साधुत्वदृष्ट्या । अतः कथं साधुत्वदृष्ट्योपस्यानि सामानि प्रदर्श्यन्त इत्यभिधीयते । सत्यं तथापि साधुशब्दार्थस्य ब्रह्मणो वा लोकादिकारणस्य लोकादावनुगतिरस्ति मृदादेरिव घटादौ । अतो यथा कार्यरूपघटादिदृष्टिः कारणरूपमृदादिदृष्ट्यनुगता । एवं साधुदृष्ट्यनुगतलोकादिदृष्टिः । अतो न विरोधः । यद्यपि धर्मस्येव ब्रह्मणोऽपि लोकादिकारणत्वमस्ति तथाप्यत्रोपास्तिप्रकरणे धर्म एव साधुशब्दवाच्यः । साधुकारी साधुर्भवतीति कार्यविषय एव साधुशब्दप्रयोगदर्शनात् । ननु तर्हि कार्येषु कारणस्य साधुशब्दार्थस्यानुगतत्वादर्थात्साधुत्वदृष्टेः प्राप्तत्वात् साधुषामेत्युपास्त इति पृथग्विधेयता न स्यात्–मैवम् । शास्त्रगम्यत्वाद्धर्मस्य शास्त्रविहितानामेव धर्माणामुपास्त्यता न विद्यमानत्वमात्रेण । अतः साधुषामेत्युपासीतेति पृथग्विधिः । लोकेषु पृथिव्यन्तरिक्षादित्यलोकेषु पञ्चविधं हिंकारादि पञ्चभक्तिभेदेन पञ्चप्रकारं साधुत्वगुणकं निखिलं सामोपासीत । यथा **'प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयत्'** [वै.श्रौ.सू. २-७; सत्या.श्रौ.सू. २-२-३२] इत्यत्र हविरभिघारणे न प्रयाजशेषस्य संस्कार्यत्वात्प्रयाजशेषं हविरभिघारयेदिति विभक्तिविपरिणामस्तथात्रापि पञ्चविधे साम्नि लोकादिदृष्टेः कर्तव्यत्वालोकान् पञ्चविधे साम्न्युपासीतेति विभक्तिपरिणामो द्रष्टव्यः । यद्वा **'सह शाखया प्रस्तरं प्रहरन्ति'** [का.श्रौ.सू. ४-२-४२] इत्यत्र प्रस्तरेण सह शाखां प्रहरतीति विभक्तिव्यत्ययस्तद्वदत्रापि लोकान् पञ्चविधे साम्न्युपासीतेति विभक्तिव्यत्ययो दृष्टव्यः ॥

उपास्तिप्रकारं दर्शयति–

पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनम् ॥

पृथिवीति ॥ पृथिवी हिंकार इत्युपासीत पृथिवीहिंकारयोः प्राथम्यसादृश्यात् । अग्निः प्रस्ताव इत्युपासीत, अग्नौ हि कर्मणां प्रस्तूयमानत्वात् । प्रस्तावश्च साम्नो भक्तिः । अन्तरिक्षमुद्गीथ इत्युपासीत । यस्मादन्तरिक्षगानं गकारविशिष्टश्चोद्गीथस्तस्मादन्तरिक्षमुद्गीथ इत्युपास्तिर्युक्ता । आदित्यः प्रतिहार इत्युपासीत । प्रतिहारो भक्तिः । आदित्यप्रतिहारयोरुभयोरपि मां प्रति मां प्रतीति प्रामाण्यमुख्यत्वात् । द्यौर्निधनमित्युपासीत ।

इतो गतानां द्युलोके निधनाद्वृत्तवर्तिष्यमाणयोः सांकर्यशंका मा भूदिति वृत्तस्य विषयभेदं दर्शयति-

इत्यूर्ध्वेषु ॥ [१] ॥

इत्येवमूर्ध्वगतेषु लोकेषु विषयभूते सामोपासनमुक्तमत्यिर्थः ॥

वक्ष्यमाणमर्थं प्रतिजानीते—

अथाऽऽवृत्तेषु ॥

इतीति ॥ अथ ऊर्ध्वगतलोकविषयसामोपासनकथनान्तरम् । आवृत्तेष्ववाङ्मुखेषु विषयभूतेषु पञ्चविधस्य साम्न उपासनमुच्यत इति शेषः । लोकानां गतिविशिष्टत्वात्तद्विशिष्टलोकदृष्ट्यैव सामोपासनमत्र विधीयते ॥

प्रतिज्ञातमर्थं दर्शयति-

द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ [२] ॥

द्योरिति ॥ द्यौर्हिंकार अवरोहस्थितत्वं द्युलोकस्य प्राथम्यात् । आदित्यः प्रस्ताव इत्युपासीत आदित्योदयानन्तरमेव कर्मणां प्रस्तूयमानत्वात् । अन्तरिक्षमुद्गीथ इत्युपासीत । तयोः साम्यं प्रागेव दर्शितम् । अग्निः प्रतिहारः, अग्नेरपि प्राणिभिः प्रतिहरणात् । पृयिवी निधनं द्युलोकादागतानां पृथिव्यां निधनात् ॥

उपास्तिफलं दर्शयति—

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चाऽऽवृत्ताश्च य एतं(त)देवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ [३] ॥

कल्पन्त इति ॥ पुमानेवमुक्तप्रकारेण विद्वान् जानन् लोकेषु विषयेषु एतत्पञ्चविधं भक्तिभेदेन पञ्चप्रकारं समस्तं साम साध्वित्युपास्ते । अस्मा उपासकाय पृथिव्यादयो लोका ऊर्ध्वा उर्ध्वगता आरोहेणावस्थिता आवृत्ताश्चावरोहेणावस्थिताश्च कल्पन्ते भोगाय समर्था भवन्त्येव ॥

इति द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥

लोकस्थितेर्वृष्टिनिमित्तत्वाल्लोकविषयसामोपासनानन्तरं वृष्टिविषयं सामोपासनं दर्शयति—

वृष्टौ पञ्चविधꣳ सामोपासीत ॥

वृष्टाविति ॥ अत्रापि विभक्तेर्विपरिणामेन व्यत्ययेन वा वृष्टिं पञ्चविधे साम्न्युपासीतेत्यर्थः ॥

तदुपास्तिप्रकारं दर्शयति·—

पुरो वातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनम् ॥ [२]

पुर इति ॥ पुरो वातमुपक्रम्योद्ग्रहणपर्यन्ता वृष्टिः सामापि हिंकारादि निधनपर्यन्तम् । अतः प्राथम्यसाम्यात्पुरो वातो हिंकार इत्युपासीत । पुरो वातानन्तरं मेघो जायते । स प्रस्तावो वर्षति । स प्रस्ताव इत्युपासीत । प्रावृषि मेघजनने सति वृष्टः(ष्टेः) प्रस्तावः प्रसिद्धः । मेघ जननान्तरं यद्वर्षति स उद्गीथः श्रेष्ठत्वसाम्यात् । ततो यद्विद्योतते प्रकाशते स्तनयति शब्दं करोति स प्रतिहारः प्रतिहर्तृत्वसाम्यात् । ततो यद् गृह्णाति उद्ग्रहणनिधनयोः समातिसाम्यात् ॥

उपास्तिफलं दर्शयति—

वर्षति हास्मै वर्षयति ह एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ [२] ॥

वर्षतीति ॥ यः पुमानेवमुक्तप्रकारेण विद्वान् जानन् एतत्पञ्चविधं साम वृष्टौ विषयभूताया उपास्ते अस्मा उपासकाय इच्छतो वर्षत्येव । न केवलं वर्षति वर्षयति च ॥

॥ इति द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥

वृष्टिपूर्वकत्वात्सर्वासामपां वृष्टिविषयसामोपासनानन्तरमब्विषयं सामोपासनमुच्यते—

सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपासीत ॥१॥

सर्वास्विति ॥ सर्वा आपः पञ्चविधे साम्न्युपासीतेत्यर्थः ।

तदुपास्तिप्रकार उच्यते—

मेघो यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्‌गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥ [१] ॥

मेघ इति ॥ यच्छब्दः क्रियाविशेषणार्थः । मेघो यत्संप्लवते एकीभूय परस्परं घनीभवति । यदा मेघोन्नतिस्तदा संप्लव इति लोक प्रसिद्धिः । स हिंकारः, आरंभसाधर्म्यात् । यद्वर्षति स प्रस्तावः, अपां सर्वतो व्याप्तुं प्रस्तुतत्वात् । आपः प्राच्यः पुरोगामिन्यः सत्य स्पन्दन्ते प्रस्रवन्ति स उद्‌गीथः श्रेष्ठत्वसाधर्म्यात् । आपः प्रतीच्य सत्यः स्यन्दन्ते स प्रतिहारः, प्रतिशब्दस्योभयत्र साम्यत्वात् । **'अप्यक्षर[वर्ण]साम्यान्निर्ब्रूयात्'** (नि. २-१) इति यास्कवचनात् । समुद्रो निधनं तदन्तत्वादपां गतेः ॥

उपास्तिफलं दर्शयति–

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान् भवति स एतदेवं विद्वान् सर्वाप्सु-(स्वप्सु) पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ [२] ॥

न हाप्स्विति ॥ यः पुमानेवं विद्वान् जानन् सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपास्ते स पुमानप्सु न प्रैति ह न म्रियते । एवमप्सुमानुदकवांश्च भवति ॥

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥४॥

ऋतुव्यवस्थाया उदकनिमित्तत्वादुदकविषयोपास्त्यनन्तरं ऋत(तु)विषयसामोपासनमाम्नायते—

ऋतुषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत ॥

ऋतुष्विति ॥ ऋतूनां च [पञ्च]विधे साम्न्युपासीतेत्यर्थः ।

उपास्तिप्रकार उच्यते–

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्‌गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥ [१] ॥

वसन्त इति ॥ वसन्तो हिंकारस्तयोः प्राथम्यसादृश्यात् । ग्रीष्मः प्रस्तावः प्रावृडर्थतया यवादिसंग्रहस्य प्रस्तूयमानत्वात् । वर्षा उद्गीथस्तयोः श्रेष्ठत्वसाधर्म्यात् ।

शरत्प्रतिहारः रागिणां मृतानां च तत्र परिहरणात् । ...... ।[1] घनशीतनिवारणार्थ(र्थं) प्राणिनां हेमन्तेऽग्निनिधनात् ॥

उपास्तिफलमाम्नायते-

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति य एतदेवं विद्वान् ऋतुषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ [२] ॥

कल्पन्त इति ॥ यः पुमानेवं जानन् ऋतुषु पञ्चप्रकारं सामोपास्ते तस्मा अस्मा उपासकाय ऋतवः कल्पन्ते स्वानुरूपभोगप्रदानाय समर्था भवन्ति। ऋतुमान् तत्रत्यैर्भोगैः सम्पन्नश्च भवति ॥

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥

सम्यक् संपन्नेषु ऋतुषु पशूनां समृद्धेः ऋतुविषयोपास्त्यनन्तरं पशुविषयसामोपासनमाम्नायते-

पशुषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत ॥

पशुष्विति ॥ पशून् पञ्चविधे साम्न्युपासीतेत्यर्थः ॥

उपास्तिप्रकार उच्यते-

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वः(श्वाः) प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ॥ [१] ॥

अजा इति ॥ अजा हिंकारः प्राथम्यसादृश्यात् । **'अजः[2] पशूनाम्'** इत्याम्नानात् । अवयः प्रस्तावः अवीनामजसाहचर्यस्य प्रस्तूयमानत्वात् । गाव उद्गीथः श्रेष्ठत्वसादृश्यात् । अश्वः प्रतिहारः प्रहरणात् पुरुषान् प्रत्यश्वानाम् । पुरुषो निधनं पुरुषाश्रयत्वात्पशूनाम् ॥

उपास्तिफलमाह-

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान् भवति य एतदेवं विद्वान् पशुषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ [२] ॥

---

[1] त्रुटितः पाठः ।

[2] द्र. छा. उप. शां. भा. २-६-१

भवन्तीति ।। यः पुमानेवं जानन् पशुषु पञ्चविधं सामोपास्ते तस्य पशवो भवन्ति । असौ पशुमान् पशुफलैर्योगभोग्यादिभिः संपन्नो भवति ।।

।। इति द्वितीयाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ।।

ग्राह्यविषयसामोपास्त्यनन्तरं ग्राहकेन्द्रियसामोपासनमुच्यते–

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत ।।

प्राणेष्विति ।। परोवरीयस्त्वगुणके पञ्चविधे साम्नि परोवरीयः प्राणानुपासीतेत्यर्थः । भक्तीनामुत्तरश्रैष्ठ्यात्परोवरीयस्त्वं साम्नः ।।

एवं प्राणानामुपास्तिप्रकारं दर्शयति–

प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनम् ।।

प्राण इति ।। प्राणशब्देनात्र घ्राणं विवक्षितम् । घ्राणभागभ्रमणनायात्तस्य प्राथम्यात् । वाक् प्रस्तावः सर्वस्य वाचि प्रस्तूयमानत्वात् । प्राणाद्वाग्वरीयसी, अप्राप्तस्याप्यभिधायकत्वाद्वाचं प्राप्तस्यैव सुगन्धादेर्ग्राहकत्वात् घ्राणस्य । चक्षुरुद्गीथ श्रेष्ठत्वसाम्याच्चक्षुर्वाचो वरीयः बहुतरविषयत्वात् । श्रोत्रं प्रतिहारः प्रतिहर्तृत्वसाम्यात् । चक्षुषः श्रोत्रं वरीयः सर्वतः शब्दग्राहकत्वात् । पुरोवर्तिग्राहकं हि चक्षुः । मनो निधनं पुरुषस्य भोग्यत्वेन स्थितानां सर्वेन्द्रियविषयाणां मनसि विधीयमानत्वात् । श्रोत्रान्मनो वरीयः सत्त्वे(र्वे ?)न्द्रियविषयग्राहकत्वात् प्रतिनिधयतशब्दमात्रमाह । कं हि श्रोत्रम् ।।

इन्द्रियाणां परोवरीयस्त्वं दर्शयति–

परोवरीयाꣳसि वा एतानि ।। [१] ।।

परोवरीयांसीति ।। एतानि घ्राणादीन्द्रियाणि परोवरीयांस्येव तेषां परोवरीयस्त्वे हेतवो दर्शिताः ।।

उपास्तिफलमाह—

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयस(सो)[१] लोकान् जयति य एतदेवं विद्वान् प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्ते ।।

---

[१] परोवरीयसो ह–मु. पा.

परोवरीय इति ॥ एतद्विशिष्टिं परोवरीयः सामैवं विद्वान् य उपास्ते अस्य जीवनं परोवरीयो भवत्येव । असौ परोवरीयः सः उत्तरोत्तरश्रेष्ठान् जयति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

उपसंहरति–

इति तु पञ्चविधस्य ॥ [२] ॥

इति त्विति ॥ एवं पञ्चविधस्य साम्न उपासनमुक्तमिति शेषः ॥

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥

वक्ष्यमाणार्थं प्रतिजानीते–

अथ सप्तविधस्य ॥

अथेति ॥ अथ पञ्चविधसामोपास्त्यनन्तरं सप्तभक्तिभेदेन सप्तप्रकारस्य साम्न उपासनं वक्ष्यत इति शेषः ।

तत्र वाग्विषयसामोपासनं दर्शयति–

वाचि सप्तविधꣳ सामोपासीत ॥

वाचीति ॥ सप्तविधे साम्नि वाचमुपासीतेत्यर्थः ॥

उपास्तिप्रकारं दर्शयति–

यत्किंच वाचो ह(हु)मिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः । [१] यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥ [२] ॥

यत्किंचेति ॥ वाक्शब्दस्य हुंकार इति यथा विशेषः किंच कोऽप्यस्ति । स हिंकार उभयत्र हकारसाधर्म्यात् । प्र इति शब्दस्वरूपं यदस्ति स प्रस्ताव उभयोरपि प्रशब्दसाधर्म्यात् । आ इति यच्छब्दस्वरूपं स आदिः, अकारसाधर्म्यात् । आदिरित्योंकारोऽभिधीयते सर्वादित्वात्तस्य शब्दस्योमिति यत्स्वरूपं स उद्गीथः, उच्छब्दसाधर्म्यात् । प्रतीतिशब्दस्य यत्स्वरूपं स प्रतिहारः प्रतिशब्दसाधर्म्यात् । उपेतिशब्दस्वरूपं यदस्ति स उपद्रवः उपपूर्वकत्वादुपद्रवस्य । नीतिशब्दस्य यत्स्वरूपं तन्निधनं निशब्दसाम्यात् ॥

उपास्तेः फलं दर्शयति–

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतदेवं विद्वान् वाचि सप्तविधꣳ सामोपास्ते ॥ [३] ॥

दुग्ध इति ॥ व्याख्यातपरमेतत् खलु उक्तप्रकारेणैवावयवशः सप्तधाविभक्तममुं प्रत्यक्षेण दृश्यमानमादित्यं सप्तविधं भक्तिभेदेन सप्तप्रकारं सामेत्युपास्ते यः पुमान् तस्य तदादित्यप्राप्तिः फलमिति वाक्यशेषः ॥

॥ इति द्वितीयस्याध्यायस्याष्टमः खण्डः ॥

वाक्प्रवृत्तेरादित्योदयनिमित्तत्वाद्वाग्विषयसप्तविधसामोपास्तिप्रदर्शनान्तरमादित्यविषयसप्तविधसामोपास्तिं दर्शयति–

अथ खल्वमुमादित्यꣳ [सप्तविधꣳ] सामोपासीत ॥

अथेति ॥ ननु साम्नि आदित्योपास्तिः प्रथमाध्यायेऽभिहिता सत्यम्, तच्च सामावयवे प्रदर्शितम् । इदानीं सप्तविधे समस्ते साम्न्यभिधीयत इत्यपुनरुक्तिः । अथवा वाग्विषयसामोपासनानन्तरमिदानीं खलु सर्वलोकप्रत्यक्षं सवितारमवयवविभागेन समस्ते साम्न्यध्यस्य सप्तविधं हिंकारादिभेदेन सप्तप्रकारं सामोपासी[ते]त्यर्थः ॥

कुत आदित्यस्य सामत्वमित्यत आह–

सर्वदा समस्तेन [साम] मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥ [१] ॥

सर्वदेति ॥ यथा चन्द्रस्य शुक्लपक्षे वृद्धिः कृष्णपक्षे क्षयः तथा आदित्यस्य कालभेदेन वृद्धिक्षययोरभावात् सर्वदा समः, तेन समत्वेन साम सर्वेण जनेनासावादित्यो मां प्रति मां प्रत्युदेतीति विज्ञायोच्यते । अतः सर्वस्य जनस्य समानबुद्ध्युत्पादकत्वात् । सर्वेण समः तेन समत्वेन हेतुना सममिति । तथा चाम्नायते–'**तस्मात् सर्व एव मन्यते । मां प्रत्युदगादिति**' [तै. सं. ६-५-४-२] इति विषयव्याप्त्यर्थं हेत्वन्तरकथनं न पूर्वत्रापरितोषात् ।

वक्ष्यमाणं बुद्धिसमाधानाय संक्षिप्य दर्शयति–

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात् ॥

तस्मादिति ॥ तस्मिन्नादित्ये अवयवविभागेनेमानि वक्ष्यमाणानि सर्वाणि पश्वादीनि समस्तानि भूतानि प्राणिजातानि अन्वायत्तानि उपजीव्यत्वेनानुगतानीति विद्याज्जानीयादित्यर्थः ॥

कथमित्यत्राह–

तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्ताः । तस्मात्ते हिं कुर्वन्ति । हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ [२] ॥

तस्येति ॥ तस्यादित्यस्योदयात्प्राक् यद्रूपं स हिंकारो भक्तिविशेषः । हि यस्मादेते आदित्याख्यस्य साम्नो हिंकारभाजिनः हिंकारस्य भक्तिभजनशीलाः तस्मात्ते पशवो हिंकुर्वन्तीति युक्तमित्यर्थः ॥

उदयात्प्राक् विद्यमानस्यादित्यस्वरूपस्य हिंकारो ध्यानमभिधाय उदयसमनन्तरमेव विद्यमानस्यादित्यस्वरूपस्य प्रस्तावे ध्यानप्रकारं दर्शयति–

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशꣳसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ [३] ॥

अथेति ॥ अथ उदयात्प्राग्विद्यमानस्य सवितृरूपस्य हिंकारदृष्टिरनन्तरं प्रथममुदिते सवितर्यद्रूपं स प्रस्ताव इति दृष्टिं कुर्यात् । यत्तस्य प्रस्तावभक्तिरूपमस्यादित्यस्य साम्नस्तद्रूपं मनुष्या अन्वायत्ता उपजीव्यत्वेनानुगुणाः । यस्मादेवं तस्मात्ते मनुष्याः प्रस्तुतिकामाः तस्यैव विवरणप्रशंसाकामा इति । हि यस्मादेतस्यादित्याख्यस्य साम्नः प्रस्तावभाजिनः प्रस्तावाख्यभक्तिर्भजनशीलाः तस्मात्ते प्रशंसाकामा इति युक्तमित्यर्थः ॥

अनन्तरं संगववेलायां सवितृरूपस्यादित्याख्ये सामभक्तिविशेषे दृष्टिं दर्शयति–

अथ यत्संगववेलायाꣳ सामादित्यस्तस्य [स आदिस्तदस्य] वयाꣳस्यन्वायत्तानि । तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्भण(णा)न्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥ [४] ॥

अथेति ॥ अथ प्रथमोदितादित्यरूपस्य प्रस्तावे दृष्ट्यनन्तरं संगववेलायां गवां रश्मीनां संङ्गः गवां वा वत्सैः सा संगववेला तस्यां आदित्यस्य यद्रूपं स आदिरिति दृष्टिं कुर्यात् । आदिशब्देनात्रोंकाररूपो भक्तिविशेषोऽभिधीयते यत्तस्यादिभक्तिरूपं आदित्यादित्यसाम्नो स्तद्रूपं वयांसि पक्षिणोन्वायत्तानि उपजीवन्तीत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात्तानि वयांस्यन्तरिक्षे

आकाशे अनारम्भणान्यनालम्बनानि स्वव्यतिरिक्तालम्बनरहितानि सन्ति । आत्मानमेवालम्बनत्वेनादाय गृहीत्वा परितो गच्छन्ति । हि यस्मादेतस्यादित्याख्यस्य साम्न अकारसाम्यात् आदिभाजीनि आदिभक्तिजननशीलानि तस्मात्तान्यनारम्भणान्यात्मानमादाय परिपतन्तीति युक्तमित्यर्थः ॥

अथ मध्याह्ने सवितृरूपस्योद्गीथे दृष्टिं दर्शयति—

अथ यत्संप्रति मध्यन्दिने स उद्गीथः । त[द]स्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ [५] ॥

अथेति ॥ अथ संगवे सवितृरूपस्यादिभा(भ)क्तौ दृष्ट्यन्तरं संप्रति मध्यन्दिने ऋजुमध्याह्ने आदित्यरूपस्य यद्रूपं स उद्गीथ इति दृष्टिं कुर्यात् । यत्तस्योद्गात्राख्यस्य भक्तिरूपमस्यादित्यस्य साम्नस्तद्रूपं देवा द्योतनादिगुणयुक्ता इन्द्रादयोऽन्वायत्ता उपजीवन्ति । अतिशयेन द्योतनात्तत्काले यस्मादेवं तस्मात्ते देवाः प्राजापत्यानां मध्ये सत्तमाः अतिशायेन सन्तः । हि यस्मादेतस्यादित्याख्यस्य साम्नः उद्गीथभाजिनः उद्गीथभक्तिभजनशीलाः तस्मात्ते प्राजापत्यानां सत्तमा इति युक्तमित्यर्थः ॥

मध्यंन्दिनादूर्ध्व(र्ध्वं) अपराह्णात्प्रागादित्यरूपस्य प्रतिहारभक्तौ दृष्टिं दर्शयति—

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नीवपद्यन्ते(०नावपद्यन्ते) प्रतिहारभाजिनो ते(ह्ये)तस्य साम्नः ॥ [६] ॥

अथेति ॥ अथ तदनन्तरं मध्यन्दिनादूर्ध्वंमपराह्णात्प्रागादित्यस्य यद्रूपमस्ति स प्रतिहार इति इष्टं (दृष्टिं) कुर्यात् । अस्यादित्यस्य साम्नि तत्प्रतिहारभक्तिरूपं गर्भा अन्वायत्ता उपजीवन्ति । अतस्ते गर्भादूर्ध्वं प्रतिहृताः सन्तोऽपि नावपद्यन्ते नाधः पतन्त(न्ति) । यतोऽस्य ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षं श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्न इति ।

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्याऽऽरण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षꣳ श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ [७] ॥

अथेति ।। अथोक्तदृष्ट्यनन्तरमपराह्णादूर्ध्वमस्तमयात्प्रागादित्यस्य यद्रूपमस्ति स उपद्रव इति दृष्टिं कुर्यात् । उपद्रवो भक्तिविशेषः । अस्यादित्यस्य तद्रूपमारण्याः पशवोऽन्वायत्ता उपजीवन्ति । यस्मादेवं तस्मात्ते आरण्याः पुरुषं दृष्ट्वा भ्रान्ताः सन्तः कक्षमारण्यं श्वभ्रं गर्तं भयशून्यमिति उपद्रवन्त्युपगच्छन्ति । अतो दृष्टोपद्रवणादेतस्यादित्यस्य साम्न उपद्रवाख्यभक्तिभजनशीला यस्मात्कक्षं श्वभ्रमुपद्रवन्तीति युक्तम् ।

अस्तमयान्तरभाविन आदित्यरूपस्य निधनभक्तौ दृष्टिं दर्शयति–

[अथ] यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥

अथ तदनन्तरमस्तमिते अदर्शनं प्राप्तुमिच्छावति सवितरि यद्रूपं तन्निधनमिति दृष्टिं कुर्यात् । अस्यादित्यसाम्नो निधनाख्यं तद्रूपं इ(पि)तरोऽन्वायत्ताः उपजीवन्ति । यस्मादेवं तस्मात्तान् पितॄन् निदधति पितृपितामहप्रपितामहरूपेण दर्भे निक्षिपन्ति । अथवा तदर्थं पिण्डान्निक्षिपन्ति । अतो निधनसम्बन्धादेतस्यादित्यस्य साम्नो निधनभाजिनो निधनभक्तिभजनशीलाः अस्तान्निदधतीति युक्तमित्यर्थः ।

उपसंहारव्याजेनोपास्तिफलं दर्शयति–

एवं खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपास्ते ॥ [८] ॥

एवमिति ॥ खलु उक्तप्रकारेणैवावयवशः सप्तधा विभक्तममुं प्रत्यक्षेण दृश्यमानमादित्यं सप्तविधं भक्तिभेदेन सप्तप्रकारं सामेत्युपास्ते यः पुमान् तस्य तदादित्यप्राप्तिः फलमिति वाक्यशेषः ॥

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥

आदित्यविषयसामोपास्तिमभिधाय तदतितरणहेतुसामोपासनमुपदिश्यते–

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳसामोपासीत ।

अथेति ॥ अथ खल्वादित्यविषयसामोपास्तेरनन्तरमात्मसंमितं स्वावयवसमतया मितं यद्वा परमात्मना संमितमतिमृत्यू मृत्युरादित्यः, अहोरात्रादिकाले जगत्समापकः तदतिक्रमहेतुत्वात् । सप्तभक्तिसामाक्षराण्यावृत्य त्रिभिस्त्रिभिः समतया सामत्वं परिकल्प्य तदुपासनेन मृत्युगोचराक्षरसंख्या साधर्म्येण मृत्युं व्याप्य तदतिरिक्ताक्षरेणादित्याख्यस्य मृत्योरतिक्रमणं सप्तविधं भक्तिभेदेन सप्तप्रकारं समोपासीतेत्यर्थः ।

उपास्तिप्रकारं दर्शयति—

हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ [१] आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरम् तत्(त) इहैकं तत्समम् ॥ [२] उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ [३] निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति ॥

हिंकारेति ॥ हिंकार इति एतद्धिंकारभक्तिर्नाम त्र्यक्षरम् । त्रीण्यक्षराणि यस्य तत्त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति प्रस्तावभक्तिनामापि त्र्यक्षरम् । तत्तेन एवं पूर्वेण सममादिरित्येतदादिभक्तिनाम द्व्यक्षरं प्रतिहार इत्येतत् । प्रतिहारभक्तिनाम चतुरक्षरं तेन वैषम्यप्राप्तौ ततः प्रतिहारभक्तिनाम एकमक्षरमाच्छिद्येहादिभक्तिनाम्नि प्रक्षिप्यते । अतस्तत्समं तेन पूर्वेण समं भवत्येव । उद्गीथ इत्येतदुद्गीथभक्तिनाम त्र्यक्षरं उपद्रव इति । उपद्रवाख्यभक्तिनाम चतुरक्षरं तद्द्वयं त्रिभिस्त्रिभिरक्षरैः समं भवति तत्रैकमक्षरमतिशिष्यते, अतिरिक्तं भवति । अतश्चतुरक्षरमपि स त्र्यक्षरमेव भवति । ततस्तेन पूर्वेण समं निधनमित्येतन्निधनभक्तिनाम त्र्यक्षरम् । अतस्तत्समं भवत्येव ।

एवं त्र्यक्षरसाम्येन समत्वं संपाद्य पूर्वोक्ताक्षराणां संख्यां दर्शयति—

तानि ह वा एतानि द्वाविꣳशतिरक्षराणि ॥ [४] ॥

तानीति ॥ तान्येतानि सामभक्तिगतान्यक्षराणि द्वाविंशतिसंख्याकानि भवन्ति ।

एवमक्षरसंख्यामभिधाय साम्नस्तस्यादित्यादिक्रमं दर्शयति—

एकविꣳशत्यादित्यमाप्नोत्येकविꣳशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविꣳशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम् ॥ [५] आप्नोतीह ॥

तत्रैकेति ॥ तत्रैकविंशत्या भक्तिगत्याऽक्षरैकविंशतिसंख्ययादित्यमाप्नोति तत्साद्दश्यमाप्नोतीत्यर्थः । यस्मादसावादित्य इतोऽस्माल्लोकादेकविंशस्तथा च श्रूयते–'**द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविꣳशः**, [तै. सं. ५-१-१०-३] इति । अवशिष्टेन द्वाविंशेनाक्षरेण मृत्योरादित्यात्परमुत्कृष्टं जयति

प्राप्नोतीत्यर्थः । यदादित्यात्परं तन्नाकं, कं सुखं कन्न भवतीत्यकम् अकं न भवतीति नाकम् । द्वौ नञौ (नञौ) प्रकृतमर्थं गमयत इति न्यायात्कमेवेत्यर्थः । विगतशोकं मृत्युविषयतिक्रम[मा]हुः [दुः]खरहितं चेत्तदाप्नोतीत्यर्थः ॥

उक्तमेवार्थं दर्शयति–

आदित्यस्य जयं परो हास्यादित्यस्य जयात्पराजयो[1] भवति ॥

आदित्यस्येति ॥ एकविंशत्यक्षरसंख्यया आदित्यस्य जयमाप्नोति । द्वाविंशत्यक्षरसंख्यया आदित्यस्य जयात्पराजयो भवति ॥

वेदितुः फलमाह–

य एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳसामोपास्ते सामोपास्ते ॥ [६] ॥

य एतदिति ॥ यः पुमानेवं विद्वान् सामोपास्ते तस्यैतद्यथोक्तं फलमिति वाक्यशेषः । सामोपास्ति(स्त) इति द्विरुक्तिः सामोपास्तिसमाप्तिद्योतनार्थः ॥

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

पञ्चविधस्य सप्तविधस्य साम्नो नामग्रहणमन्तरेण उपासनमभिधाय इदानीं साम्नां नामग्रहणपूर्वक[मनोवाक्चक्षुःश्रोत्रप्रा]णोपेतान्युपासनान्तराण्यभिधीयन्ते ।

तत्र प्रथमं गायत्रसामोपासनं दर्शयति–

मनो हिंकारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथ श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥ [१] ॥

मन इति ॥ मनो हिंकारः हिंकारे मनोदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि यत्र यत्प्रोतमिति श्रूयते तद्दृष्ट्या तदुपास्यमित्यवगन्तव्यं तत्तत्कर्माङ्गानां तत्तद्दृष्ट्या संस्कार्यत्वात् । सर्वेषामिन्द्रियाणां मध्ये मनसः प्राथम्याद्वाक् प्रस्तावः वाचा सर्वस्य प्रस्तूयमानत्वाद्वाक्प्रवृत्तेर्मनःपूर्वकत्वात्तदानन्तर्यम् । तथा च श्रुतिः–‘**मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपम्**’ [ऐ. आ. ३-१-१] इति । चक्षुरुद्गीथः श्रेष्ठत्वसाम्यात् । श्रोत्रं

---

१. आदित्यजयाज्जयो–मु. पा.

प्रतिहारः प्रतिहरणसादृश्यात्प्राणो निधनं स्वापकाले सर्वेषामिन्द्रियाणां प्राणे निधनात् । एतद्गायत्रं गायत्रनामकं साम प्राणेषु प्रोतमनुगतं गायत्र्याः प्राणसंयुतत्वात् ।

उपास्तिफलमाह–

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ॥

स य इति ॥ यः पुमानेवमुक्तप्रकारेण एतद्गायत्रनामकं साम प्राणेषु प्रोतं वेद जानीयात् स प्राणी अविकलप्राणवान् भवति । सर्वमायुरेति वर्षाणां शतं पुरुषस्य सर्वमायुः **'शतायुः पुरुषः'** [तै. सं. २-३-१-१] इति श्रुतेः । तदाप्नोति, ज्योगुज्ज्वलं जीवति । प्रजया पुत्रपौत्रादिरूपया पशुभिश्च महानाढ्यो भवति कीर्त्या यशसा च महानधिको भवति ।

गायत्रसामोपासकस्य व्रतं दर्शयति–

महा[म]ना[ः] स्यात्तद् व्रतम् ॥ [२] ॥

महामना इति ॥ महामनाः दृढचित्तो भवेत् । यन्महामनस्त्वं तदस्य व्रतम् । महामनस्त्वस्य फलत्वशङ्का मा भूदिति व्रतशब्दप्रयोगः ॥

॥ इति द्वितीयस्याध्यायस्य एकादश खण्डः ॥

रथन्तरसामोपासनं दर्शयति–

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार, उपशाम्यति तन्निधनं सꣳशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥ [१] ॥

अभिमन्थतीति ॥ ....भवन्ति स प्रतिहारः । अङ्गाराणामपि प्रतिहर्तृत्वेन तत्साधर्म्याद्यदुपशाम्यति तच्च संशाम्यति तन्निधनं समाप्तिसाधर्म्यात् । अग्नेरुपगमः सावशेषता निःशेषोपशमः सावशेषता निःशेषोपशमः संगम इति तयोर्वैषम्यमेतद्रथा(थ)न्तराख्यं सामाग्नौ प्रोतम् । अग्नेर्मथने रथन्तरस्य गीयमानत्वात् ।

उपास्तेः फलं दर्शयति–

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ॥

स य इति ॥ अनुष्ठानस्वाध्यायजनितं तेजो ब्रह्मवर्चसं तद्वान् ब्रह्मवर्चसी । अन्नादोऽन्नादनसामर्थ्यवान् दीप्तजाठराग्निरित्यर्थः । अन्यदुक्तार्थम् ।

रथन्तरसामोपासकस्य व्रतं दर्शयति–

न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम् ॥ [२] ॥

न प्रत्यङ्ङिति ॥ [न] अग्निं प्रत्यङ्ङाचामेत्, अग्निरभिमुखो नाचामेत् किञ्चिदपि न भक्षयेदित्यर्थः । न निष्ठीवेत्तदभिमुखः सन् श्लेष्मनिरसनमपि न कुर्यात् । अग्न्यभिमुखतया यदनाचमनं यच्चानिष्ठीवनं तद्व्रतं नियमः ॥

॥ इति द्वितीयस्याध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥

वामदेव्यसाम्न उपासनं दर्शयति–

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्ताव(ः) स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रतिस्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतमिति ॥ [१] ॥

उपमन्त्रयत इति ॥ यदुपमन्त्रयेते (यते) संकेतं करोति स हिंकारः प्राथम्यात् यत् ज्ञपयते संतोषमुत्पादयति स प्रस्तावः, आनन्तर्यसाम्यात् । यत्स्त्रिया सह शेते एकपर्यङ्कं प्राप्नोति... उद्गीथ स श्रेष्ठयात् । स्त्रीं सह शेते स्त्रिया सहशयनं करोति स प्रतिहारः प्रपिहरणसाम्यात् । यन्मैथुनेन कालं गच्छति यच्च पारं समाप्तिं गच्छति तन्निधनं समाप्तिसाम्यात् । एतद्वामदेव्यं वामदेवनामकं साम मिथुने प्रोतमनुगतम् ।

उपास्तिफलं दर्शयति–

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनीभवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ॥२॥

स य इति ॥ य एवं वेद स मिथुनीभवति अविधुरो भवतीत्यर्थः । मिथुनात्प्रजायते प्रतिमिथुनं जायते, अमोघरेतस्को भवतीत्यर्थः । अन्यदुक्तार्थम् ।

उपासकस्य व्रतं दर्शयति–

न काञ्चन परिहरेत्तद्व्रतम् ॥ [२] ॥

न काञ्चनेति ॥ काञ्चिदपि स्त्रियं कामयमानां स्वतल्पप्राप्तां न परिहरेत् न निवारयेत् । कस्या अपि स्त्रियो यदनिवारणं तद् व्रतं नियमः । ननु परस्त्रीगमनस्य प्रतिषिद्धत्वाद् निवारणमुपपन्नमिति चेत्–न वामदेव्यसामोपासनाङ्गत्वेन विधानात् । यथा **‘अग्नीषोमीयं पशुमालभेत**[1] इति विधानसामर्थ्यात् **‘न हिंस्यात्सर्वा भूतानि**[2] इत्यस्य संकोचस्तद्वत्परस्त्रीगमनप्रतिषेधस्मृतेरपि संकोचो द्रष्टव्यः, वचनप्रामाण्यात् । कं हि वचनं न कुर्यान्नास्ति वचनस्यातिभार इति न्यायात् ।

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशने उपनिषद्व्याख्याने
द्वितीयस्याध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥

बृहत्साम्न उपासनं दर्शयति–

उद्यन् हिंकार उदित प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथ अपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम् ॥ [१] ॥

उद्यन्निति ॥ उदयन्नुदयं प्राप्नुवन्नादित्यो हिंकारः प्राथम्यसाम्यादुदितः । उदयं प्राप्त आदित्यः प्रस्तावः कर्मप्रस्तावनहेतुत्वात् । मध्यंदिनो मध्याह्नं प्राप्त आदित्य उद्गीथ श्रेष्ठत्वसाधर्म्यात् । अपराह्णं अपराह्णकालीनः सविता प्रतिहारः तत्काले पश्वादीनां गृहान् प्रति प्रतिहारणादस्तं यन्नदर्शनं गच्छन्नादित्ये निधनं तत्काले प्राणिनां गृहे निधानाद् बृहन्नामकमेतत्सामादित्ये प्रोतं बृहत्साम्नः आदित्यदेवताकत्वात् ।

उपास्तिफलं दर्शयति–

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ॥

स य इति ॥ उक्तार्थमेतत् । उपासकस्य व्रतं दर्शयति–

तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ [२] ॥

तपन्तमिति ॥ स्पष्टोऽर्थः ॥

इति द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ॥

---

[1] द्र. ब्र. सू. शां. भा. ३–१–२५

[2] द्र. ब्र. सू. शां. भा. ३–१–२५

अथ वैरूपसामोपासनं दर्शयति–

अभ्रामणि (अभ्राणि) य[1]त्संप्लवते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥ [१] ॥

अभ्रामणी(अभ्राणी)ति ॥ अपामुदकानां भरणादभ्राणि मेघाः । एतद्वैरूपनामकं साम पर्जन्ये प्रोतम्, अनेकरूपसाधर्म्यात् । अन्यदुक्तार्थम् ।

उपास्तिफलमाह–

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद वैरूपाꣳश्च सरूपाꣳश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ॥ [२] ॥

स य इति ॥ विरूपांश्च सरूपांश्चाजाव्यादीन् पशूनवरुंधे प्राप्नोति । अन्यदुक्तार्थम् ।

वैरूपसामोपासकस्य व्रतं दर्शयति–

वर्षन्तं न निंद्या[2]त्तद्व्रतम् ॥

वर्षन्तमिति ॥ स्पष्टार्थमेतत् ॥

॥ इति द्वितीयस्याध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ॥

अथ वैराजसाम्नोपासनं दर्शयति–

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥ [१] ॥

वसन्त इति ॥ वसन्तो हिंकारः प्राथम्यात् । अन्यदुक्तार्थम् । वैराजनामकमेतत्साम ऋतुषु प्रोतम् । एतत्साम हिंकारादिभिर्भक्तिभिर्विराजति । ऋतवो या...वै(?)घनैर्विराजन्ते तत् उभयोः प्रकाशनसाधर्म्यात्तादात्म्याध्यासः । अन्यदुक्तार्थम् ।

उपास्तिफलं दर्शयति–

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिः[3]

---

१. 'यत्' नास्ति मु. पा. २. निन्देत्–मु. पा. ३. ब्रह्मवर्चसेन–अधिकपाठः–मु. पा. छा. ५

सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ॥

स य इति ॥ उक्तार्थमेतत् ।

वैराजसामोपासकस्य फलं (व्रतं ?) दर्शयति–

ऋतुं न निन्देतत्तद्व्रतम् ॥ [२] ॥

ऋतुमिति ॥ स्पष्टार्थमेतत् ।

॥ द्वितीयस्याध्यायस्य षोडशः खण्डः ॥

शाक्वरसामोपासनं दर्शयति–

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥ [१] ॥

पृथिवीति ॥ पृथिवी हिंकार इत्याद्युक्तार्थम् । शक्वर्य इति नित्यबहुवचनम् । यथा रेवत्य इति शक्वर्याख्यः छन्दः प्रयुक्त[ः] । शक्वर्य इति संज्ञताभिः (संज्ञाभिः) शाक्वरनामकं साम लक्षांते (लक्ष्यते) ।

उपास्तेः फलं दर्शयति–

स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ॥ [२] ॥

स य इति ॥ लोकी भवति लोकरूपफलवान् भवति । अन्यदुक्तार्थम् ।

उक्तोपासनस्य व्रतमाह–

लोकान्न निन्द्यात्[1] तद्व्रतम् ॥ [२] ॥

लोकान्निति ॥ स्पष्टार्थमेतत् ।

॥ द्वितीयस्याध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ॥

अथ रैवताख्यसामोयासनं दर्शयति–

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः

---

१. निन्देत्–मु.पा.

पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥ [१] ॥

अजेति ॥ रैवच्छब्दोपेता ऋचो रैवत्यस्तासूत्पन्नं साम ताभिर्लक्ष्यते ।

अन्यत् साम्नामुपास्तिफलमाह–

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशुमान्भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीयति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ॥

स य इति ॥ उक्तार्थम् ।

उपासकस्य व्रतं दर्शयति–

पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ [२] ॥

पशून्निति ॥ स्पष्टोऽर्थः ॥

॥ द्वितीयस्याध्यायस्याष्टादशः खण्डः ॥

यज्ञायज्ञीयाख्यसामोपास्तिं दर्शयति–

लोम हिंकारस्त्वक् प्रस्तावो मांसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥ [१] ॥

लोमेति ॥ देहावयवेषु लोम्नः प्राथम्यात् [लोम हिंकारः] त्वक् प्रस्तावः आनन्तर्यसाम्यात्, मांसमुद्गीथः श्रेष्ठत्वसाम्यादस्थि प्रतिहारः प्रतिहर्तृत्वसाम्यान्मज्जा निधनं चरमधातुत्वात् । यद्यपि शुक्रस्य चरमता तथापि तदितरधात्वपेक्षया तस्य चरमत्वमित्यविरोधः । एतद्यज्ञायज्ञीयनामकं सामाङ्गेषु देहावयवेषु प्रोतमनुगतम् ।

उपास्तिफलं दर्शयति–

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाऽङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्छति[1] सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ॥

स य इति ॥ अङ्गी भवति अवि[क]लाङ्गो भवति । नाङ्गेन विहूर्छति हस्तपादादिना न विहूर्छति न कुटिलो भवति । पङ्गुकाणादिवन्न भवतीत्यर्थः । अन्यदुक्तार्थम् ।

---

[1] विमूर्च्छति–मु.पा.

उपासकस्य व्रतं दर्शयति–

संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयात्तद्व्रतं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥ [२] ॥

संवत्सरमिति ॥ संवत्सरम् एकं संवत्सरमज्ञो(सरं मज्ज्ञो) मांसानि नाश्नीयात् नाद्यात् । मत्स्याद्युपलक्षणार्थमज्ञ(र्थं मज्ज्ञ) इति बहुवचनम् । तन्मांसाद्यभक्षणं व्रतं नियमः । यद्वा सर्वदा मज्ज्ञो मांसं नाश्नीयात् शक्ताशक्तभेदेन व्रतविकल्पो द्रष्टव्यः ॥

॥ इति द्वितीयस्याध्यायस्य एकोनविंशः खण्डः ॥१९॥

राजननामधेयस्य साम्न उपासनं दर्शयति–

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥ [१] ॥

अग्निरिति ॥ अग्निर्हिंकारः मुख्यत्वसाम्यात् । वायुः प्रस्तावः आनन्तर्यसाम्यात् । आदित्य उद्गीथः श्रेष्ठत्वात् । नक्षत्राणि प्रतिहारः प्रतिहर्तृत्वसाम्यात् । चन्द्रमा निधनं तत्र कर्मणां निधनात् । तद्राजनाख्यं साम अग्न्यादिदेवतासु प्रोतमनुगतं दीप्तिमत्त्वसाम्यात् ।

उपास्तिफलमाह–

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाꣳ सलोकताꣳ सार्ष्टिताꣳ सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजयापशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ॥

स य इति ॥ एतासामग्न्यादिकानामेव देवतानां सलोकतामेकलोकत्वं सार्ष्टितां समानर्धित्वं च सलोकत्वसार्ष्टित्वयोः समुच्चयासंभवात् [सार्ष्टितां] गच्छति प्राप्नोति… स्य(?) लोपः छान्दसः । अन्यदुक्तार्थम् ।

उक्तोपासनस्य व्रतं दर्शयति–

ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ [२] ॥

ब्राह्मणानिति ॥ ब्राह्मणानां देवतात्मकत्वात ब्राह्मणनिन्दा देवतानिन्दा एव ।

अतो ब्राह्मणनिन्दानिषेधोऽपि देवतानिन्दानिषेधः । तथा च श्रूयते-'एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः' इति ।

इति द्वितीयाध्यायस्य विंशः खण्डः ॥

एवं फलविशेषोपेतानि सामविशेषोपासनान्युपदिश्याधुना सामसामान्यस्योपासनं फलविशेषार्थं पुनरुपदिश्यते-

त्रयी विद्या, हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाꣳसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वा पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥ [१] ॥

त्रयी विद्येति ॥ त्रयी विद्या या वेदत्रयात्मिका विद्या सा हिंकारः । हिंकारे त्रयीविद्यादृष्टिः कर्तव्येति अर्थः । सर्वकर्तव्यानां त्रयीविद्यायाः प्रथमत्वात् त्रयीविद्याहिंकारयोः साम्यम् । य इमे प्रसिद्धा त्रयः पृथिव्यादयो लोकाः स प्रस्तावः, आनन्तर्यसाम्यात्त्रयी विद्याया आनन्तर्यें च लोकानाम् । तत्कार्यत्वादग्निर्वायुरादित्य इति यत् त्रयं स उद्गीथः श्रेष्ठत्वसाम्यात् । नक्षत्राण्याश्विन्यादि वयांसि पक्षिणः मरीचयो रश्मय इति यत् त्रयं स प्रतिहारः प्रतिहर्तृत्वसाम्यात् । सर्पा गंधर्वाः पितरः इति यत् त्रयं तन्निधनम् । अत्र साम्यमूहनीयं यद्वा गंधर्व इत्यत्र धकारेदर्शनात् सर्पादित्रयस्य निधनं धकारसाम्यम् । एतत्सामनामविशेषोपादानात् साम सामान्यं सर्वस्मिन् त्रयीविद्यादौ प्रोतमनुगतम् ॥

उपास्तेः फलं दर्शयति-

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वꣳ ह भवति ॥ [२] ॥

स य इति ॥ य एवं विद्वान् एतत्साम सर्वस्मिन् त्रयीविद्यादौ प्रोतं वेद स सर्वं भवत्येव सर्वेश्वरो भवतीत्यर्थः । अन्यथा सर्वात्मकत्वपक्षे दिग्भ्यो बलिप्राप्त्यनुपपत्तिः । उक्तेऽर्थे संमतिः ।

तथा प्रतिज्ञापूर्वकं मन्त्रं दर्शयति-

तदेष श्लोकः ॥ यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥ [३] यस्तद्वेद स वेद सर्वꣳसर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥

---

१. द्र. अथ हैते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः । —ष. विं. ब्रा. १-१.

तद्देश(ष) श्लोक इति ॥ तत्तस्मिन् पूर्वोक्ते एष वक्ष्यमाणः श्लोकः मंत्रोऽप्यस्तीति शेषः । पञ्चधा हिंकारादि भक्तिभागैः पञ्चभागैः पञ्चप्रकारेण यानि त्रीणि त्रयी विद्यादीनि पञ्चभ्यः त्रिभ्यो ज्यायोऽधिकतरं परं व्यतिरिक्तमन्यद्वस्वन्तरं नास्ति, अत्रैव सर्वमन्तर्भूतमित्यर्थः । यः पुमान् तत्पूर्वोक्तं साम वेद जानाति स पुमान् सर्वं वेद । तस्मात्सर्वाः दिशः, दिक्शब्देन तत्स्थाः प्रजा लक्ष्यन्ते सर्वासु दिक्षुस्थाः प्रजा अस्मै यथोक्तसर्वात्मकसामविदे बलिं भोगं हरन्ति प्रापयन्तीत्यर्थः ।

उपासकस्य व्रतं दर्शयति—

सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम् ॥ [४] ॥

सर्वमिति ॥ सर्वमस्मि भवामीत्येवं चिन्तयन् एतत्सामोपासीत यदात्मकं सर्वात्मकत्वविज्ञानं तद्व्रतं नियमोपासकस्येति शेषः । अभ्यासः सामोपासनसमाप्तिद्योतनार्थः ।

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां द्वितीयस्याध्यायस्यैकविंशः खण्डः ॥

सामोपासनप्रसङ्गेनोद्गातुर्गानविशेषादिसंपदं फलविशेषसम्बन्धेनोपदिशति—

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपधा(ध्वा ?)न्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत् ॥ [१] अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥ [२] सर्वे स्वरा इन्द्रस्याऽऽत्म(त्मा)नः सर्व उष्माणः प्रजापतेरात्म(त्मा)नः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ [३] अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यदि यद्येवं(नꣳ) स्पर्शेषूपालभेत मृत्युꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति धक्ष्यतीत्येवं ब्रूयात् ॥ [४] सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता

वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥ [५] ॥

विनर्दिरिति ॥ विशिष्टो नदिः(र्दिः) स्वरविशेष ऋषभध्वनिसदृशो यस्य तद्विनदि(र्दि)मानिति वाक्यशेषः । साम्नः सम्बन्धि पशव्यं पशुभ्यो हितं चाग्नेरग्निसम्बन्धिरग्निदेवताक इत्यर्थः । उद्गीथ उद्गानम् एवंविशिष्टं तद्गानमहं वृणे प्रार्थय इत्युद्गाता यजमानो वा कश्चिन्मन्यते । अनिरुक्तः अस्पष्टः अमुकसदृश इत्यविशेषित इत्यर्थः ।। प्रजापतेः सम्बन्धी प्रजापतिदेवताको गानविशेषः । निरुक्तः स्पष्टः । सोमस्य सोमदेवताक उद्गीथ इत्यर्थ । मृदु काठिन्यरहितं श्लक्ष्णं स्निग्धं च गानं वायोः सम्बन्धि वायुदेवताकं श्लक्ष्णम् । बलवदधिकबलोपेतं च गानमिन्द्रस्य सम्बन्धि इन्द्रदेवताकम् । क्रौञ्चं क्रौञ्चपक्षिध्वनिसदृशं गानं बृहस्पतिदेवताकम् । अपध्वान्तं भिन्नकांस्यध्वनिसदृशं गानं वरुणस्य सम्बन्धि । तानेतान्सर्वान् गानविशेषान् उपसेवेत प्रयुञ्जीतैव वारुणं तु वरुणदेवताकं पुनर्वर्जयेदेव न प्रयुञ्जीतैव । किं च देवेभ्योऽमृतत्वमागायानि साधयानीत्यागायेत् । स्वधां पितृभ्य आगायानीत्यागायेत् । आशां प्रार्थितं मनुष्येभ्य आगायानीत्यागायेत् । तृणोदकं पशुभ्य आगायानीत्यागायेत् । यजमानाय स्वर्गं लोकं आगायानीत्यागायेत् । आत्मने मह्यमन्नमागायानीत्यागायेत् । एतानि पूर्वोक्तार्थजातानि मनसा ध्यायन् चिन्तयन् स्वरोष्मव्यञ्जनादिभ्योऽप्रमत्तः प्रमादरहितः सन् स्तुवीत । किं च सर्वे स्वरा अकारादयः इन्द्रस्य बलकर्मणः आत्मनो देहावयवभूताः उष्माणः शषसहादयः सर्वे प्रजापतेः स्रष्टुः काश्यपस्य वा आत्मनो देहावयवस्थानीया स्पर्शाः कादयोमावसानाः सर्वे वर्णाः मृत्योरात्मानो देहावयवस्थानीयाः । तमेवंविदमुद्गातारं यदि कश्चिद्दोषदर्शी सर्वेषु विषयभूतेषूपालभेत दूषयेत् दुष्टाः स्वराः त्वया प्रयुक्ता इति । तर्ह्येवं दुषित उद्गातेन्द्रं शरणं रक्षितारं प्रपन्नः सम्प्राप्तोऽभूवम् । स इन्द्रस्त्व त्वां प्रति वक्ष्यति दातव्यमुत्तरं दास्यतीत्येनमुपालम्भकं प्रतिब्रूयात् ।

अथ पुनर्यद्येनमुद्गातारमूष्मसु शषसहादिषु विषयेषूपालभेत दूषयेत् । दुष्टा ऊष्माणस्त्वया प्रयुक्ता इति । तर्हि एवं दूषित उद्गाता प्रजापतिं शरणमाश्रयं प्रपन्नोऽभूवं स प्रजापतिस्त्वां प्रति पेक्ष्यति संचूर्णयिष्यति इति एवमुपालम्भकं ब्रूयात् । अथ पुनर्यद्येनमुद्गातारं स्पर्शेषु कादिषु मावसानेषु विषयभूतेषु उपालभेत दूषयेत् दुष्टा स्पर्शाः त्वया प्रयुक्ता इति तर्ह्येवं विदूषित उद्गाता मृत्युं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स मृत्युस्त्वा त्वां प्रति धक्ष्यति भस्मीकरिष्यतीत्येनमुपालम्भकं ब्रूयात् । यस्मादिन्द्राद्यात्मकाः स्वरादयस्तस्मात्सर्वे स्वरा अकारादयो घोषवन्तो ध्वन्युपेताः बलवन्तः प्रयत्नाधिक्योपेताः [एवं] सति अहमिन्द्रे बलं ददानि[तं] मादयानि । तथा सर्व उष्माणः अग्रस्ताः अन्तःप्रवेशनरहिताः

अनिरस्ताः बहिरक्षिप्ताश्च विवृताः विवृताख्यप्रयत्नोपेताश्च वक्तव्याः । तथा सति प्रजापतेरात्मानं परिददानि...अनभिनिहिताः अनभिक्षिप्ता वक्तव्याः । तथा सत्यहं मृत्योरात्मानं परिहराणि निवारयाणीति ।

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ॥

अस्तविधानप्रवृत्तिरुत्पादनाय । तदर्थवादत इदमाम्नायते–

त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति ॥ [१] ॥

त्रयो धर्मस्कन्धेति ॥ नन्वत्र सामावयवस्योद्गीथलक्षणस्योपासनादमृतत्वलक्षणं फलं प्राप्यत इत्यभिधीयते न केवलोंकारोपासनादमृतत्वं प्राप्यत इति सामोपासनसि(स)न्निधौ पाठात्, अन्यथा तत्सन्निधिपाठानुपपत्तिरिति चेत्, मैवम्, यत्सर्वैरपि सामोपासनैः कर्मभिश्च यज्ञादिभिः परम्परया प्राप्यम्, अमृतत्वाख्यं फलं तत्केवलोंकारोपासनादेव प्राप्यत इति तदर्थवादतया सामसन्निधिपाठोपपत्तेः धर्मस्य स्कन्धाः धर्मप्रविभागाः त्रयस्त्रिशत्संख्यकाः धर्मशास्त्रेषु विहिता इत्यर्थः । तेषामेवोपन्यासः यज्ञोऽग्निहोत्रादिरध्ययनं नियमेन गृहीतस्य स्वाध्यायस्याभ्यासः । न तु ग्रहणाध्ययनं तस्य गृहस्थधर्मत्वाभावात् । दानं बहिर्वेदि स्वशक्त्यनुसारेण भक्ष्यमाणेभ्यो द्रव्यत्यागः । इत्येष प्रथम एको धर्मस्कन्धः । न ह्यत्र प्रथमशब्द आद्यत्वाभिधायकः । द्वितीयतृतीयशब्दाभ्यां द्वित्रिसंख्याविशिष्टार्थाभिधानेन तत् साहचर्यादस्याप्येकत्व संख्याविशिष्टार्थाभिधायकत्वावगमात् । अत्र यज्ञादिभिस्तद्वान् गृहस्थ आलक्ष्यते । सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीत्यत्रैतच्छब्देनाश्रमिणामनुवादात् । तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकं तेन तद्वान् लक्षन्ते । स एव वानप्रस्थः परिव्राज्याश्रमधर्ममात्रसंस्थो द्वितीयो धर्मस्कन्धः ।

ब्र[ह्मचार्याचार्यकुलवासी] आचार्यकुलं वस्तुं शीलवान् अत्यन्तं यावज्जीवमाचार्यकुले आत्मानं देहमवसादयन्नियमैः क्षपयन् तृतीयो धर्मस्कन्धः । अत्र ब्रह्मचारी नैष्ठिको विवक्षितः । अत्यन्तमादित्यादिविशेषणदर्शनान्नोपकुर्वाणः तद् ब्रह्मचर्यस्य स्वाध्यायग्रहणार्थत्वेन पुण्यलोकप्राप्त्यर्थाभावात् । एते आश्रमिणः सर्वे उक्तैराश्रमधर्मैः पुण्यलोको येषां ते पुण्यलोका भवन्ति । यस्तु परिव्राट् न आश्रमधर्ममात्रे स्थितः किं तु ब्रह्मसंस्थितः ब्रह्मणि सम्यक् स्थितः सोऽमृतत्वं पुण्यलोकं मरणाभावमात्यंन्तिकं एति प्राप्नोति ।

पुण्यलोकत्वाद्वैलक्षण्यमस्यामृतत्वस्य तद्विभागेन निर्देशादवगम्यते, अन्यथा तद्विभक्तितया निर्देशोऽनुपपन्नः । तस्मादात्यन्तिकं निरतिशयं चेदममृतत्वमित्यवगम्यते । ननु सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति आश्रमधर्मफलविधिः किं न स्यादिति चेत्, मैवम्, प्रणवोपास्तिस्तुतिपरत्वात्, उभयपरत्वे च वाक्यं भिद्यते । तस्मान्मृत्यूक्ताश्रमधर्मफलानुवादेन प्रणवसेवाफलममृतत्वं ब्रुवदेतद्वाक्यं प्रणवोपास्तिं स्तौति । यथामात्यस्य सेवा भुक्तिपरिधानमात्रफला राज्ञः सेवा राज्यफले त्यक्ते राजसेवा स्तुतिः तद्वदिहापीति द्रष्टव्यम् । प्रणवसेवातः कथममृतत्वमिति न शङ्कनीयं प्रणवस्य प्रतीकत्वेन परब्रह्मरूपत्वात् । तथा च श्रूयते काठके-'**एतद्देवाक्षरं ब्रह्मैतद्धेवाक्षरं परम्**' [कठ उप० २-१६] इति । अस्तु ब्रह्मरूपता तथापि कथं तत्सेवातोऽमृतत्वमिति न वाच्यम् ब्रह्मसेवातोऽमृतत्वस्य सर्वोपनिषत्प्रमाणकत्वात् ।

यत्र संस्थितस्यामृतत्वप्राप्तिः, तत्स्तुत्यर्थमिदमाह–

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥ [२] तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः संप्रास्रवत् ॥

प्रजापतिरिति ॥ प्रजापतिर्विराट् लोकानुद्दिश्य तेषु सारोपादित्सयाभ्यतपत् पर्यालोचनं कृतवान्, अभितप्तेभ्यः पर्यालोचितेभ्यस्तेभ्यो लोकेभ्यः सारभूतेभ्यः त्रयी विद्या वेदत्रयरूपा संप्रास्रवत् प्रादुरभूत् अभ्यतपत् । अभितप्ताया तस्यास्त्रयीविद्यायाः एतानि वक्ष्यमाणान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त प्रजापतेर्मनसि प्रादुरभूवन्नक्षराणामेव प्रदर्शनं भूर्भुवः स्वरिति तान्यप्यक्षराण्यभ्यतपत् । तथा[तप्ता]स्तेभ्योऽक्षरेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत् प्रजापतेर्मनसि ।

तदोंकारात्मकं ब्रह्म कीदृशमित्यत आह–

तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णोंकार एवेदꣳ सर्वमोंकार एवेदꣳ सर्वम् ॥ [३] ॥

तद्यथेति ॥ तदोंकारात्मकं ब्रह्मस्वरूपं दृष्टान्तेन स्पष्टीक्रियते । यथा शङ्कुना पर्णनालेन सर्वाणि पर्णानि पत्रावयवजातानि संतृण्णानि सम्यग् व्याप्तानि एवमोंकारेण परब्रह्मरूपेण परमात्मप्रतीकतया व्यवस्थितेन सर्वा वाक् अखिला शब्दजातिः संतृण्णा । तथा चाम्नायते-'**ओंकारो वै सर्वा वाग्** ।'-इति । अत ॐकार एवेदं सर्वं जगत् । द्विरुक्तिरादरार्था ॐकारोपास्तिसमाप्तिद्योतनार्था ।

ऊर्ध्वरे(त)सां सद्भावश्चतुर्थाश्रमिणामेव ब्रह्मनिष्ठत्वं चेत्यदर्थद्वयं तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे द्वितीयाधिकरणे चिन्तितम्-

नास्त्यूर्ध्वरेताः किं वास्ति नास्त्यसावविधानतः ।
वीरघातो विधेः क्लृप्तावन्धपङ्ग्वादिगा स्मृतिः ॥
अस्त्यपूर्वविधेः क्लृप्तिर्वीरहाऽनग्निको गृही ।
अन्धादेः पृथगुक्तत्वात्स्वस्थानां श्रूयते विधिः ॥[2]

पूर्वाधिकरणे स्वतन्त्रमात्मज्ञानमित्युक्तं तस्य चात्मज्ञानस्योर्ध्वरेतस्याश्रमेषु सुलभत्वादाश्रमिसद्भावश्चिन्त्यते। तत्र नास्त्यूर्ध्वरेता इति प्राप्तं कुतः विध्यभावा: '**त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययेनं दानमिति प्रथम स्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः**। [छा. उ. २-२३-१] इत्यत्र यज्ञाद्युपलक्षितगार्हस्थ्यस्य ततःशब्दलक्षितवानप्रस्थस्य नैष्ठिकब्रह्मचर्यस्य च परामर्शमात्रं गम्यते । न तु विधिरुपलभ्यते । न चापूर्वार्थत्वेन विधिः कल्पयितुं शक्यः। '**वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते** ।'[3] इत्यग्न्युद्वासनलक्षणस्य गार्हस्थ्यपरित्यागस्य निन्दितत्वाच्चत्वार आश्रमा इति । स्मृतिस्तु गार्हस्थ्यकर्मानधिकृतान्धपङ्ग्वादिविषया भविष्यति न ह्यन्धस्य आज्यावेक्षणोपेते कर्मण्यधिकारोऽस्ति नापि पङ्गोर्विष्णुक्रमणाद्युपेते कर्मणि अधिकारः । तस्माच्चक्षुरादिपाटवादियुक्तस्य आत्मज्ञानोपयुक्त ऊर्ध्वरेता आश्रमो नास्तीति प्राप्ते ब्रूमः-अस्त्यूर्ध्वरेता आश्रमः विध्यश्रवणेऽप्यपूर्वार्थत्वेन कल्पयितुं शक्यत्वात्, न च वीरघातदोषः, उत्सन्नाग्निकगृहस्थविषयत्वाद्वीरहत्यायाः । यत्त्वन्धादिविषयत्वं स्मृतेरुक्तं तदसत् ।

'**अथ पुनर्व्रती**[4] **वाव्रती वा स्नातको वास्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्**' [जाबा. उप. ४] इति गार्हस्थ्याधिकृतानां पृथक् संन्यासविधानात् न च चक्षुरादिपाटववतां आश्रमान्तरविधिः कल्पनीयः । जाबालश्रुतौ प्रत्यक्षविध्युपलम्भात् '**ब्रह्मचर्यं समाप्य**[5] **गृहीभवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्**' [जाबा. उप. ४] तस्मादस्त्याश्रमानन्तरम् ।

द्वितीयवर्णकमारचयति-

लोककाम्याश्रमी ब्रह्मनिष्ठामर्हति वा न वा ।
यथावकाशं ब्रह्मैव ज्ञातुमर्हत्यवारणात् ॥

---

१. द्र. छा. उप. शा. भा. २-२३-३ २. ब्र. सू. न्या. ७८९
३. द्र. ब्र. सू. शां. भा. ३-४-१८ ४. पुनरेव व्रती मु. पा., द्र. जाबा. उप. ४
५. परिसमाप्य-मु. पा., द्र जाबा. उप. ४

अनन्यचित्तता ब्रह्मनिष्ठासौ कर्मठे कथम् ।
कर्मत्यागी ततो ब्रह्मनिष्ठामर्हति नेतरः ॥[1]

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' [छा. उप. २-२३-१] इत्यत्राश्रमानधिकृत्य **'सर्वे एते पुण्यालोका भवन्ति'** [छा. उप. २-२३-१] इत्याश्रमानुष्ठायिनां पुण्यलोकमभिधाय **'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'** [छा. उप. २-२३-१] इति मोक्षसाधनत्वेन ब्रह्मनिष्ठा प्रतिपाद्यते । सेयं ब्रह्मनिष्ठा पुण्यलोककामिन आश्रमिणोऽपि संभाव्यते । आश्रमकर्माण्यनुष्ठाय[ब्रह्म]निष्ठायाः कर्तुं[शक्य]त्वात् । न हि लोककामी ब्रह्म न जानीयादिति निषेधोऽस्ति । तस्मादस्ति सर्वस्याप्याश्रमिणो ब्रह्मनिष्ठेति प्राप्ते ब्रूमः-ब्रह्मनिष्ठा नाम सर्वव्यापारपरित्यागेनानन्यचित्ततया ब्रह्मणि समाप्तिः । न[क]र्मानुष्ठा[न]त्यागिन एव ब्रह्मनिष्ठा ॥

इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
द्वितीयस्याध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः ॥२३॥

यज्ञाङ्गावबद्धसामोपासनप्रसङ्गेन केवलोंकारोपा[सनमुक्त्वा] इदानीं यज्ञस्यैवाङ्गभूतानि साममन्त्रोत्थानान्युपदेष्ट(ष्टु)मिदमाम्नायते-

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनꣳ रुद्राणां माध्यन्दिनꣳ सवनमादित्यानां विश्वेषां[1] देवानां तृतीयसवनम् ॥ [१] क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति ॥

१. आदित्यानां च विश्वेषां च-मु. पा.

ब्रह्मवादिन इति ॥ ब्रह्मवादिनो वदन्ति प्रश्नं कुर्वन्तीत्यर्थः । अयं प्रश्नकारः यत्प्रसिद्धं प्रातःसवनं तद्वसूनां संबन्धि । सवनेशानैर्वसुभिः प्रातःसवनं संबन्धोऽयं लोक आक्रान्त इत्यर्थः । यच्च प्रसिद्धं माध्यन्दिनं तद्रुद्राणां संबन्धि । माध्यन्दिनसवनेशानैश्च रुद्रैरन्तरिक्षलोक आक्रान्त इत्यर्थः । तदपि प्रसिद्धं तृतीयसवनं तदादित्यानां विश्वेषां देवानां च संबन्धि । तृतीयसवनेशानैरादित्यैर्विश्वेदेवैश्च तृतीयो लोक आक्रान्त इत्यर्थः । तर्हि एवं वस्वादिभिर्देवैः सर्वस्मिन् लोकेऽवरुद्धे सति यजमानो यागे प्रवृत्तः स लोकः क्वापि न विद्यत इत्यर्थः । यागस्य लोकप्राप्त्यर्थत्वं च श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धम् । तद्यथा-**'लोकाय वै यजते यो यजते'** [?] इति ।

---

[1] द्र. ब्र. सू. न्या. ७८९

अस्त्वेवं किं तत इत्याह–

स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यात् ॥

स य इति ॥ लोकस्यासत्वे सति यो लोककामी यजमानः स तं लोकप्राप्त्युपायं सामहोममन्त्रोपासानरूपं न विद्यान्न जानीयात् । अजानानश्च कथं यज्ञं कुर्यात् । उपायानभिनज्ञ तस्य कथं विधियज्ञकर्तृत्वं नोपपद्यत इति भावः । न ह्यत्राविदुषो याग[करणं] प्रतिषिद्यते । किन्तु साममन्त्रोत्थानविज्ञानं स्तूयते । सामादिज्ञानस्तावकस्याप्यस्याविद्वद्यागकर्तृत्वप्रतिषेधकत्वं किं न स्यादिति चेन्न, अर्थद्वयपरत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गात् । किं चौषस्ये काण्डे देवतादिविज्ञानरहितस्यापि कर्ममात्रविज्ञानवतः कतृत्वामित्युक्तम् ॥

तर्हि विद्वानेव करोत्वित्याह–

अथ विद्वान् कुर्यात् ॥ [२] ॥

अथ विद्वानिति ॥ अथ शब्दः प्रश्नार्थः । वक्ष्यमाणं सामादिकं विद्वान् कुर्यात् ।

किं तद्वेद्यमित्याशंक्य प्रातःसवनानुष्ठेयानि सामादीन्यादौ दर्शयति–

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवꣳ सामाभिगायति ॥ [३] लो३क द्वारमपाव (वा ३)र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयꣳ रा (३ ३ ३ ३ ३) हु हिं (हु ३ म्) आ (३ ३) ज्या (३) यो (३) आ (३ २ १ १ १) इति ॥ [४] अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एताऽस्मि ॥ [५] अथ यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै वसवः प्रातःसवनꣳ संप्रयच्छन्ति ॥ [६] ॥

पुरा प्रातरिति ॥ प्रातरनुवाकस्य प्रातःपठ्यमानऋक्समूहः प्रातरनुवाक इत्युच्यते । तस्य शंसनगुणयोगाच्छस्त्रव्यवहारोऽप्यस्ति । तस्योपाकरणात्प्रारम्भात्पुरा पूर्वं गार्हपत्यस्य जघनेन पश्चादुङ्मुखोपविश्य स यजमानो वासवं वसुदेवताकं सामाभिगायति । लोकद्वारं भूलोकस्य द्वारम् अपावार्णू अपावृणु, हे अग्ने । अनेन द्वारेण त्वा त्वां वयं पश्येम । राज्याये राज्यार्थम् इति सामस्वरूपम् । अथानन्तरं जुहोत्यनेन मन्त्रेण पृथिवीक्षिते पृथिवीनिवासाय लोकक्षिते लोकनिवासाय पृथिवीलोकनिवासायेत्यर्थः । अग्नये तुभ्यं

नमः प्रह्वीभूतं मे मह्यं यजमानाय लोकं विन्द भजस्व । इष वै अयं खलु मम यजमानस्य लोकः । अत्रास्मिन् लोकेऽहं यजमान एता गन्तास्मि आयुषः पुरस्तान्मृतः सन्नित्यर्थः । स्वाहेति जुहोति इत्यनेन मन्त्रेण होमं कुर्यात् । परिघं द्वारार्गलम् अपजहि अपनय इत्येतं[वास]वं सामहोममन्त्रोत्थानैर्वसुभ्यः प्रातःसवनसंघोऽयं लोको निष्क्रीत स्यात् । ततस्ते वसवः तस्मै यजमानाय पातःसवनं संप्रयच्छन्ति ॥

माध्यंदिनसवनसंबन्धि सामादि दर्शयति–

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाऽऽग्नीध्रोयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रꣳ सामाभिगायति ॥ [७] लो(३)कद्वारमपाव्रा(३)र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं विराऽहिं (वैरा ३ ३ ३ ३ ३) (हु ३ म्) आ (३ ३) ज्या (३) यो आ (३ २ १ १ १) इति ॥ [८] अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ [९] अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवनꣳ संप्रयच्छन्ति ॥ [१०] ॥

पुरा माध्यन्दिनस्येति ॥ माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणात्प्रारंभात् पुरा पूर्वमाग्नीध्रीयस्य दक्षिणाग्नेर्धिष्ण्य वा जघनेन पश्चादुदङ्मुखो स यजमानो रौद्रं रुद्रदेवताकं सामाभिगायति । स्पष्टमन्यत् ॥

तृतीयसवनसंबन्धि सामादिकं दर्शयति–

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाऽऽहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य आदित्यं वैश्वदेवं[१] सामाभिगायति ॥ [११] लो(३)कद्वारमपावा (३) र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳ स्वारा (३ ३ ३ ३ ३) हिं (हु ३ म्) आ (३ ३) ज्या (३) यो (३) आ (३ २ १ १ १) इति ॥ [१२] आदित्यमथ वैश्वदेवं लो ३ कद्वारमपावा३र्णू (३ ३) पश्येम त्वा वयꣳ सं(सा)म्रा (३ ३ ३ ३ ३) हिम् (हु ३ म्) आ (३ ३ ३) ज्या (३) यो (३) आ (३ २ १ १ १) इति ॥ [१३]

---

[१] स आदित्यं स वैश्वदेवम्–मु.पा.

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो [लोकक्षिद्भ्य] लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥ [१४] एष वै यजमानस्य लोक एताऽस्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपहतपरिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥ [१५] तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयसवनꣳ संप्रयच्छन्ति ॥

पुरा तृतीयसवनस्येति ॥ आहवनीयस्य जघनेन पश्चादुदङ्मुख उपविश्यादित्यमादित्यदेवताकं वैश्वदेवं च साम स यजमानः क्रमेणाभिगायति । स्वाराज्याय स्वाराज्यार्थं साम्राज्याय साम्राज्यार्थं च, अन्यत्समानम् । दिविक्षिद्भ्यो विन्दत । अपहतेति बहुवचनमात्रं विशेषः । एतानि सामहोममन्त्रोत्थानानि यजमानकर्तव्यानि लोकं मे यजमानाय विन्दतैष यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमान इत्यादिलिङ्गात् ॥

वेदितारं प्रशंसन्ति–

एष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद ॥ [१६] ॥

एष इति ॥ यो यजमानः एवं यथोक्तस्य सामादेर्विद्वान् एष वै, अयमेव खलु यज्ञस्य मात्रां यज्ञयाथात्म्यं वेद जानाति । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिद्योतनार्था ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

॥ इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः । समाप्तश्चाध्यायः ॥

श्रीसायणाचार्यविरचिता छान्दोग्योपनिषद्दीपिका

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

पूर्वस्मिन्नध्याये यज्ञाङ्गभूतसामविषयोपासनानि यज्ञस्यैवाङ्गभूतानि सामहोममन्त्रोत्थानानि चोपदिश्येदानीं तृतीयेऽध्याये सर्वप्राणिकर्मभूततया प्रत्यक्षेण परिदृश्यमानत्वाद्यज्ञफलभूतसवितृविषयमुपासनं सर्वपुरुषार्थेभ्योऽधिकृत्तमं फलमुपदेष्टुमिदमाम्नायते–

असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवꣳशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ [१] तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥ [२] एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेक्ष(ज) इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ [३] तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत् ॥

असाविति ॥ असौ वै अयं खलु सर्वप्राणिकर्मफलतया परिदृश्यमान आदित्यो देवमधु देवतानां मोदकत्वाद्देवमधुत्वमादित्यस्य, आदित्ये मधुदृष्टिः कार्येत्यर्थः । तस्य मधुनो द्यौरेव भ्रामरस्य मधुन इव...श्वासां...रपि तिर्यग्गातेव दृश्यते । अतस्तिरश्चीनवंशसाम्यं तस्यान्तरिक्षमपूपो द्युवंशाल्लग्नं सबलवदिवान्तरिक्षं लक्ष्यते । अतो मध्वपूपसाम्यं तस्य मधुनः सवितुराश्रयत्वाच्च मध्वपूपसाम्यमुपालक्ष्यन्ते । तथा चाम्नायते **'एता वा आपः स्वराजोर्यन्मरीचयः'**[१] इति हि विज्ञायते । इति पुत्राः भ्रमरपुत्राः मधुबीजभूताः अन्तरिक्षमध्वपूपवर्ति रश्म्यन्तरगतत्वात् भ्रमरपुत्रसाम्यमपां भ्रमरनाड्यन्तगताः तस्य मधुनः सवितुर्ये पाञ्च प्राच्यां दिशि गन्तारश्मयः अस्य मध्वपूपस्य प्राञ्चः प्राग्भाग(ग?)तास्ता ये ता मधुनाड्यः मध्वाधरच्छिद्राणीत्यर्थः । ऋच एव मधुकृतो भ्रमराः ऋचां सावित्राश्रितलोहितरसमधुहेतुत्वाद्भ्रमरसाम्यं भ्रमराणां च मधुहेतुत्वं प्रसिद्धम् । ऋग्वेद एव पुष्पम् । ऋग्वेदशब्देनात्र ऋग्वेदविहितं कर्म लक्ष्यते । मुख्यस्य ऋग्वेदस्य मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मकस्य शब्दमात्रत्वेन भोग्यरूपमधुरसनिस्रावहेतुत्वासंभवात्

---

१. द्र. छा. उप. शां. भा. ३–१–१.

तद्धेतुत्वं चोत्तरत्र वक्ष्यति । ऋग्वेदविहितात्कर्मणस्तु मधुरसनिस्रावः संभवति । अतो ऋग्वेदविहितं कर्म पुष्पमित्यर्थः । भ्रमराणामिव पुष्पादृचां ऋग्वेदविहितात्कर्मणो रसानादाय मधुभिर्वर्तकत्वात् ऋग्वेदविहितस्य कर्मणः पुष्पसाम्यता । अमृता आपः ताः कर्मणि प्रयुक्ताः सोमाज्यपयोलक्षणा अग्नौ प्रक्षिप्ताः तत्पाकाभिर्निर्वृत्ता देवानाममृतार्थत्वेनामृताः अत्यन्तं रसवत्य आपो भवन्तीति शेषः । ता वा कर्मणि प्रयुक्ताः खलु एताः कर्माङ्गत्वेन प्रसिद्धा ऋचः यथा पुष्पेभ्यो रसानाददाना भ्रमरास्तथा एतं प्रसिद्धमृग्वेदं पुष्पस्थानीयं ऋग्वेदविहितं कर्माभ्यतपन् अभितापं कृतवत्यः शास्त्राद्यङ्गत्वमुपप्राता(प्ता)भिः ऋग्भिः क्रियमाणस्य कर्मणो मधुनिवर्तकरसमोचकत्वादृचां कर्माभितापकत्वं तस्यर्ग्वेदस्याभितप्तस्य क्वायं रसो य ऋङ्मधुकराभिनिःसृत इत्यत्राह—तस्य ऋग्भिरभितप्तस्य ऋग्वेदविहितस्य कर्मणः यशः कीर्तिः तेजो देहगता कान्तिः । इन्द्रियं सामशौर्योपेतैरिन्द्रियैरविकलत्वं वीर्यं बलं अन्नाद्या अन्नं च अहन्यहन्युपयुज्यमानतया देवानां स्थितिकरमित्यर्थः । रसोऽजायत रसोऽभूद्यशसाद्यन्नाद्यपर्यन्तं यत् तद् व्यक्षरत् । विशेषेणाक्षरत् अगमदित्यर्थः । तद्गतं यश आदिकं आदित्यमभितः पार्श्वतः पूर्वभागं आश्रयत् आश्रितमभूदित्यर्थः । सर्वेऽपि मनुष्याः कर्मणि अधिकृताः अमुष्मिन्नादित्ये संचितं कर्मफलभूतं मधु भुञ्ज्याम इत्यभिसन्धिना यश आदिलक्षणफलप्राप्त्यर्थः । कर्माणि कुर्वन्ति अतः कर्मफलस्यादित्याश्रितत्वं युक्तम् ॥

पुरुषाणां विश्वासमुत्पादयितुं प्रत्यक्षतया तत्कर्मफलं दर्शयति—

तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳ रूपम् ॥ [४] ॥

तद्वा एतदिति ॥ यदादित्यस्योदयं गच्छतो तु रोहितरूपं दृश्यते तत्खल्वेतत्कर्मफलम् ॥

इति सामवेदार्थप्रकाशे तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥१॥

पञ्चामृतभागस्यादित्योपासनस्य प्रथमं भागमुपदिश्य द्वितीयं भागमुपदिशति—

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ [१] तानि वा एतानि यजूꣳष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत ॥ [२] तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत् ॥

अथ येऽस्येति ॥ अथ प्रथमभागप्रदर्शनानन्तरं द्वितीयोऽमृतभागः प्रदर्श्यत इत्यर्थः । अस्यादित्यस्य ये दक्षिणदिग्भागस्थिता रश्मयः ता एवास्य मध्वपूपस्य दक्षिणभागावस्थिता मधुनाड्यो मध्वाधारछिद्राणि[कर्म]प्रयुक्ता[मधु]राख्या मन्त्रा एव यथा ऋचस्तथा प्रकृतो मधुकराः यजुर्वेद एव यजुर्वेदविहितं कर्मैव पुष्पस्थानीयं ताः कर्मणि प्रयुक्ताः सोमाज्यपयोरूपा अग्नौ प्रक्षिप्ताः अमृता अमृतार्था अत्यन्तं रसवत्य आपः[तत्रप्र]युक्तानि यजूंषि एतं पुष्पस्थानीयं यजुर्वेदं यजुर्वेदविहितं कर्माभ्यतपन्नभितापमकार्षुः यजुर्भिरभितप्तस्य तस्य कर्मणो यश आदिकं रसोऽजायत तद्यश आदिकं कर्मफ[लाव]गमादित्यर्थः । गत्वा च तदा दिशमभितः पार्श्वतः सवितुर्दक्षिणभागमाश्रयदाश्रितमभूत् ॥

विश्वासमुत्पादयितुं प्रत्यक्षतया दर्शयति–

तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लꣳ रूपम् ॥ [३] ॥

तद्वा एतदिति ॥ उदितस्यादित्यस्य यदेतच्छुक्लं रूपं...नं दृश्यते तत्खल्वेतत्कर्मफलम् ॥२॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥

तृतीयममृतभागं दर्शयति–

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ [१] तानि वा एतानि सामान्येतꣳ सामवेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ [२] तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत् ॥

अथ येऽस्येति ॥ अथ अस्यादित्यस्य ये प्रत्यञ्चः पश्चिमभागावस्थिता रश्मयः । अन्यत्पूर्ववद्व्याख्येयम् ।

श्रद्धोत्पादनाय तत्प्रत्यक्षतया दर्शयति–

तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य कृष्णꣳ रूपम् ॥ [३] ॥

तद्वा एतदिति ॥ एतदेतदादित्यस्य चिरनिरीक्षणेन कृष्णं रूपं दृश्यते । तदेतन्मध्वित्यर्थः ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे छान्दोग्योपनिषद्व्याख्याने
तृतीयस्याध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥३॥

चतुर्थममृतभागं दर्शयति–

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः ॥ [१] ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ [२] तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत् ॥

अथ येऽस्येति ॥ अस्यादित्यस्य य उदग्भागावस्थिता रश्मयस्ता एवास्य मध्वपूपस्योदीच्य उदग्भावा(गा)वस्थिता मधुनाड्यो मध्वाधारछिद्राणि अथर्वाङ्गिरस एव अथर्वणा अङ्गिरसा च ऋषिणा दृष्टा मन्त्रा एव कर्मणि युक्ता मधुकृत इतिहासपुराणमितिहासपुराणयोश्चाश्वमेधे पारिप्लवसत्रेषु पारिप्लवाख्यानरूपकर्माङ्गत्वेन विनियोगः प्रसिद्धः । तस्मिन् कर्मणि प्रयुक्तमितिहासपुराणं पुष्पं पुष्पस्थानीयं मधुनि स्रावहेतुत्वात् । अन्यत्पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

विश्वासोत्पादनाय तत्प्रत्यक्षं दर्शयति–

तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णꣳ रूपम् ॥ [३] ॥

तद्वेति ॥ अस्यादित्यस्य यदेतत्परं परममधिकं कृष्णं रूपं दृश्यते तदेतन्मध्वित्यर्थः ॥२॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥

पञ्चमामृतभागं दर्शयति–

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवाऽऽदेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ [१] ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ [२] तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत् ॥

अथेति ॥ अथास्यादित्यस्य ऊर्ध्वभागावस्थिता मधुनाड्यो गुह्या गोप्या रहस्या एव आदेशा यागादिविषय उपासना विधिकराः ब्रह्मैव ब्रह्मवाचक ओंकार एव पुष्पं पुष्पस्थानीयं मधुनिस्रावहेतुत्वात् । ब्रह्मशब्दस्योंकारलक्षकत्वं शब्दाधिकारादवगम्यते । अन्यत्पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

विश्वासोत्पादनाय तत्प्रत्यक्षं दर्शयति–

तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥ [३] ॥

तद्वा एतदिति ॥ यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव इतस्ततश्चलतीवादित्ये निहितदृष्टेः पुरुषस्य दृश्यते ततः खल्वेतन्मध्विति ॥

आदित्यस्थितमधुहेतुभूतं कर्म स्तौति–

ते वा एते रसानाꣳरसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥ [४] ॥

ते वा एत इति ॥ ते खल्वेते यथोंकारो हितादिरूपविशेषा रसानां साराणां रसाः सारास्तस्यैव विवरणम्–हि यस्माल्लोकनिष्पंदरूपत्वात्सार इति वेदा रसाः। तेषां कर्माङ्गत्वं प्राप्ता हितादिरूपविशेषा रसाः अधिकसारभूता इत्यर्थः। तानि वा एतानि यथोक्तानि रोहितादीनि रूपाणि अमृतानां अविनाशिनाममृतान्यविनाशीनि नित्यत्वात्यंतमविनाशिनीत्यर्थः। उक्तस्यैव विवरणम्–हि यस्तान्नित्यत्वाद्वेदा अमृता अविनाशिनः तेषाममृतरूपममृतानां एतानि रोहितादीन्यमृतानि अत्युत्कृष्टामृतानीत्यर्थः। फलस्योत्कर्षनिरूपणेन तद्धेतुभूतं कर्माप्युत्कृष्टमित्युक्तं भवतीति कर्मप्रसं(शं)सैषा ॥

॥ इति दीपिकायां तृतीयस्याध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥५॥

एवमादित्याश्रितानि पञ्चामृतान्युपदिश्य तत्र प्रथमामृतोपजीविनो देवान् दर्शयति—

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन ॥

तद्यदिति ॥ तत्र यत्प्रथममादित्यस्य पूर्वभागाश्रितं रोहितरूपलक्षणममृतं तद्रूपं वसवोऽग्निना मुखेन प्रधानभूतेन अग्निप्रधानाः सन्तः उपजीवन्ति ॥

अन्नाद्यं रसो जायेतेति वचनात्प्राप्ते भोजनपाने तस्यामृतस्य प्रतिषेधति–

न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति ॥

न वै देवा इति ॥ देवा मनुष्या इव नाश्नन्ति न च पिबन्ति। किं तर्हि, उपजीवन्त्येव ॥

भोजनपानयोरभावे कथमुपजीवनमित्यत्राह–

एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ [१] ॥

एतदेव इति ॥ एतद्रोहितादिरूपममृतं दृष्ट्वैव चक्षुरादिभिरिन्द्रियैरनुभूयैव तृप्यन्ति तृप्ता भवन्ति । दृशेस्तस्येन्द्रियद्वारकोपलब्ध्यर्थत्वान्ननु यश आदिरूपस्यामृतस्य कथमिन्द्रियैरनुभव इति न शङ्कनीयम् , यशः पुण्यविषयो लोकवादः, अतस्तच्छ्रोत्रग्राह्यम्। तेजोरूपं चाक्षुषमेव। इन्द्रियं विषयग्रहणकार्यानुमेयं कारणसामर्थ्यं मनोद्वारकानुभवविषयत्वाद्दृग्विषय एव। वीर्यं बलं देहपाटवं ऐन्द्रियकमेव, अन्नाद्यं तत्प्रत्यक्षमुपजीव्यमानं शरीरस्थितिकारणमिन्द्रियग्राह्यमेव । अतो यश आदेरपि कारणद्वारकोपलब्धिविषयत्वं तस्माद्देवानां दर्शनेनैवामृतोपजीवनं सिद्धमित्यर्थः ॥

किं देवा निरुद्यमा एवामृतमुपजीवन्तीत्यत्राह–

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतमाद्रूपादुद्यन्ति ॥ [२] ॥

त एतदेवेति ॥ ते देवा वसवः एतदेवादित्यगतं रोहितरूपादिलक्षणममृतमेवाभिलक्ष्यऽधुनाऽस्माकं भोगावसर इति रुद्धया(बुद्धया ?) संविशन्ति । यदा तस्यां तस्यामृतस्य भोगावसरो भवति तदैतस्माद्रोहितरूपादिलक्षणादमृतादमृतभोगनिमित्तमिति यावमुद्यन्ति उत्साहं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

वेदितुः फलमाह–

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ [३] ॥

स य इति ॥ यः कश्चिदेवं पूर्वोक्तऋग्वेदविहितकर्मपुष्पां ऋङ्मधुकरतापरससंरक्षणं तस्यादित्याश्रितत्वं रोहितरूपत्त्वं च प्राग्दिग्वर्तिरश्मिनाडीवर्तित्वं वसुदेवभोग्यत्वं च वसूनामग्निप्रमुखानां तदमृतोपजीवनममृतदर्शनमात्रेणैव तृप्तिं तदुपभोगमभिलक्ष्य संवेशनं भोगावसरे चोत्साहं च वेद जानाति सोऽपि वसूनामेव मध्ये एको भूत्वा एकः सन् अग्निनैव मुखेन अग्निमुखः सन्[आ]श्रितमेवामृतं दृष्ट्वा स्वकरणैरनुभूय तृप्यति। स विद्वानेतदेव रूपमभिलक्ष्य संविशति । एतस्माद्रूपादेतदमृतभोगनिमित्तमुदेति उत्साहं करोति ॥

कियन्तं कालममृतमुपजीवन्तीत्यत्राह–

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेते[ति] ॥

स यावदादित्य इति ॥ विद्वान् यावदादित्यः पुरस्तात्प्राच्यां दिश्युदेता उदयं प्राप्नोति पश्चात्प्रतीच्यां दिशि अस्तमेता अस्तं गच्छति तावद्वसूनां भोगकालः । तावन्तमेवं कालममृतमुपजीवन्तीन्यर्थः ॥

यथा चन्द्रमण्डलस्थः केवल...(?)सावपि वसुरेव परतन्त्रः सन् किं वर्तत इत्यत्राह–

वसूनामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येते[ति] ॥ [४] ॥

वसूनामेवेति ॥ असौ यथा केवलकर्मादेव (?) परतन्त्रस्तथा न भवति । किं तर्हि तावन्तं काळं वसूनां न केवलमाधिपत्यं स्वाराज्यं स्वराड्भावं च गच्छतीत्यर्थः ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
तृतीयस्याध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥

द्वितीयामृतभागस्योपजीवकान् देवान् दर्शयति–

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन ॥

अथ यद् द्वितीयमिति ॥ अथानन्तरं यद्द्वितीयं दक्षिणभागस्थमादित्यस्य शुक्लरूपलक्षणममृतं रुद्रा इन्द्रेण मुखेनेन्द्रप्रमुखा संत स्तमुपजीवन्ति ॥

पूर्ववत्प्राप्ते अशनपाने निषेधति–

न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति ॥

न वै देवा इति ॥ स्पष्टार्थः ।

भोजनपानयोरभावे कथं तदुपजीवनमित्यत्राह–

एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ [१] ॥

एतदेव इतिं ॥ दर्शनेनैवोपजीवन्तीत्यर्थः ॥

किं ते निरुद्ध(द्य)मा एवामृतमुपजीवन्तीत्यत्राह–

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ [२] ॥

त एतदेव इति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

वेदितुः फलमाह–

स य एतदेवामृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपा-

दुदेति ॥ [३] ॥ स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेतावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥ [४] ॥

स य एतदिति ॥ स यावदादित्यादि पूर्ववद्व्याख्येयम् । द्विः पूर्वोक्तात्कालाद्द्विगुणं कालं दक्षिणतो दक्षिणस्यां दिशि उदेता उत्तरत उत्तरस्यां दिश्यस्तमेत्येतारुद्राणां भोगकालः तावन्तं कालमसौ विद्वान् [अ]मृतमुपजीवतीत्यर्थः । न तु द्विर्दक्षिणत उदेतो(त्यु)त्तरतोऽस्तमेत्येतदनुपपन्नम् । सवितुः प्राच्यामुदयस्य प्रतीच्यामस्तमयस्योदयास्तमयकालस्य च सर्वेषामपि समत्वादिति चेत् मैवम् । चतसृषु दिक्षु वर्तमानानामिन्द्रायमवरुणसोमपुरीणाम् अमरावत्यादीनां द्विगुणोत्तरोत्तरेण कालेनावस्थाननाशौ शास्त्रसिद्धौ । सवितुरुदयो नाम तत्तत्पुरीनिवासिनां प्राणिनां चक्षुर्गोचरता तदभावश्चास्तमयः । न परमार्थत उदयास्तमयौ सवितुर्विद्येते । तथा सत्यमरावत्या द्विगुणं कालं संयमनीपुरीं वसति । अतस्तन्निवासिनः प्रति द्विरुदेता अस्तमेतेत्युच्यते । यदा चामरावत्यां मध्याह्नगतः सविता तदा दक्षिणदिगवस्थितायां संयमन्यामुद्यन् दृश्यते । अतो दक्षि[ण]त उदेतेत्युच्यते दक्षिणस्यामुदेति तदास्मानपेक्षो(क्ष्यो ?)त्तरतो वर्तमानायां सोमनगर्यामस्तमेति । अत उत्तरतोऽस्तमेतेत्युच्यते । अतो द्विर्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेतेत्युपपन्नम् । एवमुत्तरत्रापि विरोधः परिहर्तव्यः ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
तृतीयस्याध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥

तृतीयामृतभागस्योपजीवकान् देवान् दर्शयति—

अथ [यत्] तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ [१] [त एत]देव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ [२] ॥

अथ यदिति ॥ अथानन्तरं यत्तृतीयमादित्यस्योत्तरभागावस्थितममृतं तद्वरुणेन मुखेन वरुणप्रमुखा आदित्या उपजीवन्तीत्यर्थः । अन्यत्पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

वेदितुः फलमाह—

स य एतदेवममृतं वेदाऽऽदित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ [३] ॥

स य एतदिति ॥ स य इत्यादि समानं द्विस्ततो द्विगुणं कालं पश्चात्प्रतीच्यामुदेता पुरस्तात्प्राच्याम् अस्तमेतेति विशेषविरोधपरिहारः पूर्वमेवाभिहितः ॥

स य[1] एतदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥ [४] ॥

स य इति ॥ स य एतदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्य ꣳ स्वाराज्यं पर्येत(ता) ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
तृतीयस्याध्यायस्य अष्टमः खण्डः ॥८॥

चतुर्थामृतभागस्योपजीवकान् देवान् दर्शयति–

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ [१] त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ [२] ॥

अथ यदिति ॥ अथानन्तरं यच्चतुर्थं पश्चिमभागाव[स्थितं]देवाः सोमप्रमुखा उपजीवन्ति । अन्यत्समानम् ॥

वेदितुः फलमाह–

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येदस्माद्रूपादुदेति ॥ [३] स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येत(ता) ॥ [४] ॥

॥ इति तृतीयस्याध्यायस्य नवमः खण्डः ॥

स य एतदिति ॥ स य इत्यादि समानम् । द्विस्ततो द्विगुणं कालम् उत्तरत उदीच्यामुदेता दक्षिणतो दक्षिणस्यामस्तमेतेति विशेषः ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
तृतीयस्याध्यायस्य नवमः खण्डः ॥

---

[1] यावद्–मु. पा.

पञ्चमामृतभागस्योपजीवकान् देवान् दर्शयति–

अथ यत्पञ्चममममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ [१] त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ [२] ॥

अथ यदिति ॥ अथानन्तरं यत्पञ्चममूर्ध्वभागावस्थितममृतं तत्साध्याः साध्यनामका देवाः ब्रह्मणा प्रजापतिना मुखेन प्रजापतिमुखाः सन्त उपजीवन्ति । अन्यत्पूर्ववत् ॥

वेदितुः फलमाह–

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ [३] स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्वमुदेतार्वाङस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येत(ता) ॥ [४] ॥

॥ इति तृतीयस्याध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

य एतदिति ॥ स य इत्यादि पूर्ववत् । द्विस्ततो द्विगुणं कालमूर्ध्वं ऊर्ध्वदिग्वर्ती सन् देवतार्वाङधरदिग्वर्ती सन् अस्तमेति [इति] विशेषः । इळावत्तु(र्ते)निवासिनां सर्वतः पर्वतप्राकारनिवारितसवितृरश्मीनां सविता ऊर्ध्व इवोदेता अर्वाङस्तमेता दृश्यते । पर्वते छिद्रप्रवेशात्सवितृप्रकाशस्य अत ऊर्ध्वं उदेतार्वाङस्तमेतेति युक्तम् ॥

॥ इति टीकायां दशमः खण्डः ॥

एवमादित्योपास्तिं दर्शयित्वोपासकस्य परंपराभाव्युदयास्तमयकालापरिच्छेद्यनित्यनिरतिशयानन्दब्रह्मप्राप्तिलक्षणमुक्तिरूपं फलं दर्शयति–

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्यनेनैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता ॥

अथेति ॥ अथोदयास्तमयाभ्यां प्राणिनां स्वकर्मफलभोगनिमित्तमनुग्रहं कृत्वा तत्कर्मफलभोगक्षये सर्वाणि प्राणिजातान्यात्मनि संगृह्यानन्तरं ततः प्राण्यनुग्रहकालादूर्ध्वः सन्नात्मन्युदेत्योद्गम्यानुग्रहविषयाणां प्राणिनामभावात् स्वात्मस्थो नैवोदेता नास्तमेता किं तु एकलोऽद्वितीयो मध्ये स्वात्मन्येव स्थाता स्थितिमान् भवति ॥

केनचिद्विदुषावस्थादिसमाचरणवता रोहितरूपाद्यात्मकामृतोपजीविना पूर्वोक्तक्रमेण सवितारमात्मत्वेनोपेत्य समाहितेन दृष्टमुपासकेन प्राप्तं ब्रह्मलोकं स्तोतुं पथपूर्वकमिव तत्रत्यवृत्तान्तप्रतिपादकं मन्त्रं प्रतिज्ञापुरःसरं-[आह]-

तदेष श्लोकः [१]—

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन ।
देवास्तेनाहꣳसत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणा ॥ इति ॥ [२] ॥

तदेष श्लोक इति ॥ यथेह काले सविता अहोरात्र्याभ्यां परिवर्तमानः प्राणिनामायुः क्षपयति तथा ब्रह्मलोकेऽपि किं प्राणिनां[एवमितिचे]त्पृष्टः सन् प्रत्याह । तत्र त्वया पृष्टः सन् एष श्लोको मन्त्रो भवति । तत्र ब्रह्मलोके न वै यत्पृष्टं त्वया तन्नास्त्येव । तस्यैव विवरणम्—तत्र सविता न निम्लोच नास्तमगमत् कदाचन कस्मिंश्चिदपि काले । [कथ]मिति पृष्टः सन् शपथमिव ब्रवीति । हे देवा यूयं साक्षिणः शृणुत यदि यो(यदु)क्तं वचनं सत्यं तेन सत्येनाहं ब्रह्मणा ब्रह्मस्वरूपेण सा(मा) विराधिषि सा(मा) विराधिषम् । [यद्यहम]सत्यं ब्रवीमि तर्हि[मम]ब्रह्मप्राप्तिम(र्न) भवेदित्यर्थः । इतिशब्दो मंत्रप्रा(समा)तिद्योतनार्थः ॥

तेन सत्यमुक्तमित्याह-

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति । सकृद्दिवा हैवास्मै भवति ॥ [३] ॥

न ह वो (वा) अस्मा इति ॥ अस्मै यथोक्तब्रह्मविदे न ह वा नैव खलूदेति नास्तमेति । किं तु अस्मै ब्रह्मविदे सकृद्दिवा सकृदेव अहर्भवति । स्वयं ज्योतिःस्वरूपत्वात् ॥

तस्येदानीं वेदितुर्फलं दर्शयति—

य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥

य एतामेवमिति ॥ यः पुमानेवमुक्तप्रकारेणैतां ब्रह्मोपनिषदम् उक्तं ब्रह्मरहस्य(स्यं) वेद स विद्वानुदयास्तमयकालं परिच्छेद्य ब्रह्मलोकप्रासिद्धारोत्पत्तिविनाशरहितमानन्दस्वरूपं ब्रह्म भवतीत्यर्थः । पुंसां विश्वासमुत्पादयितुं ब्रह्मादिविशिष्टसंप्रदायागतेयं मधुविद्येयम् ॥

मधुविद्यां स्तोतुं संप्रदायं दर्शयति–

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः ॥

तद्धैतदिति ॥ तत्खल्वेतन्मधुज्ञानं ब्रह्मा हिरण्यगर्भः प्रजापतये विराज उवाचोपदिष्टवान्स प्रजापतिर्मनव उपदिदेश । स मनुः प्रजाभ्य इक्ष्वाकुप्रभृतिभ्यः प्रोवाच ॥

संप्रदायान्तरं दर्शयति–

तद्धैतदुद्दालकायाऽऽरुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥ [४] ॥

तद्धैतदुद्दालकायेति ॥ किं च तत्खल्विदं मधुविषयं ब्रह्म ब्रह्मविज्ञानमारुणये अरुणपुत्राय उद्दालकायोद्दालकनाम्ने ज्येष्ठाय पिता जनकोऽरुणः प्रोवाच ॥

शिष्यं विशिनष्टि—

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वाऽन्तेवासिने ॥ [५] नान्यस्मै कस्मैचन ॥

इदं वाव इति ॥ तदिदं यथोक्तं मधुविषयं ब्रह्म ब्रह्मविज्ञानं पिता जनकोऽन्योऽपि ज्येष्ठाय पुत्राय प्रणाय्याय योग्यायान्तेवासिने शिष्याय वा प्रब्रूयादन्यस्मै कस्मैचिदपि न ब्रूयात् ॥

कमित्ययं संकोच इत्यत्राह—

यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥ [६] ॥

॥ इति तृतीयस्याध्यायस्य एकादशः खण्डः ॥

यद्यप्यस्मा इति ॥ यद्यस्मा आचार्यायाद्भिः परिगृहीतां समुद्रपरिवेष्टितां धनस्य पूर्णां धनेन संपन्नाम् इमां समस्तामपि पृथिवीं दद्यात्, अस्या विद्याया निष्क्रयार्थं प्रयच्छेत् । तथापि नास्या विद्याया निष्क्रयः, यस्मात्ततोऽपि पृथिवीदानात् एतदेव पूर्वोक्तमधुविद्यादानमेव भूयः, उत्कृष्टफलम् । द्विरुक्तिरादरार्था ॥

तामेतां मधुविद्यामाश्रित्य मीमांसाशास्त्रे देवादीनां विद्यायामनधिकारः पूर्वपक्षत्वेन सूत्रितः । तच्च सूत्रं समन्वयाध्यायस्य तृतीयपादे देवताधिकरण इत्थं पठितम्– '**मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ।**' [ब्र. सू. १–३–३१] इति । अस्यार्थः–

यदुक्तं देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकार इति तन्न संभवति यतो जैमिनिराचार्यो देवादीनां ब्रह्मविद्यायामनधिकारं मन्यते । कुतः, मध्वादिष्वसंभवात् । यदि देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारः स्यात्तर्हि मध्वादिविद्यास्वपि विद्वत्वाविशेषाधिकारः स्यात् । न चैवं संभवति । **‘असौ वा आदित्यो देवमधु’** [छा. उप. ३–१–१] इत्यत्र मनुष्य आदित्ये मध्वस्त्येतेनोपासीतेति श्रुतम् । देवादीनां तत्राधिकाराभ्युपगमे आदित्योऽन्यस्मिन् कस्मिन्नादित्ये मध्वस्त्येतेनोपासीत, आदित्यान्तराभ्युपगमे सोऽप्यन्यस्मिन्नित्येवमनवस्था स्यात् । न चैषा प्रामाणिकी आगमे प्रामाणाभावात् जगतीहैकेनैवादित्येन सिद्धेः किमादित्याश्रितानि पञ्चरोहितादिरूपात्मकान्यमृतान्यनुक्रम्य वसवो रुद्रा आदित्या मरुतः साध्याश्च पञ्च देवाः क्रमेणैवैतदमृतमुपजीवन्तीत्युक्त्वा ।... **‘[स य पतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव] मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता’** [छा. उप. ३–६–३।४] तत्तदमृता...सति वस्वादयः कानन्यान्वस्वादीन् अमृतोपजीविनो विजानीयुः किं चान्यां वस्वादिमहिमानं प्राप्नुयुः किं च **अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः** [छा. उप. ३–१८–२] **‘वायु र्वा संवर्गः’** [छा. उप. ४–३–१] **‘आदित्यो...[ब्रह्मेत्यादेशः** [छा. उप. ३–११–१] इत्यादिषु] देवतात्मोपासनेषु तेषामेव देवतात्मनामधिकारः न संभवति । किं च **‘इमावेव गौ(गो) तमभरद्वाजावयमेव गौ(गो)तमोऽयं भरद्वाजः’** [बृ. उप. २–२–४] इत्यादिष्वृषिसंबन्धेषूपासनेषु न तेषामेव पुरुषाणामधिकारः संभवति । तस्मान्न देवा...वान्यदपि सूत्रं पठितम् **‘ज्योतिषि भावाच्च’** [ब्र. सू. १–३–३२] इति । अयमर्थः–यज्ज्योतिर्मण्डलं दिवि अहोरात्राभ्यां परिवर्तमानं जगत्प्रकाशयति तस्मान्नादित्यादिदेवतावाचकाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते । तेषां च देवतावाचकत्वं लोकप्रसिद्धेर्वाक्यविशेषबलाच्चावगम्यते । न च ज्योतिर्मण्डलस्य हृदयादिना विग्रहेण बुद्ध्या चार्थित्वादिना च संबन्धोऽभ्युपगन्तुं शक्यते मृदादिवदचेतनत्वात् । एवमग्न्यादिष्वपि द्रष्टव्यम् ॥

ननु मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणैर्लोकप्रसिद्ध्या च देवादीनां विग्रहवत्त्वावगमादयमेव दोष इति चेत्–मैवम् । मन्त्रास्तावच्छ्रुतिलिङ्गादिभिः कर्माङ्गतया विनियुक्ताः प्रयोगसमवायिनो विहितार्थस्मारकाः सन्तो नान्यस्मिन् सिद्धार्थे प्रमाणभावं भजन्ते । अर्थवादा अपि विधेयार्थस्तुतया विधिनैक्यतामापन्नाः न पृथग् देवतादिविग्रहसद्भावे प्रमाणभावं भजन्ते । इतिहासपुराणयोरपि पौरुषेयत्वात्प्रमाणापेक्षमाणयोर्नैरपेक्ष्यलक्षण्यं प्रामाण्यं

नास्ति । अविचारितविशेषप्रत्यक्षादिना सिद्ध एवार्थो लोकसिद्ध इत्युच्यते । अतो लोकप्रसिद्धिरपि न त्वतंत्रः प्रमाणम् (स्वतन्त्रं प्रमाणम्) ।

ननु तर्हि प्रत्यक्षादिकमेव प्रमाणमस्त्विति चेत्, न । अनुपलब्धेः, अनु मा भूत्प्रत्यक्षं प्रमाणम्, देवतादीनामतीन्द्रियत्वात् । तथाप्यनुमानं किं न स्यादिति चेत्, न तस्याप्यनुपलब्धिविरोधेन कालात्ययापदिष्टत्वादित्यलं तस्मान्न देवा विद्धाधिकाराः । अत्र परिहारं बादरायणः सूत्रयामास–‘**भावं तु बादरायणोऽस्ति हि**’ [ब्र.सू. १-३-३३] इति । तु शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः । यदुक्तं देवतादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारो नास्तीति तेन संभवतीत्यर्थः । यतो वादरायण आचार्यो देवादीनामपि विद्धायामधिकारस्य सद्भावं मन्यते । ननु उक्तं ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे मध्वादिविद्यास्वप्यधिकाराभ्युपगमप्रसङ्ग इति तन्न । यद्यपि मध्वादिविद्यासु सदेवदिव्यामिश्रितासु देवादीनामधिकारस्यासंभवः । तथापि शुद्धायां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति । अर्थित्वसामर्थ्यात्प्रतिषेधापेक्षितत्वादधिकारस्य न हि क्वचिदसंभव इत्ये(ता)वता सर्वत्रासंभवः । मनुष्याणामपि ब्राह्मणादीनां क्वचिद्राजसूयादावधिकाररहितानां सर्वत्राधिकारभावप्रसङ्गात् ।

ननु मनुष्याणां क्वचिदधिकाररहितानामपि प्रमाणबलादन्यत्राधिकारोऽस्तीति चेत्समः समाधिः । ननु ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत राजा राजसूयेनेत्यादिकं प्रमाणं मनुष्येष्वस्ति । अत्र तादृशं किं प्रमागमिति चेत्–उच्यते । ब्रह्मविद्यां प्रकृत्य श्रौतं लिङ्गदर्शनं देवाद्यधिकारस्य सूचकं विद्यते । तद्यथा–‘**तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथा ऋषीणाम्** [बृ. उप. १-४-१०] इति । ‘**ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामानिति। इन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्**’ [छा. उप. ८-७-२] इत्यादि । स्मार्तमपि गंधर्वयाज्ञवल्क्यसंवादादि ज्योतिरादिविषया अप्यादित्यादिशब्दाः ऐश्वर्याद्युपेतं चेतनावन्तमेव देवतात्मानं दर्शयन्ति । मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात् ।...स्वेच्छया च तं तं विग्रहं स्वीकर्तुश्चार्थमस्ति(?) । तथा च सुब्रह्मण्यर्थवादे श्रूयते–‘**मेधातिथेश्चार्थमस्ति । मेघातिथिं हि काण्वायनं [इन्द्रा] भूत्वा जहार ।**’ [षड्विंश ब्रा. १।१] इति । ‘**आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम**’(?)[१] इति। मृदादिष्वपि चेतनाधिष्ठतारोऽभ्युपगम्यन्ते मृदब्रवीदापोऽ[ब्रु]वन्नित्याद्यर्थवाददर्शनात् ।

नन्वर्थवादानां स्तुत्यादिना विधिनैकवाक्यतामापन्नानां स्वार्थे प्रामाण्यं नास्तीत्युक्तमिति चेत् न । पारार्थ्येऽपि पदानां परस्परान्वयबलेन प्रतीयमानस्यार्थस्य प्रतीत्या ।

---

[१] द्र. ब्र. सू. शां. भा. १-३-३३

प्रतीतिर्हि वस्तुसद्भावासद्भावयोः कारणं न त्वनन्यार्थत्वान्यार्थत्वे पुस्तकपाठाद्यर्थमुत्पादितो दीपो घण्टादिकमपि प्रकाशयत्येव ।

ननु महावाक्ये प्रत्यायकेऽवान्तरवाक्यस्य पृथक् प्रत्यायकत्वं नास्ति । अन्यथा **'न सुरां पिबेत्'** इत्यत्रापि न(ञ्च)ति वाक्ये सुरां पिबेदिति पदद्वयसंबन्धात् सुरापानविधिरपि प्रसज्येतेति चेत्, मैवम् । **'न सुरां पिबेत्'** इत्यत्र पदत्रयान्वयस्यैकत्वात् न पृथक् पदद्वयस्यान्वयप्रत्यायकत्वम् । अर्थवादगतानि तु पदानि परस्पराकांक्षासन्निधियोग्यतावशेन पृथगेवान्वयं प्रतिपाद्यानन्तरं प्रयोजनाकांक्षाया विधेयस्तावकत्वेन विधिनैकवाक्यतां प्रतिपाद्यन्ते । तस्मात्तत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य विना बाधं न निराकरणं युक्तम् ।

नन्वर्थवादानां गुणवादेनोपपत्तेः कथं तत्प्रतीतस्यार्थस्याङ्गीकरणमिवधि चेत् (करणमिति चेत् ?) मैवम् । यत्रार्थवादप्रतीतोऽर्थः प्रमाणान्तरप्रसिद्धः, तत्र तदनुवादेनार्थवादः प्रवर्तते । यत्र प्रमाणान्तरविरोधस्तत्र गुणवादेन, यत्र तूभयं नास्ति तत्र विद्यमानवादस्यैव प्रतीतिशरणैरङ्गीकर्तव्यत्वात् ।

नन्वत्राप्यनुपलब्धिविरोधोऽस्तीति चेत्, मैवम् । न ह्यनुपलब्धिमात्रं बाधकम् । किंतु योग्यत्वे सत्यनुपलम्भो बाधकदेवता पुनरतीन्द्रियत्वात् नोपलब्धुं योग्या । अतो योग्यत्वे सत्यनुपलंभस्याभावान्नानुपलब्धिर्बाधः । प्रमाणान्तरं च देवताप्रतिषेधकं न दृश्यते । अतोऽर्थवादप्रतीता देवता न चाकर्तव्या, एवं मन्त्रादिष्वपि द्रष्टव्यम् । तस्मा[द्बाधकत्वा]भावात् देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीत्येतत्सिद्धम् । वैयासिकन्यायमालायामपि देवताधिकरणेऽयमर्थः प्रतिपादितः–

नाधिक्रियन्ते विद्यायां देवाः किं वाधिकारिणः ।
विदेहत्वेन सामर्थ्यहानेर्नैषामधिक्रिया ॥
अविरुद्धार्थवा[दादि] मन्त्रादेर्देहसत्त्वतः ।
अर्थित्वादेश्च सौलभ्याद्देवाद्या अधिकारिणः ॥[1]

बृहदारण्यके तृतीयाध्याये[2] श्रूयते **'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तद्भवत्तथर्षीणाम्'** [बृ. उप. १-४-१०] इति । देवानां मध्ये यो यो ब्रह्म बुबुधे स एव ब्रह्माभवदित्यर्थः । तत्र देवर्ष्यादयो विद्यायां नाधिक्रियन्त इति प्राप्तं कुतः अर्थी समर्थो विद्वानधिक्रियत इत्युक्तानामधिकारहेतूनामशरीरेषु देवेष्वसंभवात् ।

---

[1] ब्र. सू. न्या. पृ. २४६

[2] 'तृतीय' इति प्रमादजनितपाठः प्रथम इति साधु ।

न च मन्त्रार्थवादादिभ्यो देवादीनां विग्रहत्वं विध्येकवाक्यतापन्नानां मन्त्रादीनां स्वार्थे तात्पर्याभावादिति प्राप्ते ब्रूमः–त्रिविधो ह्यर्थवादः–गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्चेति ।

तथा चाहुः–

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥[1]

इति । **'आदित्यो यूपो यजमानः प्रस्तरः'** इत्यादिषु प्रत्यक्षविरोधे सति आदित्यादिवत् यागनिर्वाहकत्वं गुण आदित्यादिशब्दैरुपलक्ष्यत इति गुणवादः । **'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'** [तै. सं. ७-४-१-८] **'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता'** [तै. सं. २-१-१-१] इत्यादिषु मानान्तरसिद्धार्थानुवादित्वादनुवादित्वम्, तयोरुभयोः स्वार्थे तात्पर्यं मा(?)मदयच्छदित्यादिष्वविरुद्धेषु अननुवादेषु भूतार्थवादेषु स्वतः प्रामाण्यवादे स्वार्थे तात्पर्यमस्य निवारयितुमशक्यत्वात् । तदैकवाक्यतया स्वार्थे वान्तरतात्पर्यं प्रतिपद्य पश्चाद्वाक्यैकवाक्यताया विधिषु म......षूपायं न्यायो योज्यः । तथा च मन्त्रार्थवादादिबलात् देवादीनां विग्रहत्वे सति श्रवणादिषु सामर्थ्यं सुलभम् । अर्थित्वं चैश्वर्यस्य अक्षयित्वसातिशयत्वदर्शनात् मोक्षसाधनब्रह्मविद्याविषयमु........भात् वेदत्वात् सुलभैव । तस्माद्देवादीनां विद्याधिकारो न निवारयितुं शक्यः । यद्यप्यादित्यादीनां देवानां आदित्यादिध्यानमिश्रासु सगुणब्रह्मविद्यासु ध्येयानामन्येषामादित्यानां[ब्रह्मत्व]प्राप्तिलक्षणस्य विद्याफलस्य सिद्धत्वाच्च मास्त्वधिकारः, तथापि निर्गुणविद्यायामधिकारे को दोषः । तस्मादस्त्येवाधिकारः ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषद्दीपिकायां तृतीयस्याध्यायस्य एकादशः खण्डः ॥

अत्युत्कृष्टब्रह्मविद्याफलम्, आदित्योपास्तिं दर्शयित्वेदानीं ब्रह्मविद्यात्मिकां गायत्रीविषयामुपास्तिं दर्शयति–

गायत्री वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किंच ॥१॥

गायत्री वा इति ॥ नन्वनेकेष्वनुष्टुप्त्वादिछन्दःसु विद्यमानेषु किमिति गायत्रीमुखेनैव ब्रह्मोपास्तिः प्रतिपाद्यते । सत्यम्, सन्त्यनेकानि छन्दांसि तथापि गायत्र्याः प्राधान्यात्तद्द्वारेणैव ब्रह्मोच्यते । प्राधान्यं च सोमाहरणादितरछन्दोक्षराहरणेनेतरछन्दोव्याख्या च सर्वसवनव्यापकत्वाच्च ब्राह्मणस्य गायत्रीसारत्वाच्च तदेतत्सोमाहरणादिककर्म गायत्र्या यजुर्वेदे स्पष्टमाम्नातम् । तद्यथा– **'गायत्र्युदपतच्चतुरक्षरा सत्यजया ज्योतिषा तमस्या अजास्यरुंधतदजाया अजात्वं सा स मं चाहरच्चत्वारि**

---

[1] न्यायसिद्धान्तमञ्जरी ४

अक्षराणि साष्टाक्षरा समपद्यत' [तै. सं. ६-१-६-७] इत्यादि । वै शब्दोऽवधारणार्थः । यत्त्विदं परिदृश्यमानं भूतं प्राणिजातं यत्किंचेदं स्थावरजङ्गमात्मकं तत्सर्वं गायत्रीमयमेवेत्यर्थः ॥

छन्दोमात्ररूपाया गायत्र्याः कथं सर्वभूतात्मकत्वमित्यत्राह–

वाग् वै गायत्री वाग्वा इदꣳ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥२॥ [१]

वाग्वै गायत्री इति ॥ गायत्री वाग्वै गायत्री वाग्रूपैव वाग् वा यस्माद्ग्रूपैव सति सर्वभूत(तं) गायति । असौ गौरसावश्व इत्येव शब्दयति त्रायते च । न केवलं गायति किन्तु अमुं माहिँसीरिदं ते भयमुत्थितमित्यादिना रूपेण सर्वं भूतजातं रक्षति च। अतो गानात्त्राणाच्च गायत्र्या गायत्रीत्वम् । तस्मात्सर्वभूतात्मकं वाग्रूपां... गायत्र्या युक्तमित्यभिप्रायः ॥

एवं गायत्र्या भूतरूपकमेकं दर्शयित्वा पृथिव्यात्मकं द्वितीयं पादं दर्शयति–

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिवी ॥

या वै सा गायत्रीति ॥ सा वै वाग्रूपा सर्वभूतात्मिकैव या गायत्री सैवेयं वक्ष्यमाणा येयं प्रसिद्धा पृथिवी गायत्री पृथिवीरूपेत्यर्थः ॥३॥

कथं गायत्र्याः पृथिवीरूपत्वमित्यत्राह–

अस्याꣳ हीदꣳ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥ [२] ॥

अस्यां हीदमिति ॥ हि यस्मादस्यां पृथिव्याम् इदं सर्वं स्थावरजङ्गमात्मकं भूतजातं प्रतिष्ठितम् । एतां पृथिवीमिय नातिशीयते नातिवर्तते । तस्माद्गानत्राणाभ्यां सर्वभूतसंबन्धाया गायत्र्याः सर्वभूतसंबन्धाया गायत्र्याः सर्वभूतसंबन्ध पृथिव्यात्मकत्वमित्यर्थः ॥

गायत्र्याः पुरुषरूपं तृतीयपादं दर्शयति–

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन् पुरुषे शरीरम् ॥

या वै सा पृथिवी इति ॥ सा पृथिवी पृथिवीरूपैव गायत्री सा इयं वा वक्ष्यमाणरूपैव अस्मिन्पुरुषे कार्यकरणसंघाते तदिदं शरीरम् ॥

कथं गायत्र्याः शरीरात्मकत्वमित्यत्राह–

अस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिताः । एतदेव नातिशीयन्ते ॥ [३] ॥

अस्मिन्हीम इति ॥ यस्मादस्मिन् शरीरे प्राणा भूतशब्दवाच्याः प्रतिष्ठिताः । एतच्छरीरमेव नातिशीयते नातिवर्तते । तस्मात्पृथिवी तच्छरीरस्यापि भूतसंबन्धात्सर्वभूतसंबन्धा(या) गायत्र्याः शरीरात्मकत्वम् ॥

गायत्र्या हृदयरूपं चतुर्थं पादं दर्शयति–

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्त पुरुषे हृदयम् ॥

यद्वै तत्पुरुषेति ॥ तद्गायत्रीरूपं पुरुषे शरीरं तदिदं वक्ष्यमाणमेव यदिदमस्मिन्पुरुषेऽन्तर्मध्ये हृदयं पुण्डरीकाख्यम् ॥

कथं गायत्र्या हृदयात्मकत्वमित्यत्राह–

अस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिताः । एतदेव नातिशीयन्ते ॥

अस्मिन्हीम इति ॥ इमे प्रसिद्धा प्राणा अस्मिन् हृदयपुण्डरीके प्रतिष्ठिता एतत् हृदयसेवनातिशीयन्ते प्राणाः । तथा च श्रूयते– **'प्राणो ह पिता प्राणो माता'** [छा. उप. ७–१५–१] हि सर्वभूतानीति ॥

अतो भूतसंबन्धसादृश्याद्गायत्र्या हृदयात्मकत्वगायत्रीमाह–

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री ॥

सैषेति ॥......चतुष्पदां चतुर्भिः षडक्षरपादैश्चतुष्पदा सति षड्विधा वाग्भूतपृथिवीशरीरहृदय–प्राणरूपा सति षट्प्रकारा भवति । वाक्प्राणयोरन्यार्थत्वेन निर्देशेऽपि षड्विधत्वसंपादनाय गायत्री प्र.........पूरणानुपपत्तेः । उक्तेऽर्थे श्रुतिः ॥

स्वयमेव मन्त्रसंमतिं दर्शयति–

तदेतदृचाऽभ्यनूक्तम् । [५]

तावनस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥ [६] ॥

तदेतदृचेति ॥ तदेतद्गायत्र्याख्यं ब्रह्म ऋचा मन्त्रेणा......अस्य गायत्र्याख्यस्य ब्रह्मणस्तावान्महिमा विभूतिः यावान् चतुष्पात् षड्विधश्च ब्रह्मणो विकारस्ततस्तस्माद्विकाररूपा गायत्र्याख्याद्वाचारंभरणमात्रान् ज्यायान् महत्तरसत्यरूपोऽविकारस्ततः पुरुषः सर्वपूरणात्पुरि शयनाच्च तस्या सर्वा सर्वाणि तानि पादः त्रयः पादा अस्येति त्रिपात् । अमुं पुरुषाख्यम् अस्य गायत्र्यात्मनो ब्रह्मणो दिवि द्योतनवति स्वात्मनि अवस्थां तं लभत इति शेषः । इति शब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतनार्थः ॥

अथोक्तस्य रूपस्य गायत्र्याख्यस्य ब्रह्मणो जागतस्थानाकासा(शा)त्मकं दर्शयति–

यद्वै तद् ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥

यद्वै तदिति ॥ यत्र खल्वेतत्त्रिपदामृतं गायत्रीमुखेनोक्तं ब्रह्मेतीदमेव तद्वक्ष्यमाणं योऽयं प्रसिद्धः पुरुषाद्बहिर्यः स हि आकाशः ।

अथ यथोक्तस्य गायत्र्याख्यस्य ब्रह्मणः स्वप्नस्थाकाशरूपतां दर्शयति–

यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥ [७] अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशः ॥

यो वा इति ॥ य एव पुरुषाच्छरीराद्बहिर्धा पुरुषादाकाशोऽयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाश इति य एवं पुरुषाच्छरीराद्बहिर्धा बहिस्थ आकाश इत्युक्तोपमेव स वक्ष्यमाणः योऽयं पुरुषशरीर अन्तराकाशः ॥

अथ तस्यैव सुषुप्तिस्थानाकाशरूपतां दर्शयति–

यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥ [८] अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः ॥

यो वै सोऽन्तरिति ॥ स प्रकृतो यः पुरुषशरीरेऽन्तराकाश इत्युक्तोऽयमेव संवक्ष्यमाणः योऽयं हृदयपुण्डरीकेऽन्तराकाशे वक्ष्यमाणेन्द्रियविषये जागरितस्थान आकाशे दुःखब्राहुल्यं पुरुषस्य दृश्यते, स्वल्पस्थाने त्वल्पं दुःखं, सुषुप्तिस्थान आकाशे पुनः किञ्चिदपि दुःखं नास्ति । तथा चोत्तरतापनीये श्रूयते– **‘न कंचन कामं कामयते न [कंचन] स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्**[१] ।’ [मा. उप. ५] इति । उपाधिभेदैककस्य त्रिधा भेदोपन्यास एवमाकाशस्य हृदयसंकोचकरणं चित्तसमाधानस्थानप्रशंसार्थम् ॥

---

१. द्र. बृ. आ. ४–३–१९

यथोक्तब्रह्मणो गुणान्तरं दर्शयति–

तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति ॥

तदेतदिति ॥ तत्प्रकृतमेतदनन्तरोक्तमाकाशाख्यं ब्रह्म पूर्णं सर्वगतमप्रवर्ति नास्ति प्रवर्तितुं शीलमस्येत्यप्रवर्ति सर्वगतमविनाशीतिमन्तव्यम् ॥

गुणफलं दर्शयति–

पूर्णामप्रवर्तिनीꣳ श्रियं लभते य एवं वेद ॥ [९] ॥

पूर्णामिति ॥ यः पुमानेवं यथोक्तपूर्णत्वाप्रवर्तित्वगुणकं ब्रह्म वेद सुपूर्णामप्रवर्तिनीं विनाशरहितां श्रियं विभूतिं लभते प्रतिपद्यत इति ॥

इति सामवेदार्थप्रकाशे छान्दोग्योपनिषद्दीपिकायां
तृतीयस्याध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥

गायत्र्याख्यस्य ब्रह्मण उपासनाङ्गत्वेन द्वारपालकादिगुणविधानायैवं श्रूयते–

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः । स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत ॥

तस्य ह वेति ॥ तस्य हृदयस्यैव एतस्यानन्तरोक्तस्य पञ्चपथः । स प्रसिद्धोऽस्य यः प्राङ् सुषिः प्राग्द्वारं छिद्रं स प्राणः हृदयस्थः सन्पूर्वद्वारेण यः प्रागनिति संचरति वायुविशेषः स प्राणः......। तथा च श्रूयते–‘**आदित्यो ह वै बाह्य प्राणः** ।’[1] इति । तदेतत्प्राणाख्यं स्वर्गलोकद्वारपालकं ब्रह्म तेज इत्यन्नाद्यमिति चोपासीत । चक्षुरात्मकत्वेन तेजस्त्वं प्राणस्य आदित्यात्मकत्वेनानाद्यत्वं सवितुरन्नाद्यत्वं प्रा......भ्या गुणाभ्यां प्राग्द्वारपालकं प्राणाख्यं ब्रह्मोपासीतेत्यर्थः ॥

गुणफलमाह–

तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ [१] ॥

तेजस्वीति ॥ यः पुमानाभ्यां गुणाभ्यां विशिष्टं प्राग्द्वारपालकं प्राणाख्यं ब्रह्म वेद स तेजस्वी अन्नाद आमयावित्वदोषरहितश्च भवति ॥

एवं प्राग्द्वारपालकादिकं दर्शयित्वेदानीं दक्षिणद्वारपालादि दर्शयति–

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत ॥

---

[1] द्र. जै. उप. ४-२२-११

अथेति ॥ प्राग्द्वारपालकोपासनानन्तरं अस्य हृदयस्य यो दक्षिणः सुषिः दक्षिणद्वारछिद्रं स व्यानः । तत्रत्यो वायुः तेन द्वारेण वीर्यवत्कर्म कुर्वन् विविधं वा अनितीति व्यान इत्युच्यते । ससंबन्धमेव तच्छ्रोत्रं श्रोत्राख्यमिन्द्रियं तथा स चन्द्रमाः । तदेत दक्षिणद्वारपालकं व्यानाख्यं ब्रह्म श्रीर्विभूतिः यशः कीतिश्चेत्युपासीत । ऐश्वर्यजनक ज्ञानहेतुश्रोत्रात्मकत्वेन श्रीत्वं तथा कीर्तिहे(तु)त्वेन कारणचन्द्रात्मकस्त्वेन यशः ॥

तं गुणफलं दर्शयति–

श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥ [२] ॥

श्रीमानिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण श्रीत्वयशस्त्वगुणविशिष्टं दक्षिणद्वारपालकं व्यानाख्यं ब्रह्म वेद स श्रीमान् यशस्वी भवति । मुख्यफलं तु स्वर्गलोकप्राप्तिः ॥४॥

पश्चिमद्वारपालादिकं दर्शयति–

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः । सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ [३] ॥

अथ योऽस्येति ॥ अथानन्तरमध्यहृदयस्य यः प्रत्यङ् सुषिः पश्चिमद्वारछिद्रं सोऽपानः । तत्रत्यो वायुविशेषो मूत्रपुरीषाद्यपनयन्नधोऽनितीत्यपान इत्युच्यते । सा वाक् सोऽग्निस्तदेतत्पश्चिमद्वारपालकमपानाख्यं ब्रह्म ब्रह्मवर्चसं वृत्तस्वाध्यायनिमित्ततेजः अन्नाद्यं चेति मन्तव्यम् । अग्निसंबन्धी ब्रह्मवर्चसात्मकतेजस्त्ववाग्रूपत्वादन्नाद्यत्वं च य एवमुक्तगुणाभ्यां विशिष्टमपानाख्यं ब्रह्म वेद स ब्रह्मवर्चस्यन्नादश्च भवति ॥

उत्तर द्वारपालादिकं दर्शयति–

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत । कीर्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद ॥ [४] ॥

अथ य इति ॥ अथानन्तरमस्य हृदयस्य उदङ् सुषिरुदग्द्वारछिद्रं स समानः । तत्रत्यो वायुविशेष उज्झितं पीतं च समानयतीति समान इत्युच्यते । तन्मनोन्तःकरणं स पर्जन्यो वृष्ट्यात्मको देवस्तदेतदुदक्द्वारपालकं समानाख्यं ब्रह्म कीर्तिश्च व्युष्टिः कान्ति-

श्चेत्युपासीत । कीर्तिकारणज्ञानहेतुमनोरूपत्वात्कीर्तित्वं कान्तिहेतुत्वं न कारणम् । पर्जन्यरूपत्वात् व्युष्टित्वं य एवमेताभ्यां विशिष्टं समानाख्यं ब्रह्म वेद स कीर्तिमान् व्युष्टिमान् भवति ॥

ऊर्ध्वद्वारपालादिकं दर्शयति–

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान् भवति य एवं वेद ॥ [५] ॥

अथ य इति ॥ अथास्य हृदयस्योर्ध्वः सुषिरूर्ध्वद्वारछिद्रं स उदानः । पादातलादारभ्योर्ध्वमुत्क्रमेण उत्कर्षणार्थं कर्म कुर्वन् वा उदनातीत्युदान इत्युच्यते स वायुः । स तदाधार आकाशस्तदेतदुदानाख्यं ब्रह्म ओजश्च महश्चेत्युपासीत । वाय्वाकाशयोरोजोहेतुत्वात्तदात्मकत्वेनोजस्त्वम् । तत एव महस्त्वं च । य एताभ्यां गुणाभ्यां विशिष्टं वेद स ओजस्वी बलवान्महस्वान्सर्वगतश्च भवति ॥

एवं पञ्च द्वारपालकान् दर्शयित्वा उपास्तेः फलं दर्शयति–

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः । स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेदास्य कुले वीरो जायते । प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद ॥ [६] ॥

ते वा एत इति ॥ ते प्रकृता ये ते यथोक्ताः पञ्चसंख्याकाः प्राणादयो देवा ब्रह्मपुरुषाः ही... पञ्च सुषिसंबन्धाः राजगृहद्वारवर्तिनो राजपुरुषा इव स्वर्गस्य सुखोपभोगनिमित्तस्य हार्दस्य लोकस्यद्वारपाः द्वारपाला इव यस्मात्–ह्येते चक्षुःश्रोत्रवाङ्मनःप्राणरूपैर्बहिर्मुखप्रवृत्तैर्हार्दस्य ब्रह्मणः प्राप्तिद्वाराणि निरुद्धानि । अविक्षितकरणस्य विषयासक्तस्य हार्दे ब्रह्मणि चेतो न प्रविशतीत्यनुभवसिद्धम् । तस्मादेतेषां पञ्च ब्रह्मपुरुषाणमां हार्दलोकद्वारपालकत्वं युक्तमित्यर्थः । तथा च सति य एतानेवं यथोक्तगुणकान् पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद राजगृहद्वारपालानिव उपासनायां वशीकरोति स तैरनिवारितः सन् राजानमिव स्वर्गं लोकम् आनन्दात्मकं ब्रह्म प्रतिपद्यते । किं च य एतान्पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेदास्यैवं विदुषः कुले संततिः वीरहा पुत्रो जायते । वीरपुरुषसेवया वीरपुत्रप्राप्तिर्युक्ता ॥

‘यदुक्तं **त्रिपादस्यामृतं दिवि**’ [छा. उप. ३-१२-६] इति तत्र लिङ्गेन दृढेन प्रतिपत्तिर्भवति नान्यथेति हृदि निधाय त्वक्श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यस्पर्शशब्दात्मकं लिङ्गद्वयं दर्शयितुं तावदिदमाम्नायते–

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः ॥ [७] ॥

अथ यदिति ॥ अथशब्दोऽवान्तरवाक्योपक्रमार्थः । अमुष्माद्द्युलोकात्परः परं लिङ्गव्यत्ययः यज्ज्योतिर्ब्रह्म विश्वतः पृष्ठेषु विश्वतस्योपरि तस्यैव व्याख्यानम्–सर्वतः पृष्ठेष्विति । सर्वस्य संसारस्योपरीत्यर्थः । अनुत्तमेषु न विद्यते उत्तमो येभ्यस्ते ह्यनुत्तमाः, तेषु तत्पुरुषसमासशंकानिवृत्त्यर्थमुच्यते–उत्तमेष्विति । उत्कृष्टेषु हिरण्यगर्भादिषु लोकेषु सत्यलोकादिषु दीप्यते स्वयमेव प्रकाशते । तदिदं वक्ष्यमाणमेव अस्मिन्पुरुषे शरीरेऽन्तर्मध्ये इदं स्वानुभवसिद्धं यज्ज्योतिः एवं हार्दः स्वयं ज्योतिस्वरूपम् । ब्रह्मदशायत्वात् ॥

तत्र सा स्वरूपं लिङ्गं दर्शयति–

तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सꣳस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति ॥

तस्यैषा दृष्टिरिति ॥ यत्र यस्मिन् काले एतदिति क्रियाविशेषणम् । अस्मिन् शरीरे हस्तेन संस्पृष्टेः संस्पर्शेन त्वगिन्द्रियेण उष्णिमानं उष्णस्पर्शभावं विजानाति । तस्य हार्दस्य प्रकृतस्य नामरूपव्याकरणाय देहमनुप्रविष्टस्य परस्य ब्रह्मण एषा दृष्टिर्दर्शनं दर्शनोपाय इत्यर्थः । औष्णस्यात्मलिङ्गत्वमव्यभिचारादवगम्यते, न हि जीवं तमात्मान-[मुष्णिमा व्यभिचरति] तथा च लोके सर्वे जना जीवनं प्रतीक्षमाणाः शरीरगत-मौष्ण्यमेव तल्लिङ्गतया विजानन्ति । तथा च श्रूयते–‘**उष्ण एव हि जीविष्यंच्छीतो मरिष्यन्निति हि विज्ञायत**’[१] इति ॥

शब्दरूपं लिङ्गं दर्शयति–

तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति ॥

---

१. द्र. छा. उप. शा. भा. ३-१३-८

तस्यैषेति ॥ यत्र यदा एतदिति क्रियाविशेषणम् । हार्दस्य ज्योतिषो लिङ्गं शब्दं श्रोतुमिच्छति । तदा कर्णावपिगृह्य पिधाय निनदमिव रथस्येव घोषो निनदः तमिव, नदथुरिव वृषभकूजितमिव शब्दो नदथुस्तमिव, अग्नेरिव ज्वलतोऽग्नेरिव शब्दं शरीरस्यान्तरुपशृणोति । तस्य नामरूपव्याकरणाय देहमनुप्रविष्टस्य ब्रह्मणो ये(ए)षा श्रुतिः श्रवणं श्रवणोपाय इत्यर्थः ॥

एवं लिङ्गद्वयमुपन्यस्य तद्विशिष्टतया ब्रह्मणोपास्तिं दर्शयति—

तदेतद् दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत ॥

तदेतदिति ॥ दृष्टत्वश्रुतत्वाभ्यां विशिष्टं विजानीयादित्यर्थः ॥

एवं विशिष्टगुणोपासकस्य फलं दर्शयति—

चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ [८] ॥

॥ इति छान्दोग्ये तृतीयस्याध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥

चक्षुष्य इति ।। य एवमाभ्यां गुणाभ्यां विशिष्टं ज्योतिर्वेद जानाति स चक्षुष्यो दर्शनीयः श्रुतो विख्यातश्च भवति । स्पर्शगुणोपासनफलं रूपे संपादयितुं चक्षुष इत्युक्तम् रूपस्पर्शयोरविनाभावात् दर्शनीयत्वस्येष्टत्वाच्च कृच्छ्रोपास्तिफलं तु ब्रह्मप्राप्तिः । द्विरुक्तिरादरार्था ॥

यदतः परो न दिवो ज्योतिः [छा. उप. ३-१३-८] इत्यत्र ज्योतिशब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वं प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे दशमाधिकरणे[सूत्रितम् । तद्यथा] **ज्योतिश्चरणाभिधानात्** [ब्र. सू. १-१-२४] इति । कार्यज्योतिर्दीप्यते इत्यत्र ब्रह्मणो सन्निधेः कार्यं तेजो लिङ्गबलादपि ।

छान्दोग्यस्य तृतीयाध्याये गायत्रीविद्यायां हृदयच्छिद्रोपासनमभिधायेदमाम्नायते— **‘अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते’** [छा. उप. ३-१३-७] इति । तत्र द्युलोकात्परं दीप्यमानं वस्तु किं कार्यरूपं नेत्रानुग्राहकं तेजः उत ब्रह्मेति संशये कार्यमिति तावत्प्राप्तं, कुतः, ब्रह्मणो सन्निहितत्वेन वाक्ये ब्रह्मपरत्वायोगात्तेजः परत्वं तूपपद्यते तल्लिङ्गसद्भावात्, **‘इदं वाव तद्यदिदमस्मिनन्तः पुरुषे ज्योतिः’** [छा. उप. ३-१३-७] इति श्रूयमाणो जाठराग्न्यभेदस्तेजो लिङ्गम् । अत्रोच्यते—असिद्धो सन्निधिः, पूर्वस्मिन् गायत्रीखण्डे’ **पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि** [छा. उप. ३-१२-६] इति चतुष्पदो ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्तस्य चात्र प्रकृतिवाचिना सच्छब्देनानुवर्तनात् अस्य ब्रह्मणः सर्वाणि भूतान्येकोंऽशः पादत्रयोपलक्षितमनन्तं स्वरूपं द्योतनात्मके

स्वस्मिन् अवतिष्ठत इत्यर्थः । न च ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्त्यनुपपत्ति भासकत्वावाचिकत्वाद्ब्रह्मणो जगद् भासकत्वात्तेजोलिङ्गं तु तदुपाधिके ब्रह्मण्यवकल्प्यते तस्माज्ज्योतिर्ब्रह्म ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषद्दीपिकायां तृतीयस्याध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥

अनन्तगुणस्यानन्तशक्तेस्त्रिपादमृतस्य ब्रह्मण एव पुनर्विशिष्टगुणशक्तिसत्वेनोपास्तिं विधातुम् आदावुपासकस्याधिकारसंपादकं रागद्वेषादिराहित्यं दर्शयति—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ॥

सर्वं खल्विदमिति ॥ खलुशब्दो हेत्वर्थः । यस्मात्सर्वं समस्तमिदं नामरूपाभ्यां विकृतं प्रत्यक्षादिना परिदृश्यमानं जगत् ब्रह्म तस्माच्छान्तो रागद्वेषादिरहितः सन् सर्वात्मकं ब्रह्म वक्ष्यमाणैर्गुणैरुपासीत । सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वप्रतिपादनं तज्जलानीति । तस्माद् ब्रह्मणस्तेजोऽबन्नादिक्रमेण सर्वं जातम् , अतस्तज्जम् । तथा तस्मिन्नेव ब्रह्मणि प्रतिलोमतया लीयते, अतस्तल्लम् । तथा तस्मिन्नेव ब्रह्मणि स्थितिकाले अनिति प्राणितीति तदनम् । तस्मादुत्पत्तिस्थितिलयकालेषु ब्रह्मव्यतिरेकेणाग्रहणात् सर्वमिदं जगद् ब्रह्मैव ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वेन तदुपास्तेरपि सर्वात्मकत्वफलतया रागद्वेषादिरहित एव ब्रह्मोपास्तिं कुर्यादित्यभिप्रायः ॥

कथमुपासीतेत्याह—

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥ [१] ॥

अथ खल्विति ॥ अथ रागद्वेषपरित्यागानन्तरं स पुमान् क्रतुम्, इदमेव नान्यथेति निश्चयं कुर्वीतेति व्यवहितेनान्वयः । किमर्थं निश्चयकरणमित्यत्रोच्यते—खल्वित्यादि । खलु शब्दो हेत्वर्थः । यस्मात्क्रतुमयः क्रतुपर्यायोऽध्यवसायात्मकः पुरुषो जीवः । यादृशः क्रतुर्यस्य सोऽयं यथाध्यवसाय इत्यर्थः । अस्मिन् लोके पुरुषो जीवो भवति ततोऽमुष्माल्लोकात्प्रेत्य मृत्वा भवति । निश्चयानुरूपफलात्मको भवतीत्यर्थः । तथा च गीतायां पठ्यते—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ [गीता–८–६]

तस्माद्वक्ष्यमाणप्रकारं निश्चयं कुर्यादित्यर्थः ॥

यैर्गुणैर्विशिष्टतया ब्रह्मोपास्यं तान् क्रमेण दर्शयिष्यन् आदौ मनोमयत्वगुणं दर्शयति–

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥ [२] ॥

मनोमय इति ॥ मनुतेऽनेनेति मननस्य [सा]धनमन्तःकरणं मनः । तन्मनस्तत्प्रायः मनसा खल्वात्मा प्रवृत्त इव निवृत्त इव च भवति । गुणान्तरमाह–प्राणशरीर इति । प्राणो लिङ्गात्मा, विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयसंमूर्च्छितः । तथा च श्रूयते– **'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः'** [कौ. उप. ३–३] इति प्राणशरीरः । भारूपः भा दीप्तिश्च(श्चै ?)तन्यलक्षणरूपं यस्य स भारूपः । तथा सत्यसंकल्पः सत्यः संकल्पो यस्य स सत्यसंकल्पः । संकल्पस्य सत्यत्वमिव तथा फलत्वं, संसारीवदीश्वरो मिथ्याफलहेतुसंकल्पो न भवतीत्यर्थः । तथा आकाशात्मा आकाश इव आत्मा स्वरूपं यस्य स आकाशआत्मा । यथाकाशः सर्वगतः सूक्ष्मो रूपादिरहितश्च तथेश्वरोऽप्यीत्यर्थः । तथा सर्वकर्मा क्रियत इति जगत्कर्मेत्युच्यते । सर्वं कर्म यस्य स सर्वकर्मा सर्वस्य जगतः कर्तेत्यर्थः। तथा च श्रूयते–**'स हि सर्वस्य कर्ता'** [द्र. बृ. उप. ४–३–१०] इति । तथा सर्वकामः अवितथो यस्यासौ सर्वकामः । तथा च स्मर्यते–**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ** ॥' [गीता. ७–११] इति । ननु कामोऽस्मीति स्मृतौ कामात्मकत्वमीश्वरस्यावगम्यते । तथा च सत्यत्र कथं बहुब्रीहि समासाश्रयणमिति चेत् मैवम् । कामात्मकत्वस्वीकारे कामस्य कार्यत्वात् पारार्थ्याच्चेश्वरस्यापि कार्यत्वपारार्थ्ये स्याताम् । न चैतद्युक्तम् । अतो बहुब्रीहिसमास एवाश्रणीयः । एतदनुसारेण स्मृतावपि कामशब्दस्तद्वन्तं लक्षयति । तथा सर्वगन्धः सर्वे गन्धाः सुखकरा यस्य स सर्वगन्धः । तथा च स्मृतिः **'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च'** [गीता. ७–९] इति । तथा सर्वरसः । अपुण्यगन्धरसग्रहणस्य पापनिमित्तत्वादीश्वरस्य पापसंबन्धाभावात् साधारण्येन श्रुतावपि गन्धरसशब्दौ पुण्यगन्धरसौ लक्षयतः । तथा सर्वमिदमभ्यात्तः सर्वमिदं परिदृश्यमानं जगत् अभ्यात्तोऽभिव्याप्तश्च । अततेः कर्तरि निष्ठा महत्वेन सर्वजगद्व्यापक इत्यर्थः । तथा अवाकी–उच्यते अनयेति वाक् वा वागेव वाकः वाक्तेः करणे घञ् तस्य रूपमिदं, वाकोऽस्यास्तीति वाकी । न वाकी अवाकी वागेन्द्रियरहित इत्यर्थः । वाक्प्रतिषेधः श्रोत्रादीन्द्रियप्रतिषेधस्योपलक्षकः । ईश्वरस्य गन्धादिश्रवणात् तद्ग्रहणाय प्राप्तानि श्रोत्रादीनि । अतस्तान्यपि वाक्प्रतिषेधेन प्रतिषिध्यन्ते । तथा च श्रूयते–**'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स**

शृणोत्यकर्णः' [श्वे. उप. ३-१९] इति । तथानादरः, न विद्यते आदरः संभ्रमो यस्यासावनादरः । नित्यतृप्तस्येश्वरस्य कामप्राप्त्याभावात्तन्निमित्तः संभ्रमः क्वचिदपि नास्तीत्यर्थः ॥

यथोक्तगुणस्येश्वरस्य भावनाप्रकारं दर्शयति—

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् ॥

एष य आत्मेति ॥ यथोक्तगुणक एष ईश्वरो मे म आत्मा एष यथोक्तगुणक ईश्वरो मम हृदये हृदयपुण्डरीकस्यान्तर्मध्येऽणीयानणुतर इति ॥

अणुत्वस्य सापेक्षत्वात्कुत इत्याशंकायामाह—

व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा ॥

व्रीहेर्वेति ॥ व्रीह्यादयः श्यामाकतण्डुलान्तादुत्तरोत्तरमतिशयसूक्ष्मपरिमाणवन्तं, अतः क्रमेणोपन्यासः । व्रीह्यादिभ्यः सर्वेभ्योऽप्यणीयानित्यर्थः ॥

ननु श्यामाकतण्डुलेभ्यः परिच्छिन्नपरिमाणेभ्योऽणीयानित्युक्ते ईश्वरस्यापि परिछिन्नपरिमाणत्वं प्रसज्येते त्याशंकयाह—

एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ [३] ॥

एष म आत्मेति ॥ एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ एव यथोक्तगुणविशिष्ट ईश्वरो मे म आत्मा । एष एवान्तर्हृदये हृदयपुण्डरीकस्य अधो वर्तमान ईश्वरः पृथिव्याः भूमेर्ज्यायान्महत्तरः, अन्तरिक्षादपि ज्यायान् दिवो द्युलोकादपि ज्यायान्न केवलमेकैकस्माल्लोकात् किन्त्वेभ्यो लोकेभ्यः सर्वेभ्योऽपि ज्यायान् ॥

ननु यथा राजपुरुषमानय चित्रगुमानयेत्यत्र राजाद्युपलक्षितस्य पुरुषस्यैवानयक्रियायामन्वयः । न तु राजादेः तद्वदत्रापि यथोक्तैर्गुणैरुपलक्षितस्येश्वरस्यैवोपास्यत्वं स्यादित्यत आह—

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वदिमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभविताऽस्मीति ॥

सर्वकर्मेति ॥ सर्वकर्मेत्यादि पूर्ववत् । योऽन्तर्हृदय आत्मा एतद्ब्रह्मैतमितोऽमुष्माच्छरीरात्प्रेत्य मृत्वा अभिसंभविता, एतस्यात्मनः प्रतिपत्तास्मीत्येवमेतैर्गुणैर्विशिष्टतयैव परमेश्वर उपास्यो न त्वेतान् गुणान् विहाय, तैरुपलक्षितः परमेश्वरो ध्येय इत्यर्थः ॥

एवं विदुषः फलमाह–

यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ [४] ॥

यस्य स्यादिति ॥ यस्यैवं विदुष एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति बुद्धिः स्यात् । अद्धा सत्यमेवमहं प्रेत्य भवेयम्, अहं प्रेत्यैवं न भवेयमिति विचिकित्सा विप्रतिप्रत्तिरेतस्मिन् क्रतुफलसंबन्धेऽस्ति । स तथैवेश्वररूपतां प्रतिपद्यत इत्येतच्छाण्डिल्यानामृषिराह स्म उक्तवान् किल । द्विरुक्तिरादरार्था विद्यासमाप्तिद्योतनार्था ॥

तत्र मनोमयस्य ब्रह्मत्वं प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे प्रथमाधिकरणे–

मनोमयोऽयं शारीर ईशो वा प्राणमानसे ।
हृदयस्थित्यणीयस्ते जीवे स्युस्तेन जीवगाः ॥
शमवाक्यगतं ब्रह्म तद्धितादिरपेक्षते ।
प्राणादियोगश्चित्तार्थश्चिन्त्यं ब्रह्म प्रसिद्धितः ॥[1]

छान्दोग्यस्य तृतीयाध्याये शाण्डिल्यविद्यायामिदमाम्नायते–‘**मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः** [छा. उप. ३–१४–२] इति । तत्र जीव ईशो वेति संदेहे जीव इति प्राप्ते मनःसंब्रन्धीनां जीवेषु संपादत्वात् । मनसो विकारो मनोमय इति मनःसंब्रन्धः, प्राणः शरीरमस्येति प्राणसंबन्धो न चेदं द्वयमीश्वरे सुसंपादम् । ‘**अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः**’ [मुं. उप. २–१–२] इति निषेधात्तथा ‘**एष म आत्माऽन्तरहृदयेऽणीयान्**’ [छा. उप. ३–१४–३] इति श्रूयमाणं हृदयेऽवस्थानमणीयस्त्वं च निराधारस्य सर्वगतस्य कथंचिदुपपद्यते । तस्माज्जीव इति प्राप्ते ब्रूमः–‘**सर्वं खल्विदं ब्रह्म (तज्जलानि)ति शांत उपासीत**’ [छा. उप. ३–१४–१] इति तस्मिन् शमविधिपरे पूर्ववाक्ये श्रूयमाणं यद्ब्रह्म तदेव मनोमयः प्राणशरीरश्चेत्येताभ्यां तद्धितबहुव्रीहिभ्यां विशेष्यन्ते । नापेक्षते शमवाक्यस्यायमर्थः । यस्मात्सर्वमिदं ब्रह्म तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वात्तस्मात्सर्वात्मके ब्रह्मणि रागद्वेषविषयासंभवात् उपास्तिकाले शान्तो भवेदिति तद्वाक्य...ब्रह्मणा विशेष्यत्वेनान्वितमनोमयवाक्यमपि ब्रह्मपरं भविष्यति । न च ब्रह्मणो मनः

---

[1] ब्र. सू. न्या. पृ. १६०

प्राणसंबन्धाद्यनुपपत्तिः । निरुपाधिके तदनुपपत्तावपि सोपाधिकस्योपास्यस्य चिन्तनार्थतया तदुपपत्तेः । तस्मात्सर्वेष्वपि वेदान्तेषु यद्ब्रह्मोपास्यत्वेन प्रसिद्धं तद्...न अत्राप्युपास्यं न हि क्वचिदपि वेदान्ते जीवस्योपास्यत्वं प्रसिद्धम् । ततो ब्रह्मेति राद्धान्तः ॥

इति छान्दोग्यदीपिकायां तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ॥१४॥

मुक्तिकामस्यादित्यादिविषयामुपास्तिमभिधायेदानीं पुत्रदीर्घायुष्कामस्य कोशविषयामुपास्तिमुपदिशति–

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति ।
दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलम् ॥
स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदꣳ श्रितम् ॥ [१] ॥
तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः ॥

अन्तरिक्ष इति ॥ अन्तरिक्षमुदरमन्तर्बिलं यस्य कोशस्य सोऽन्तरिक्षोदरः काशः इव कोशः । अनेकधर्मसाम्याद्, भूमिर्बुध्नोर्मूलं यस्य स भूमिबुध्नः । न जीर्यन्ति त्रैलोक्यात्मकत्वेन न विनश्यति । यावद्युगकालं किं चास्य कोशस्य प्राच्यादयः सर्वा दिश; स्रक्तयः कोणा अपि चास्य कोशस्य द्यौर्द्युलोक उत्तरमुपरिवर्तमानं बिलं सुषिरं स एष सोऽयं यथोक्तगुणकः कोशो वसुधानः । वसूनि प्राणिनां कर्मफलभूतानि यस्मिन् ब्रह्माण्डकोशे निधीयन्ते स वसुधानः । तस्मिन् यथोक्ते कोशे इदं प्रत्यक्षादिना गृह्यमाणं विश्वं समस्तं जगत् श्रितं प्रतिष्ठितं चेत्यर्थः ।

किं च तस्य कोशस्य या प्राची प्राग्वर्तिनी दिग् सा जुहूर्नाम प्राङ्मुखः सन्तः सर्वे कर्माणि जुह्वन्तीन्ति प्राच्या दिशो जुहूत्वम् । तथा तस्य या दक्षिणा दिक् सा सहमाना नाम, दक्षिणदिग्वर्तिन्यां यमपुर्यां सर्वे प्राणिनः पापकर्माणि सहन्त इति दक्षिणा दिक् सहमाना । तथा या तस्य प्रतीची दिक् सा राज्ञी । राज्ञ(ज्ञा ?) वरुणेनाधिष्ठितत्वात् संध्यारागयोगित्वाद्वारा । तथा तस्य या उदीची दिक् सा सुभूता नाम सुष्ठु भूतिमद्भिरीश्वरकुवेरादिभिरधिष्ठिता । अतः साधुभूता । किं च तासां प्राच्यादिदिशां वायुर्वत्सो वत्सस्थानीयः...जन्यत्वाद्वायोर्दिग्वत्सता ॥

उपास्तेः फलमाह–

स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदꣳ रोदिति ॥२॥

स य एतमिति ।। कश्चित्पुत्रदीर्घायुष्काम एवं यथोक्तगुणकमेतं वायुं दिशां वत्सं वेद जानाति स पुत्ररोदनं पुत्रमृत्युनिमित्तमश्रुविमोचनं न रोदिति न कुर्यादित्यर्थः । न तस्य[पुत्रो]म्रियत इति भावः ॥२॥

एवमुपास्तिफलं दर्शयित्वोपासकस्य तत्र निश्चयं दर्शयति–

सोऽहमेतं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदं रुदम् ॥ [२] ॥

सोऽहमेतमिति ।। सपुत्रो जीवनार्थ्यहम् एवमुक्तप्रकारेण एतं वायुं दिशां वेद जाने । अतः पुत्ररोदं पुत्रनिमित्तं रोदं मा रुदं मा कार्षमित्यर्थः । धात्वर्थस्य नाम्नैवाभिहितत्वात्प्रकृतिरपि प्रत्ययार्थमेव ब्रूते एवमस्मिन् फलविशेषे निश्चयं कुर्यादित्यर्थः ॥

उपासनाङ्गत्वेन जप्यान्मन्त्रान् दर्शयति–

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना, प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना ॥ [३] ॥

अरिष्टं कोशमिति ।। अरिष्टं केनापाहि(हिं ?)सितं कोशं यथोक्तं पुत्रदीर्घायुषे प्रपद्ये प्रपन्नोऽस्मि । अमुनाऽमुनाऽमुनेति त्रिर्नाम गृह्णीयां पुत्रस्य प्राणं प्रपद्य इत्याद्यप्येवं व्याख्येयम् ।

उक्तान्मन्त्रान् स्वयमेव व्याचष्टे–

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च तमेव तत्प्रापत्सि ॥ [४] ॥ अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥ [५] ॥ अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥ [६] ॥ अथ यदवोचꣳ स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् तदवोचम् ॥ [७] ॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

---

१. रुदम्–मु. पा.

स यदवोचमिति ॥ सपुत्रदीर्घायुष्कामोऽहं प्राणं प्रपद्य इति यदवोचमित्युक्तस्यानुवादो व्याख्यानार्थः । यत्किंचेदं परिदृश्यमानं सर्वं भूतं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् तदिदं प्राणो वै प्राण एव तमेवं सर्वात्मकं प्राणमेव तत्तेन प्राणप्रतिपादनेन प्रापत्सि प्रापं नोभूवम् । अथानन्तरं भूः प्रपद्य इति यदवोचं तत्तेन भूः प्रतिपादनेन पृथिव्यादीन् त्रीन् लोकान् प्रपन्नोऽस्मीत्येवावोचम् । अथ भुवः प्रपद्य इति यदवोचं तत्तेन भुवः प्रतिपादनेनाग्न्यादीन् त्रीन् देवान् प्रपद्य इत्येवावोचम् । अथ स्वः प्रपद्य इति यदवोचं तत्तेन स्वः प्रतिपादनेन त्रीन्वेदान् प्रपद्य इत्येवावोचम् । द्विरुक्तिरादरार्था ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां तृतीयस्याध्ययस्य
पञ्चदशः खण्डः ॥

पुत्रदीर्घजीवनकामस्य कोशविषयामुपास्तिमभिधाय जीवत एव पुत्रादिफलयोगो नान्यथेति स्वीयदीर्घजीवनकामस्य पुरुषविषयामुपास्तिं दर्शयति—

पुरुषो वाव यज्ञः ॥

पुरुष इति ॥ पुरुषो जीवनवान् कार्यकारणसंघातरूपो यः प्रसिद्धः स एव यज्ञ इत्युपासीत ॥

कथं तस्य यज्ञत्वमित्याह—

तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनम् ॥

तस्य यानीति ॥ तस्य पुरुषस्य यानि चतुर्विंशतिसंख्याकानि वर्षाणि आयुषः पूर्वभागस्थानि तत्प्रातःसवनं पुरुषरूपस्य यज्ञस्य । अतः सवनसंबन्धात्पुरुषस्य यज्ञत्वमुपपद्यत इत्यर्थः ॥

चतुर्विंशतिवर्षयुक्तस्यायुषः कथं सवनसाम्यमित्यत्राह—

चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री । गायत्र्यं प्रातःसवनम् ॥

चतुर्विंशत्यक्षरेति ॥ यतश्चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्र्याख्यं छन्दः चतुर्विंशत्यक्षरं विधियज्ञस्य प्रातःसवनं च गायत्र्यं त्रिछन्दस्कम् । अतोऽक्षरसाम्याद्गायत्रीरूपचतुर्विंशतिवर्षयुक्तमायुः पुरुषयुक्तस्य प्रातः पुरुषयज्ञस्य प्रातः सवनस्याधिष्ठातॄन् ॥

पुरुषयज्ञः प्रातःसवनस्याधिष्ठातॄन् देवान् दर्शयति—

तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः ॥

तदस्येति ॥ अस्य पुरुषस्य तत्प्रातःसवनं वसवो वसुनामका देवा विधियज्ञस्य प्रातःसवनमिवानुगताः प्रातःसवनस्वामिन इत्यर्थः ॥

विधियज्ञवत्पुरुषयज्ञेऽपि किमग्न्यादीनामेव वसूनां देवतात्वमित्यत्राह–

प्राणा वा[1] वसवः ॥

प्राणा वा वसव इति ॥ ये प्राणा वागादयो वायवश्च त एवास्मिन्पुरुषयज्ञे वसवोऽग्न्यादय इत्यर्थः ॥५॥

प्राणेषु वसुशब्दस्या वृत्तिनिमित्तं दर्शयति–

एते हीद॒ँ सर्वं वासयन्ति ॥ [१] ॥

एते हीदमिति ॥ हि यस्मादेते प्राणा इदं पुरुषादि प्राणिजातं सर्वं वासयन्ति देहेष्ववस्थानं प्रापयन्ति । प्राणेषु सत्सु देहे सर्वमिदं वसति नान्यथेति । तस्माद्वसनाद्वासननाद्वा गुणाद्वसुशब्दः प्राणेषु वर्तत इत्यर्थः ॥

उपासकस्य नैमित्तिकं मन्त्रं जपं विधत्ते–

तं चेदेतस्मिन् वयसि किंचिदुपतपेत्स यद् ब्रूयात्[2] ॥

तं चेदिति ॥ एतस्मिन् प्रातःसवनरूपे चतुर्विंशतिवर्षोपेते वयसि तं पुरुषयज्ञोपासकं किंचिद्व्याध्यादिकमुपतपेच्चेद्यदि शंकानिमित्तमुपतापं जनयेत् तर्हि सदा स पुरुषयज्ञोपासको ब्रूयात् । वक्ष्यमाणमिमं मन्त्रं जपेदित्यर्थः ॥

तेन जप्यं मन्त्रं दर्शयति–

प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिन॒ँ सवनमनुसंतनुतेति माऽहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेति ॥

प्राणा वसव इति ॥ हे प्राणरूपा वसवः मे मदीयस्य पुरुषयज्ञस्य यदिदं चतुर्विंशतिवर्षवयोरूपं प्रातःसवनं वर्तते तन्माध्यंदिनं सवनं चतुश्चत्वारिंशद्वर्षवयोरूपं पुरुषयज्ञीयम् अनुसंतनुत माध्यंदिनसवनरूपेणायुषैकीभूतं कुरुतेत्यर्थः । इत्येवं सत्यहं यज्ञः प्राणानां वसूनां प्रातःसवनदेवानां युष्माकं मध्ये मा विलोप्सीय मा विच्छिद्येयेत्यर्थः । इति शब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतनार्थः ॥

उक्तस्य मन्त्रजपस्य प्रस्तुतरोगनिवृत्तिहेतुत्वं दर्शयति–

उद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ [२] ॥

---

[1] वाव–मु.पा.

[2] स ब्रूयात्–मु.पा.

उद्धैवति ॥ अनेन मन्त्रजपेन ततस्तस्मादुग्रस्थितरोगतापो उदेति उद्गच्छति वियुक्तो भवतीत्यर्थः ॥

ततो वियुक्तः सन्नगतो (दो) रोगरहितश्च भवत्येव खलु पुरुषयज्ञस्य प्रातःसवनादिकं दर्शयित्वेदानीं माध्यंदिनसवनादिकं दर्शयिष्यन्नादौ माध्यन्दिनसवनं दर्शयति–

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यंदिनꣳ सवनम् ॥

अथ यानीति ॥ अथानन्तरं यानि पुरुषस्य स्यापुरुषो(आयुषो) मा(म)ध्यभागस्थानीयानि यानि चतुश्चत्वारिंशत्संख्याकानि वर्षाणि तन्माध्यंदिनं सवनम् ॥

पुरुषयज्ञस्य कथमेवंरूपस्यायुषो माध्यंदिनसवनत्वमित्यत्राह–

चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् । त्रैष्टुभं माध्यंदिनं सवनम् ॥

चतुश्चत्वारिंशदिति ॥ यतस्त्रिष्टुप्छन्दश्चतुश्चत्वारिंशदक्षरो विधियज्ञस्य माध्यंदिनं सवनमपि त्रिष्टुप्छन्दस्कम् । अतोऽक्षरसाम्यात्त्रिष्टुप्रूपचतुश्चत्वारिंशद्वर्षोपेतमायुः पुरुषयज्ञस्य माध्यंदिनं सवनम् ॥

यथोक्तस्य सवनस्येश्वरान् दर्शयति–

तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः ॥

तदस्येति ॥ अस्य पुरुषयज्ञस्य यथोक्तायुरूपं माध्यंदिनं रुदादेवानुगता विधि, माध्यंदिनं सवनं देवा रुद्रा एव ॥

अत्रापि किं देवा इत्यत्राह–

प्राणा वा[1] रुद्राः ॥

प्राणा वा इति ॥ अस्मिन्पुरुषयज्ञे रुद्राः प्राणा एव तु मुख्या रुद्रा इत्यर्थः ॥

प्राणेषु रुद्रशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति–

एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥ [३] ॥

एते हीदमिति ॥ हि यस्मादेते प्राणा इदं सर्वं प्राणिजातं मध्यमे वयसि क्रूराः सन्तो रोदयन्ति ॥

तस्मात्प्राणाः उपासकस्य नैमित्तिकं मन्त्रजापं दर्शयति–

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात् ॥

---

[1] वाव मु. पा.

तं चेदिति ॥ एतस्मिन्मध्यमे वयसि तमुपासकं किंचिद्रोगादिकमुपतपेच्चेत् यदि पीडयेत् स उपासक इमं मन्त्रं ब्रूयात् ॥

जप्यं मन्त्रं दर्शयति–

प्राणा रुद्रा इमं मे माध्यंदिनं सवनं तृतीयसवनमनुसंतनुतेति माहं प्राणानां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेति ॥

प्राणा रुद्रा इति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

उक्तस्यमन्त्रस्य प्रस्तुतरोगनिवृत्तिहेतुत्वं दर्शयति–

उद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ [४] ॥

उद्धैवेति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

तृतीयसवनादिकं पुरुषयज्ञस्य दर्शयति–

अथ यान्यष्टाचत्वारिँशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनम् । अष्टाचत्वारिँशदक्षरा जगती । जागतं तृतीयसवनं तदस्याऽऽदित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावाऽऽदित्या एते हीदँ सर्वमाददते ॥ [५] तं चेदतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसंतनुतेति माऽहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेति । उद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ [६] ॥

अथ यानीति ॥ अथानन्तरं पुरुषस्य यान्यष्टाचत्वारिंशत्संख्याकानि चरमभावानि वर्षाणि पुरुषयज्ञस्य तत्तृतीयसवनमित्युपासीत । हि यस्मादेते प्राणा इदं सर्वशब्दादिजातमाददते गृह्णन्तीति । तमुपासकमेतस्मिन्तृतीये वयसि किंचित्पीडयेत् । स जपेत्–हे प्राणा आदित्या म मम दोष(षं) पुरुषयज्ञस्य तृतीयसवनरूपम् इदमष्टाचत्वारिंशद्वर्षोपेतमायुः षोडशोत्तरवर्षशतमनुसंतनुत । अवशिष्टं पूर्ववत् ॥

निश्चिता विद्याफलप्रदानत्वनिश्चिता । अतो विद्यायां निश्चयं महिदासव्याजेन दर्शयति–

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः । स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामिति । स ह षोडशं वर्षशतमजीवत् ॥

एतद्ध स्मेति ॥ तदेतत्पुरुषयज्ञदर्शनं विद्वा(न्) जानन् ऐतरेय इतरायाः पुत्रो महिदासनामा ऋषिः आह स्म वै उक्तवान् । किल कथमुक्तवानित्याकांक्षायां हे रोग

संतापकत्वेन प्रसिद्धस्त्वं किं कस्मान्मे मम एतदुपतपनमुपतपसि करोषि । धात्वर्थेनैतच्छब्देनोक्तत्वात् प्रकृतिरपि प्रत्ययार्थमेतद्ब्रूते–यो यज्ञरूपोऽहमनेन त्वत्कृतेनोपतापनेन प्रेष्यामि न मरिष्यामि । अतो व्यर्थस्तव प्रयास इत्येवमाह स्मेति पूर्वेण संबन्धः । स एव निश्चयवान् महिदासः षोडशोत्तरवर्षशतमजीवद्ध जीवनमलभत । कि......द्विद्यायां निश्चयः कर्तव्य इत्यर्थः ॥

विदुषः फलमाह–

प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥ [७]

प्रहेति ॥ यान्यप्येव यथोक्तां यज्ञसंपादनं वेद स षोडशवर्षशतं षोडशोत्तरवर्षशतं प्रजीवति ह रोगरहितः सन् सम्यक् जीवत्येव ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां तृतीयस्याध्यायस्य षोडशः खण्डः ॥

पुनरपि पुरुषस्य यज्ञरूपतां संपादयितुं दीक्षादीन्यङ्गानि दर्शयिष्यन् तावदस्य दीक्षां दर्शयति–

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ॥ [१] ॥

स यदिति ॥ यस्त्वात्मानं यज्ञरूपेत्वेनोपास्ते स यदिति क्रियाविशेषणम् । अशिशिषति अशितुमिच्छति यत्पिपासितुमिच्छति यन्न रमते इष्टप्राप्त्यभावनिमित्तं न क्रीडते यान्यशिशिषा पिपासा रमणानि ता अस्य पुरुषयज्ञस्य दीक्षाः । दुःखहेतुत्वसामान्यात् विधियज्ञेऽपि दीक्षासु दीक्षितस्य भोजनाभावेनाशिशिषादि दुःखमस्त्येव ॥

उपसदो दर्शयति–

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥ [२] ॥

अथ यदिति ॥ अथानन्तरं यदश्नाति भुंक्ते यत्पिबति पाति यद्रमते इष्टप्राप्तिनिमित्तं क्रीडते तत्तेनाशनपानरमणे कर्मणि उपसदैरुपसदहोभिरेति समानतां प्राप्नोति । विधियज्ञेऽप्युपसत्सु पयोव्रतं तन्निमित्तं सुखं चास्ति ॥

अतोऽशनादीनामुपसदां च साधर्म्यं स्तोत्रशस्त्राणि दर्शयति–

अथ यद्धसति यज्जहति[1] तन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥ [३] ॥

---

१. यज्जक्षति–मु. पा.

अथ यद्धसतीति ॥ अथानन्तरं यद्धसति हासं करोति यज्जहति भक्षयति यन्मैथुनं चाचरति तत्तेन हसनादिकर्मणा स्तुतशस्त्रैरेवेति समानतां प्राप्नोति । शब्दत्वेन हसनादीनां स्तोत्रशस्त्रसाधर्म्यम् ॥ ३ ॥

दक्षिणां दर्शयति–

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥ [४] ॥

अथ यदिति ॥ तपोऽशनादि दानमस्य स्वत्वपरित्यागेन परस्वत्वापादनमार्जवमृजुता, अहिंसा हिंसाया अकरणं सत्यवचनं यथार्थभाषणमिति । यत्कर्मजातमस्ति ता अस्य पुरुषयज्ञस्य दक्षिणाः, तुष्टिहेतुत्वात्तपः प्रभृतीनां कर्मणां दक्षिणारूपत्वं पुरुषस्य यजत्वसिद्ध्यर्थम् ॥

अन्यदपि यज्ञसादृश्यं दर्शयति–

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति ॥

तस्मादाहुरिति ॥ यस्माद्यदा माता पुरुषं जनयिष्यति तदा आहुः यज्ञस्थाः पुरुषा वदन्ति–एनं सोष्यतीति । यदा च प्रसूता भवति तथा असोष्टेति । यथा विधियज्ञे सोमं देवदत्तः सोष्यति, असोष्टसोमं देवदत्त इति तद्वत्तस्मादेतच्छब्दवत्साद‍ृश्यात्पुरुषो यज्ञ इत्यर्थः ॥

किमस्य पुनरुत्पादनमित्यत्राह–

पुनरुत्पादनमेवास्य तत् ॥

पुनरुत्पादनमिति ॥ यत्सोष्यत्यसोष्टेति शब्दसंबन्धित्वं विधियज्ञस्येव तदेवास्य पुरुषाख्यस्य पुनरुत्पादनमित्यर्थः ॥

पुरुषयज्ञस्यावभृथः क इत्यत्राह–

मरणमेवावभृथः ॥ [५] ॥

मरणमेवेति ॥ पुरुषस्य यन्मरणं तदेवास्य पुरुषयज्ञस्यावभृथः समापकत्वसाम्यात् ॥

यथोक्तां विद्यां स्तौति–

तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव ॥

तद्धैतदिति ॥ तद्ध प्रसिद्धं खलु एतद्यथोक्तं पुरुषयज्ञदर्शनमांगिरसः अङ्गिरसो गायत्र उत्पन्नो घोरो घोरनाम ऋषि र्देवकीपुत्राय कृष्णायोक्त्वा उवाच । एतत्त्रयं प्रतिपद्यतेऽतिव्यवहितेनान्वयः । स च कृष्णो घोरमुखादिमां विद्यां श्रुत्वापिपास एवान्याभ्यो विद्याभ्यो वितृष्ण एव बभूव । यस्मादेषा विद्यापि शिष्टसंप्रदायगता यस्माच्च देवकीपुत्रस्य कृष्णस्याप्यन्याभ्यो विद्याभ्यो वैतृष्ण्यं जनयति तस्मादतिशेतेऽयं विद्यत्येर्थः ॥

घोरः किमुवाचेत्यत्राह–

सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत ॥

सोन्तवेलायामिति ॥ स यथोक्तस्य पुरुषयज्ञस्य ज्ञाता अन्तवेलायां मरणकाले एतद्वक्ष्यमाणत्रयं मन्त्रत्रयं प्रतिपद्येत जपेदित्यर्थः ॥

जप्यमन्त्रत्रयं दर्शयति–

अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंसि(शि)तमसीति ॥

अन्तरिक्षमसीति ॥ हे आदित्यस्थज्योतिस्त्वं अक्षितमक्षीणमजिनं वासि हे आदित्यस्थज्योतिः, अच्युतस्वरूपादप्रच्युतमविनाश्यसि । हे आदित्यस्थज्योतिः प्राणसंशितं सम्यक् तनूकृतं च प्राणसंशितं सूक्ष्मं तत्त्वमसीत्यर्थः । इति शब्दो मन्त्रत्रयसमाप्तिद्योतनार्थः ॥ १० ॥

एवं जप्यमन्त्रत्रयं दर्शयित्वा स्तावकं मन्त्रद्वयं प्रतिज्ञापुरः–सर दर्शयति–

तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥ [६] आदित्प्रत्नस्य रेतसः[1] उद्वयं तमसस्परि[2] ज्योतिः पश्यन्त उत्तरं[3] स्वः पश्यन्त उत्तरम्[4] देवं देवत्रा सूर्यम् अगन्म ज्योतिरुत्त ममिति ज्योतिरुत्तमम्[5] ॥ [७] ॥ इति ॥

तत्रैते द्वे ऋचाविति ॥ अनयोर्जपाभावत्त्रयं प्रतिपद्येतेति जप्यमानानां मन्त्राणां त्रित्वसंख्याभिधानादवगम्यते । तत्र तस्मिन् प्रकृतेऽर्थे द्वे ऋचौ विद्यास्तावकौ द्वौ मन्त्रौ भवतः । '**आदित्प्रत्नस्य रेतसः**' [ऋ. वे. ८–६–३०] इति ऋचः प्रतीकं तच्छेषश्चैवम्–

---

१. प्रत्नस्य–मु. पा.

१. [ऋ. वे. ८–६–३०] २. [ऋ. वे. १–५०–१०] ३. [ऋ. वे. १–५८–१०] ४. [वा. सं. २०–२१] ५. [ऋ. वे. १–५०–१०]

'ज्योतिः पश्यन्ति वासरां परो यदिध्यते दिवि' [1]इति । आदित्यत्रा(त्या)कारस्यानुबन्धस्तत्कारोऽनर्थकः । प्रत्नस्व पुराणस्य अनादेरित्यर्थः । रेतसः जगतो बीजभूतस्य सद्रूपस्य ब्रह्मणो वासरमहरिव सर्वतो व्याप्तं ज्योतिः प्रकाशमापश्यन्ति तु ब्रह्मचर्यादिनिवृत्तिसाधनवन्तो ब्रह्मनिष्ठां समन्तात्पश्यन्त्येव । उत्कृष्टानुबंधस्याकारस्य पश्यन्तीत्यनेनान्वयः । दिवि द्योतनवति परस्मिन् ब्रह्मणि यज्ज्योतिरिध्यते स्वयमेव प्रकाश्यते । यद्वा यद्येन ज्योतिषा सर्वमिदमिध्यते प्रकाश्यते **'तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** [क. उप. ५-१५, मुं. उप. २-२-११, श्वेता. उप. ६-१४] इति श्रुतेः । किं च वयं तमसः अज्ञानात्परि परस्तादुत्तरमादित्यस्त्वं यज्ज्योतिः पश्यन्त उदगन्मेति व्यवहितेनान्वयः । तज्ज्योतिः स्व आत्मीयम् अस्मद् हृदि वर्तमानमादित्ये वर्तमानं चैकम् उत्तरमुत्कृष्टतरं ज्योतिः पश्यन्तो वयं देवत्रा देवेषु सर्वेषु देवं द्योतमानं सूर्यं रसानां रश्मीनां प्राणिनां सम्यक् प्रेरकम् उदगन्म प्राप्नुम । उत्तमं सर्वेभ्य उत्कृष्टतमं ज्योतिरहो वयमगमि । मरणावभृथत्वादिसाम्यादेकेति गम्यते । बहुना रूपभेदेन किंचित्साम्यस्य बाधनात् न विद्यैक्यं तैत्तिरीये ब्रह्मविद्याप्रशंसनादिति । अस्ति तैत्तिरीये पुरुषविद्या, **'तस्यैवं विदुषा यज्ञस्यात्मा यजमान'** इति । तथा ताण्डिशाखायामपि श्रूयते-**'पुरुषो वाव यज्ञ'** [द्र. छा. उप. ३-१६-१] इति ।

सेयमेकैव पुरुषविद्या यन्मरणं तदवभृथः **'मरणमेवावभृथः'** [छा. उप. ३-१७-५] इति । उभयत्र समानधर्मश्रवणात् प्रातःसवनादीनां च समानत्वादिति प्राप्ते ब्रूमः- वेद्यस्वरूपस्य भूयानत्र भेद उपलभ्यते । तथा हि-विदुषो यो यज्ञः तस्य यज्ञस्यात्मेति तैत्तिरीये व्यधिकरणे षष्ठी अन्यथात्मा यजमान इति व्याघातात् विद्वानेव यज्ञ स एव च यजमान इति कथनं व्याहन्येत । ताण्डिनां तु पुरुषयज्ञयोः सामानाधिकरण्यं श्रुतम्, इत्येको रूपभेदः । आत्मा यजमानादिकं च सर्वमत्र श्रुतं ताण्डिनां नोपलभ्यते । यत्तु ताण्डिनामुपलभ्यते त्रेधा विभक्तस्यायुषः सवनत्रयत्वमित्यादिना तत्किंचिदपि तैत्तिरीयके पश्यामः । अतो मरणादि अल्पसाम्यबाधादिभेद एवोचितः । न तैत्तिरीयाणामुपासनमिदं किं तर्हि ब्रह्मविद्याप्रशंसा तस्यैव विदुष इति ब्रह्मविदोऽनुकर्षणात् । तस्मान्न विद्यैक्यशंकायामप्यवकाशोऽस्ति ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
तृतीयस्याध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ॥

---

[1] ऋ. वे. ८-६-३०

ब्रह्मप्राप्तिफलां पुरुषे यज्ञोपास्तिमुपदिश्येदानीं मनआकाशयोर्ब्रह्मोपास्तिं ब्रह्मप्राप्तिफलमुपदेष्टुमादौ मनसि ब्रह्मदृष्टिं विधत्ते–

मनो ब्रह्मेत्युपासीत ॥

मनो ब्रह्मेतीति ॥ मनः प्रागीश्वरो '**मनोमय......आकाशात्मा**' [छा. उप. ३–१४–२] इति चाभिहितमिति चेत्, सत्यम् । ब्रह्मणो गुणैकदेशतयेश्वरस्य मनोमयत्वमाकाशात्मकं च दर्शितम् । इदानीं मनआकाशयोः समस्तब्रह्मदृष्टिर्विधीयत इति विवेकः मनुते । अनेनेत्यन्तःकरणं मनस्तद्ब्रह्मेत्युपासीत । मनसि ब्रह्मदृष्टिं कुर्यादित्यर्थः । मनसः सूक्ष्मत्वात् ब्रह्मोप[ल]ब्धिहेतुत्वात् ब्रह्मदृष्टेर्विषयत्वम् ॥

वृत्तवर्तिष्यमाणयोर्विषयभेदप्रदर्शनाय पूर्वोक्तस्योपासनस्य विषयं दर्शयति–

इत्यध्यात्मम् ॥

इत्यध्यात्ममिति ॥ इत्येवं यथोक्तं मनसि ब्रह्मदर्शनमध्यात्ममात्मविषयमित्यर्थः ॥

विषयभेदप्रदर्शनपुरःसरमाकाशे च ब्रह्मदृष्टिं विधत्ते–

अथाधिदैवतम् । आकाशो ब्रह्म ॥

अथाधिदैवतमिति ॥ अथानन्तरम् अधिदैवतं देवताविषयमुपासनं वक्ष्याम इत्यर्थः । आकाशो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यर्थः । आकाशस्य सर्वगतत्वेन ब्रह्मसाम्याद् ब्रह्मदृष्टिविषयत्वम् ॥

उक्तमेवार्थं बुद्धिसौकर्याय संक्षिप्यानुवादयति–

इत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ [१] ॥

इत्युभयमिति ॥ इत्येवं यथोक्तप्रकारेणाध्यात्मम् आत्मविषयम् अधिदैवतं देवताविषयं चेत्युभयं दृष्टिद्वयं आदिष्टमुपदिष्टं भवति ॥

उपासनाङ्गत्वेन मन आख्यस्य ब्रह्मणश्चतुर्भिः पादैर्ध्येयतां दर्शयति–

तदेदच्चतुष्पाद् ब्रह्म ॥

तदेतदिति ॥ तत्प्रकृतमेतन्मन आख्यं ब्रह्म चतुष्पात् चत्वारः पादा यस्येति विग्रहः ॥

के ते पादा इत्यत्राह–

वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुष्पादः श्रोत्रं पादः ॥

वाक्पाद इति ॥ वागेन्द्रियमेकः पादः, वाचा पादेनैव वक्तव्यं विषयं मनः प्रतिपद्यते । अतो वाचः पादत्वम् । घ्राणो घ्राणमेकः पादः, पादेनैव घ्राणेन गन्धरूपं विषयं मनः प्रतिपद्यते । प्राणस्यापि प्रतिपादत्वं मनः । तथा चक्षुषा पादेने(नै)व रूपादिकं विषयं मनः प्रतिपद्यत इति चक्षुषोऽपि तत्पादता । तथा पादेने(नैव) श्रोत्रेण शब्दरूपं विषयं मनः प्रतिपद्यत इवि श्रोत्रस्यापि तत्पादत्वम् ॥

यथोक्तस्य विषयभेदं दर्शयति–

इत्यध्यात्मम् ॥

इत्यध्यात्ममिति ॥ इत्येवमध्यात्मनात्मविषयं चतुष्पादत्वं मन आख्यस्य ब्रह्मणो दर्शितमित्यर्थः ॥

आकाशरूपस्य ब्रह्मणः चतुष्पादत्वेन ध्येयताप्रदर्शनाय विषयभेदप्रदर्शनपुरःसरं चतुरः पदां दर्शयति–

अथाधिदैवतमभग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः ॥

अथाधिदैवतमिति ॥ अथानन्तरमधिदैवतं देवताविषयं चतुष्पात्त्वं वक्ष्याम इति शेषः । स्पष्टमन्यत् । यथा गोष्पादादुदरे विलग्नाः, तद्वदाकाशस्य ब्रह्मणोऽन्तरग्निवाय्वादित्यदिशो विलग्ना उपलम्यन्ते । अतोऽग्न्यादीनामाकाशपादता ॥

उक्तमेव संक्षिप्य दर्शयति–

इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥ [२] ॥

इत्युभयमेवेति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयमेतत् ॥

मनआख्यस्य ब्रह्मणः पादरूपायां वाचि ध्येयं गुणं दर्शयति–

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च ॥

वागेवेति ॥ मन आख्यस्य ब्रह्मणो वाग् वागात्मको यश्चतुर्थ इतरापेक्षया पादः सोऽग्निना अधिदैवतेन ज्योतिषा तेजसा भाति च दीप्यते च तपति च संतापं करोति ॥

गुणफलमाह—

भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ [३] ॥

भाति च तपति चेति ॥ यः पुमानेवं यथोक्तप्रकारेण वेद जानाति स कीर्त्या यशसा यशोहेतुना दानयागादिना ब्रह्मवर्चसेन च वृत्तः स्वाध्यायजनितेन तेजस च भाति प्रकाशते तपति च शत्रूणां संतापं च करोति ॥

मनआख्यस्य ब्रह्मणो घ्राणरूपे पादे ध्येयं गुणं दर्शयति—

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति ॥

प्राण एवेति ॥ मनआख्यस्य ब्रह्मणः प्राणो घ्राणं चतुर्थः पादः । स वायुना अधिदैवतेन ज्योतिषा भाति, गंधग्रहणाय समर्थो भवति, तपति च तदर्थमेवोत्साहवांश्च भवति ॥

गुणफलमाह—

भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ [४] ॥

भाति च तपति चेति ॥ व्याख्यानं पूर्ववत् ॥

चक्षुरात्मके मनआख्यस्य ब्रह्मणः पादे ध्येयं गुणं दर्शयति—

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थपादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च ॥

चक्षुरेवेति ॥ मनआख्यस्य ब्रह्मणो यश्चक्षुरात्मश्चतुर्थः पाद आदित्येनाधिदैवतेन ज्योतिषा भाति, रूपग्रहणाय समर्थो भवति । तपति तदर्थमुत्साहं करोति ॥

गुणफलमाह—

भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ [५] ॥

भाति च तपति चेति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

श्रोत्राख्ये पादे ध्येयं गुणं दर्शयति–

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च ॥

श्रोत्रमेवेति ॥ मनआख्यस्य ब्रह्मणः श्रोत्ररूपो यश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषाधिदैवतेन भाति च शब्दग्रहणाय समर्थो भवति । तपति च तदर्थमुत्साहवांश्च भवति ॥

गुणफलमाह–

भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ॥ [६] ॥

॥ इति अष्टादशः खण्डः ॥

भाति च तपति चेति ॥ व्याख्यातं परमेतत् । द्विरुक्तिः खण्डसमाप्त्यर्था ॥

कृत्स्नोपास्तिफलं तु ब्रह्मदृष्टिप्रतीकेऽहंदृष्टिराहित्यं मनआदावेव ब्रह्मदृष्टेः कर्तव्यत्वं च चतुर्थाध्यायस्य प्रथमे पादे तृतीयचतुर्थाधिकरणयोर्निर्णीतम् । तद्यथा–

प्रतीकेऽहं दृष्टिरस्ति न वा ब्रह्मविभेदतः ।
जीवप्रतीकयोर्ब्रह्मद्वारहंदृष्टिरिष्यते ॥
प्रतीकत्वोपासकत्व इति ब्रह्मैक्यवीक्षणो[1] **।**
अवीक्षणे तु भिन्नत्वान्नास्त्यहंदृष्टियोग्यता ॥[2]

मनो ब्रह्मेत्युपासीत [छा. उप. ३–१८–१] **आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः** [छा. उप. ३–१९–१] इत्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्या संस्कृतं मनः आदित्यादि प्रतीकमुपास्यम्, तच्च प्रतीकस्य ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मणा सह भेदाभावात् जीवस्य ब्रह्मभिन्नत्वादब्रह्मद्वारोपास्य। प्रतीकस्योपासकजीवस्य च भेदाभावे नैकत्वसंभवादिति प्राप्ते ब्रूमः–यदि ब्रह्मकार्यस्य प्रतीकस्य ब्रह्मैक्यमवलोक्येत तदा प्रतीकस्वरूपमेव विलीयते, घटस्य मृद्रूपेणैक्ये विलयदर्शनात् । यदि जीवस्य ब्रह्मैक्यमवलोक्येत तदा जीवत्वापाये सति उपासकत्वं हीयेत । तथा उपास्योपासकस्वरूपलोपेन कार्यकारणैक्यं जीवब्रह्मैक्यं च न पर्यालोच्येत तदा गोमहिषवदत्यन्तभिन्नयोः प्रतीकोपासनयोः नास्त्येकत्वयोग्यता। तस्मान्न प्रतीकेऽस्त्यहंदृष्टिः।

किमन्यधीर्ब्रह्मणि स्यादन्यस्मिन् ब्रह्मधीरुत ।
अन्यदृष्ट्योपासनीयं ब्रह्मात्र फलदत्वतः ॥

---

१. ०त्वहानिर्ब्रह्मैक्यवीक्षणे–मु. पा. ब्र. सू. न्या. पृ. ८३४

२. ब्र. सू. न्या. पृ. ८३४

उत्कर्षेति परत्वाभ्यां ब्रह्मदृष्ट्यान्यचिन्तनम् ।
अन्योपास्त्या फलं दत्ते ब्रह्मातिथ्याद्युपास्तिवत् ॥[१]

मनो ब्रह्मेत्यत्र ब्रह्मरूपमनोदृष्टिं ब्रह्मणि कृत्वा ब्रह्मोपासनीयं ब्रह्मणः फलप्रदत्वेनोपास्यतार्हत्वादिति प्राप्ते ब्रूमः-ब्रह्मण उत्कृष्टत्वात्तद्दृष्टिर्निकृष्टे मनसि कर्तव्या । लोके हि निकृष्टे भृत्ये राजदृष्टिं कृत्वा राजवत्तं पूजयन्ति । किं च **'मनो ब्रह्मेत्युपासीत** [छा. उप. ३-१८-१] इत्यत्र ब्रह्मशब्द इति शब्दपरत्वेन दृष्टिलक्षणो भविष्यति । मनःशब्द ब्रह्मशब्दश्चानिति परत्वान्मुख्यार्थवाची। यथा स्थाणुश्चोर इति प्रत्येतीत्यत्र स्थाणुशब्दो मुख्यार्थवाची चोरशब्दो लक्षकः, तद्वत् । न च ब्रह्मरूपस्य मनसः उपास्यत्वे ब्रह्मणः फलप्रदत्वानुपपत्तिः । अब्रह्मरूपोपासने कर्माध्यक्षत्वेन यथा फलं प्रयच्छति तद्वदत्रापि संभवात् । तस्माद ब्रह्मणि प्रतीके ब्रह्मधीः कर्तव्या ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
तृतीयस्याध्यायस्याष्टादशः खण्डः ॥

आकाशस्य ब्रह्मणः पादतयादित्यः प्रागभिहितः । इदानीं तस्मिन्नादित्ये सकल ब्रह्मोपास्तिमुपदिशति-

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः । तस्योपव्याख्यानम् । असेदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत । तन्निरभिद्यत । ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥ [१] तद्यद्रजतꣳ सेयं पृथिवी । यत्सुवणꣳ सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वताः यदुल्ब [ꣳ] स मेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेदमुदकं स समुद्रः ॥ [२] अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यः ॥

आदित्य इति ॥ **'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः'** इत्युपदेशः । आदित्ये ब्रह्म दृष्टिं कुयादित्यर्थः। वक्ष्यमाणस्यार्थस्योपास्यत्वशंका मा भूदित्येतदर्थमाह **-तस्योपेति** ॥ तस्यादित्याख्यस्य ब्रह्मणः उपख्यानं क्रियते स्तुत्यर्थं न त्वयमुपदेशनं क्रियत इत्यर्थः । किं तत्स्तुत्यर्थमुपख्यानमित्यत्राह **असदेवेति** ॥ इदं प्रत्यक्षादिना परिदृश्यमानं जगदग्रे उत्पत्तेः प्रागवस्थायाम् असदेव नामरूपाभ्यामव्याकृतमेवासीत् ।

ननु उत्पत्तेः प्रागवस्थायां जगतः स्वरूपेणैवासत्वमस्तु प्रागसतः सत्तान्धंतमस्य कार्यत्वलक्षणत्वादिति चेन्मैवम् । ग्रहणाग्रहं विकल्पः क्रियायामतस्तत्र विकल्पो युक्तः ।

---

१. ब्र. सू. न्या. पृ ८३५

अत्र तु विकल्पो न युक्तः, वस्तुनि विकल्पासंभवान्न हि घटः कदाचिदपि पटो भवति । तस्माद्रूपान्तरेणैवासत्त्वं जगतः प्रागवस्थायां न तु स्वरूपेण ।

ननु तर्ह्यवधारणार्थस्यैवकारस्यापि नामरूपाभ्यां व्याकृतप्रतिनिपेधेनाव्याकृतत्व निर्धारकत्वात् व्याकृतविषयेऽपि सच्छब्दः प्रयोगस्य दृष्टत्वात् । ननु तर्हि किमर्थं सद्रूपजगत्यसच्छब्दः प्रयोग इति चेत्–ब्रह्मदृष्टिरह(हि)त्वा आदित्यं स्तोतुमिति ब्रूमः । प्रायेण जगतो नामरूपव्याकरणमादित्याधीनं तदभावे तमसि जगतः प्रतीत्याभावात् । अतो जगदुत्पत्तेः प्रागादित्याभावात् सदपीदं जगत् असदेवासीदित्येष आदित्यस्य महिमेत्यादित्यस्तुतिः । तदुत्पत्तेः प्राङ्नामरूपाभ्यामव्याकृतं जगत्सदुत्पत्त्यभिमुखम्, ईषदुपजातप्रवृत्त्यासीदीत्यर्थःदभूत् । यदीषल्लम्बमाणं जगत्तत्समभवत् । ईषन्नामरूपव्याकरणेनांकुरीभूतं बीजमिवावभूत्तदंकुरीभूतं जगदाण्डम् अण्डरूपमाकारच्छान्दसः निरवर्तत संवर्तत । दण्डं संवत्सरस्य संवत्सरात्मकस्य कालस्य मात्रां परिमाणम् अशयत अभिन्नस्वरूपमेवावस्थितमभूदित्यर्थः । तदण्डं संवत्सरादूर्ध्वं सुवर्णरूपत्वं च प्राप्नुतामत्यर्थः । तत्तयोरण्डकपालयोर्मध्ये यत्कपालं रजतं रजतात्मकं सेयं पृथिवी पृथिव्युपलक्षितम् अधोऽण्डकपालमित्यर्थः ।

यज्जरायु स्थूलं गर्भपरिवेष्टनम् अण्डस्य विशकलीभाव इत्यर्थः । ते पर्वता अभूवन् । यदुल्बं सूक्ष्मं गर्भपरिवेष्टनं तत्समेघो मेघैः सह वर्तमानो नीहारोऽवश्यायोऽभूत् । या धमनयः गर्भस्य देहे शिरास्ता नद्योऽभूवन् । यद्वास्ते यं तस्य तस्य वेस्तौ भवमुदकं स समुद्रोऽभूत् ।

अथाण्डनिभे(र्भे)दानन्तरं यत्तस्मिन्नण्डे गर्भभूतं तदजायत उत्पन्नमासीत् साऽसावादित्यः । यदण्डाज्जातं जगत् सोऽसौ परिदृश्यमान आदित्यः । तदेवं जगदात्मकत्वेन आदित्योऽतिश्रेष्ठत्वाद ब्रह्मदृष्ट्यर्हं इत्यर्थः ॥

एवं जगदात्मकत्वेनादित्यं स्तुत्वा पुनः प्रकारान्तरेणादित्यं स्तौति–

तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन् सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामाः ॥

तं जायमानमिति ॥ तमादित्यं जायमानं प्रादुर्भावं प्रतिपद्यमानं घोषाः शब्दाः उलूलव उरूरवः प्र(२ ?)लयोः सवर्णसंज्ञत्वात् विस्तीर्णा...भा...निमन्त इत्यर्थः । उदतिष्ठन् उत्थिता बभूवुः । यथा राज्ञः पुत्रजन्मनि तूर्यवादित्रादिघोषाः प्रवर्तन्ते तद्वदित्यर्थः । न केवलं घोषा एव किं तु सर्वाणि स्थावरजङ्गमात्मकानि भूतानि सर्वे तेषां भूतानां कामाः काम्यन्त इति विषयाः संक्रन्दनवनितादयोऽप्युदतिष्ठन् स्वस्वव्यापाराय उद्युक्ता इत्यर्थः । अतः समस्तस्यापि व्यापारस्य आदित्यार्थतत्वादिति प्रशस्ततयादित्यो ब्रह्मदृष्ट्ययोग्य इति भावः ॥

उक्तं स्वव्यापाराणाम् आदित्यायत्तत्वमनुभवसिद्धत्वप्रदर्शनेन दृढीकरोति—

तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः ॥ [३] ॥

तस्मादिति ॥ यस्मादादित्यजननिमित्ता सर्वभूतानां कामानां चेदुत्पत्तिः, तस्मादिदानीमपि तस्यादित्यस्योदयं प्रादुर्भावं प्रति प्रत्यायनं प्रत्यस्तमयं च प्रति यदा पुनः पुनः प्रत्यायनं प्रतिप्रत्यायनं तत्प्रति तन्निमित्तीकृत्येत्यर्थः । उरू रवो घोषाहं शब्दाश्च सर्वाणि च भूतानि समस्तानि प्राणिजातानि च कामाः सर्वे काम्यमानाः पदार्थाश्च स्वव्यापारायोद्युक्ता भवन्तीत्येतत्प्रसिद्धं खल्वित्यर्थः ॥३॥

उपास्तिफलं दर्शयति—

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

स य एतमिति ॥ यः कश्चिदेतं यथोक्तमहिमानं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते ब्रह्मदृष्टिं करोति स आदित्यायात्मकत्वं प्रतिपद्यत इति शेषः ।

एवम दृष्टं फलं दर्शयित्वा दृष्टं फलं दर्शयति—

अभ्याशो ह यदेनꣳसाधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन् ॥ [४] ॥

॥ एकोनविंशः खण्डः ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्यायः समाप्तः ॥

अभ्याशो हेति ॥ अभ्याशो क्षिप्रम् । यदिति क्रियाविशेषणम् । एनमेवंविदमुपासकं साधवः शोभना भोगप्रतिबन्धकपापानुबन्धरहिता घोषाः शब्दाः सागच्छेयुश्च न केवलमागच्छेयुः उपनिम्रडेरन्नुपसुखयेयुश्च । उपासकस्य सुखकराश्च सुखकराश्च भवेयुरित्यर्थः द्विरुक्तिर्विद्यासमाप्तिद्योतनार्था ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

॥ इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक
श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरंधरेण सायणा-
चार्येण विरचिते माधवीये सामवेदार्थ-
प्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

❖

श्रीसायणाचार्यविरचिता छान्दोग्योपनिषद्दीपिका

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वंदे विद्यातीर्थं महेश्वरम् ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः आरभ्यते–

ब्रह्मणः पादतया प्रागुक्तानामादित्यवायुप्राणानां मध्य आदित्ये ब्रह्मदृष्टिं विधायेदानीं वायुप्राणयोर्ब्रह्मदृष्टिविधित्सया सुखावबोधार्थं विद्यादानग्रहणप्रदर्शनार्थं च श्रद्धादानानुद्धतत्वादीनि विद्याप्राप्तिसाधनानि आख्यायिका(क)या प्रदर्शयितुमुपक्रयते–

जानश्रुतिह(र्ह) पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाकय आस ॥ १ ॥

जानश्रुतिरिति ॥ जानश्रुतस्य पुत्रो जानश्रुतिः कश्चिद्राजा क्ष(श)त्रुसंयोगात् ह इत्यैतिह्यार्थः । पौत्रायणः पुत्रस्य पौत्रः । स एव श्रद्धादेयः श्रद्धापुरःसरं ब्राह्मणादिभ्यो देयं धनं यस्य स श्रद्धादेयः । वहु प्रभूतं धनं दातुं शीलमस्येति बहुदायी । अहन्यहनि गृहे बहु पक्तव्यं यस्यासौ बहुपाकयः । एवं गुणसंपन्नो जानश्रुतिः कस्मिँश्चिद्विशिष्टे देशे काले चास ॥

स किं कृतवानित्याह–

स ह सर्वत आवसथान्मापयांचक्रे सर्वत एव मेत्स्यन्तीति ॥ [१] ॥

स ह सर्वत इति ॥ सर्वतः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः आगत्य मे ममावसथेषु वसन्तो ब्राह्मणा अन्नमत्स्यन्ति भोक्ष्यन्तीत्यनेनाभिप्रायेण स जानश्रुतिः सर्वतः सर्वासु दिक्षु सर्वासु नगरीषु सर्वेषु ग्रामेषु सर्वेषु पुण्यतीर्थप्रदेशेषु चावसथान् आगत्य वसन्तेष्वित्यागत्यावसथा ग्रहास्तान् मापयांचक्रे कारयामास ॥२॥ [१]

ह किल ततः किमित्यत आह–

अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुः । तद्धैवꣳ हꣳसो हꣳसम-

भ्युवाद–हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्षि(क्ष)जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीः[1] ॥ [२] ॥

अथ हेति ॥ अथ हानन्तरं किल निद्रायां रात्रौ निशायां जानश्रुतौ राजनि हर्म्यतलस्थे सति हंसा आ जानश्रुतेः अन्नदानेन तुष्टा देवा ऋषयो वा हंसरूपाः सन्तोऽतिपेतुः । जानश्रुतेः दर्शनगोचरे पतितवन्तः । तत्तस्मिन् काले पततां हंसानां मध्ये एको हंसः पृष्ठतः पता(त)न् हंसमग्रतः पतन्तमेवमभ्युवाद उक्तवान्–किल हो हो भल्लाक्ष भल्लाक्षेति संबोध्य द्विरुक्तिरादरार्था । मन्ददृष्टित्वं सूचयितुं विरुद्धलक्षणया भल्लाक्षेत्युक्तिः । पौत्रायणस्य जानश्रुतेः राज्ञः आततमन्नदानजनितप्रभावेण सर्वतो व्याप्तं ज्योतिस्तेजो दिवा द्युलोकेन समं तुल्यं द्युलोकस्पृगित्यर्थः । तत्तेन मा प्रसांक्षीः संजनं संबन्धं मा कार्षीरित्यर्थः । तत्तेन प्रसंजनेन ज्योति(:) जानश्रुतेस्तेजस्त्वा त्वां मा प्रधाक्षीर्मा दहेत्, पुरुषव्यत्ययः । इत्येवमुक्तवानिति संबन्धः ।

भल्लाक्षस्य प्रतिवचनं दर्शयति–

तमु ह परः प्रत्युवाच–कमुवर(कम्वर) एनमेतत्सन्तꣳ सयुग्मानमिव रैक्वमात्थेति ॥

तमु ह पर इति ॥ तमु पृष्ठतः पतितमेवमुक्तवन्तं हंसमेव पर इतरोऽग्रतः पतितो हंसः प्रत्युवाच–ह अरे निकृष्टोऽयं वराको राजा कमु एनं सन्तं केन माहात्म्येन युक्तं सन्तमेनं राजानं सयुग्वानं सह युग्वना गन्त्र्या वर्तत इति सयुग्वा तं रैक्वं रैकवनामानमिह एनं बहुमानेनैतद्वचनं आत्थ ब्रवीषि । अत्यंत निकृष्टे जानश्रुतावीदृशं वचनंयुक्तमिति अभिप्रायः ।

पुनः पृष्ठतः पतितस्यय हंसस्य वचनं दर्शयति–

यो नु कथं सयुग्वा रैक्व इति ॥ [३] ॥

यो नु कथमिति ॥ यस्त्वयोच्यते सयुग्वा रैकवः स कथं नु कीदृश इति ॥ पुनर्भल्लाक्षवचनं दर्शयति–

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति । यस्तद्वेद यत्स वेद स

---

[1] प्रधाक्षीरिति–मु.पा.

मयैतदुक्तः[1] **॥ [४] ॥**

यथा कृतायेति ॥ यथा लोके कृताय कृतो नाम कश्चिच्चरङ्क आयो द्यूतसंकेते प्रसिद्धः । तस्मै विजिताय जयं प्राप्ताय तदर्थमधरेया इति...त्रिद्वयेकाङ्का अधरेया आयाः त्रेताद्वापरकलिनामानः संयन्ति संगच्छन्ते । चतुरङ्के आये द्वेकाङ्कानां त्रेताद्वापरकल्याख्यानामायानां विद्यमानत्वादन्तर्भवन्तीत्यर्थः । एनं रैकूवकृतायस्थानीयं तत्त्रेताद्वापरकल्यायःस्थानीयं सर्वमभिसमेति संगच्छते । यत्किञ्च लोके सर्वाः प्रजाः साधु समीचीनं पुण्यजातं कुर्वन्ति रैकवस्य धर्मफले सर्वेषामपि प्राणिनां तद्धर्मस्य फलमन्तर्भवतीत्यर्थः । एवमन्योऽपि यः कश्चिद्वेद्यं वेद जानाति तस्यैव विवरणं स्व(स) रैकवो यद्वेद तमपि सर्वप्राणिधर्मफलं समेतीत्यनुषङ्गः स एनं कृतायस्थानीयो रैकवो मया भल्लाक्षेण एतदेवमुक्तः ॥४॥

ततः किमित्याह–

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः उपशुश्राव ॥

तदु हेति ॥ तदेतदीदृशमात्मनो निन्दारूपं विदुषो रैकवस्य प्रशंसारूपं भल्लाक्षस्य वचनं हर्म्यतलस्थपौत्रायणो जानश्रुतिरुपशुश्रावाश्रौषीत् ॥

श्रुत्वा किमकार्षीरित्याह–

स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाच ॥

स ह संजिहानेति ॥ स पौत्रायणो जानश्रुतिस्तादृशं हंसस्य वचनं पुनः पुनः स्मरन् रात्रिशेषमतिवाह्यः वदन्तीभिः स्तुतिरूपाभिर्वाग्भिः प्रतिबोध्यमानः संनिहान एव शयनं परित्यजन्नेवक्षत्तारमुवाच ॥

किमुक्तवानित्यत आह–

अङ्गारे ह स युग्वानमिव रैक्वमात्थ ॥ [2]**९ ॥**

अङ्गेति ॥ अङ्ग हे वत्स अरे सयुग्वानं रैकवमिव किं मा मात्थ मां किमर्थं स्तौषि । रैक्वमेव स्तुहि । स एव स्तुत्यर्हो नाहमित्यभिप्रायः । यद्वा सयुग्वानं रैक्वमात्थ मम तद् दिदृजा(क्षा) महती वर्तत इत्यर्थः । तस्मिन्पक्षे इवशब्दोऽवधारणार्थः ॥

---

[1] इति–अ.पा. –मु.पा.

[2] ०त्येति –मु.पा.

क्षत्तुर्वचनं दर्शयति–

यो नु कथं सयुग्वा रैक्व इति ॥ [५] ॥

यो नु कथमिति ॥ जानश्रुतेरभिप्रायं जानन्स क्षत्ता रैक्वमानेतुं तच्चिह्नज्ञानार्थं यस्त्वयोक्तः स सयुग्वा रैक्वः ॥

कथं नु किंलक्षण इति प्रत्युवाच । तेन पृष्टो जानश्रुतिर्भल्लाक्षवचनमेवोत्तरतयोक्तवानिति दर्शयितुं पुनस्तदेव पठति–

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳसर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः[1] ॥ [६] ॥

यथा कृतायेति ॥ व्याख्यातपरमेतत् ॥

क्षत्तुः कार्यं दर्शयति–

स ह क्षत्ताऽन्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय ॥

स ह क्षत्तेति ॥ स्वराज्ञा दत्तोत्तरः क्षत्तान्विष्य रैक्वं सर्वतो नाविदं नाज्ञासिषमिति इति प्रत्येयाय राजानं प्रति गतवान् ह किल ॥

एवमन्विष्य प्रतिगतं क्षत्तारं राजा किमुवाचेत्याह–

तꣳहोवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमृच्छेति[1] ॥ [७] ॥

तं होवाचेति ॥ तं प्रत्यागतं क्षत्तारं जानश्रुतिरेवमुवाच–अरे क्षत्तर्यत्र नदीपुलिनादौ विविक्तप्रदेशे ब्राह्मणस्यैकान्तशीलस्य ब्रह्मविदोऽन्वेषणा गवेषणा भवति तत्तत्रैनं सयुग्वानं रैक्वस्य गवेषणं कुर्वित्यर्थः ॥

ततः क्षत्ता किमकार्षीदित्यत आह–

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कृषमाण[2] मुपोपविवेश तꣳहाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्वोऽसीति[3] ॥

---

१. ०दुक्त इति –मु.पा.

१. ० नमच्छेंति–मु. पा. २. कषमाण०–मु. पा. ३. रैकव इति–मु.पा.

सोऽधस्तादिति ॥ स एवं राज्ञोक्तः क्षत्ता शकटस्य गन्त्र्या अधस्तादधः प्रदेशे पामानं कृषमाणं कण्डूयमानं रैक्वं दृष्ट्वा उपोपविवेश । अयं नु न रैक्वो भत्रितुमर्हति इति । तस्य समीपे विनयेनोपविष्टवान् । उपविश्य क्षत्ता तं रैक्वमभ्युवाद ह एवमुक्तवान्–किल भगवो त्वं किं सयुग्वा रैक्वोऽसीत्येवमभ्युवादेति संबन्धः ॥

रैक्वस्य वचनं दर्शयति–

अहꣳ ह्वरा३इति ह प्रतिजज्ञे ।

अहमिति ॥ इत्येवं क्षत्रा पृष्टो रैक्व अरा अरे क्षत्तरः(रह)मस्मीत्यनादरेण प्रतिजज्ञे अङ्गीकृतवानित्यर्थः ॥

ततः क्षत्ता किं कृतवानित्याह–

स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय ॥ [८] ॥

स ह क्षत्तावििति ॥ स एवं रैक्वेणोक्तः क्षत्ता तं जानश्रुत्युक्तलक्षणकं सयुग्वानं रैक्वं विज्ञायाविदं विज्ञातवानस्मीति प्रत्येयाय जानश्रुतिं प्रत्यागतवान् ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥

ततो जानश्रुतिः किं कृतवानित्याह–

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥

तदुहेति ॥ तदुह तत्रैव पौत्रायणो जानश्रुतिः ऋषेर्धनार्थत्वं विज्ञाय गवां षट्–शतानि निष्कं कण्ठाभरणरूपं हारं अश्वतरीरथं अश्वतरीभ्यां युक्तं रथं च तद्धनमादाय गृहीत्वा प्रतिचक्रमे सयुग्वानं रैक्वं प्रत्यागतवान् ॥

गत्वा किमवादीदित्यत आह–

तꣳहाभ्युवाद ॥ [१] रैक्वेमानि षट्शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथोऽनु म एतां भगवो देवताꣳ शाधि यां देवतामुपास्स इति ॥ [२] ॥

तं हेति ॥ एवं गवादिरूपं धनमादाय गत्वा तं रैक्वं राजा भु(भ्यु)वाद एवमुक्तवान् हे रैक्व भगवन् इमानि गवां षट्शतानि त्वदर्थं मयानीतानि । अयं प्रसिद्धो निष्कः कण्ठयो हारश्चानीतः । अयं प्रसिद्धोऽश्वतरीरथोऽश्वतरीभ्यां

युक्तो रथश्च त्वदर्थमानीतः एतद्गवादिरूपं सर्वं धनं स्वीकुरु । भगवो हे भगवन् रैक्व त्वं यां देवतां उपास्से उपास्तिं करोषि तामेतां देवतां मे मां अनुशाधि । तद्देवतोपदेशेन मामनुग्रहाणेत्यर्थः ॥

रैक्वस्य प्रतिवचनं दर्शयति-

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति ॥

तमु हेति ॥ तमेवमुक्तवन्तं जानश्रुतिं परो रैक्वः प्रत्युवाच (अ)ह एवं प्रत्युक्तवन्तं-ह किल हे शूद्र हारेत्वा हारेण कण्ठाभरणेन युक्ता इत्वा गन्त्री हारेत्वा गोभिः सह तवैवास्तु तिष्ठतु । कर्मार्थमपर्याप्तेनानेन गवादिरूपेण धनेन मम न प्रयोजनमित्यभिप्रायः । अह इति विनिग्रहार्थीयो निपातोऽत्रानर्थकः, एवशब्दस्य पृथगुपात्तत्वात् ।

नन्वयं जानश्रुतिराजा कस्मिन्नन(नु ?)रूपं शूद्र इति संबोधनं रैक्वेण कृतम् । किं च विद्याग्रहणाय शूद्रस्य ब्राह्मणसमीपोपगमनमयुक्तं विद्यायामनधिकारादिति चेत्-मैवम् । हंसवचनश्रवणाजा(ज्जा)नश्रुतिराजगाम । तेनासौ राजा शुचा श्रुत्वा द्रवति गच्छतीति शूद्रः । राज्ञोऽभिप्रायमहं जाने इत्यर्षिः स्वीयं सर्वज्ञत्वं प्रकटयितुं हे शूद्र इति ब्रवीति । न त्वस्य मुख्यं शूद्रत्वमस्तीति । अपरे त्वेवमाहुः-विद्याग्रहणायापर्याप्तमल्पं धनमनेनाहृतमिति कोपेन ऋषिः शूद्रेत्युक्तवान् । तत्र लिङ्गं पुनरधिकधनस्याहरणमिति ॥

ततो जानश्रुतिः किमकार्षीदित्यत्राह-

तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥ [३] ॥

तदु हेति ॥ तदु ह विद्याग्रहणायापर्याप्तं ममानभीष्टं च धनमनेनाहृतमिति ऋषेर्मत्त(त)मेव ज्ञात्वा जानश्रुतिः पौत्रायणः पुनरेव पुनरपि गवां सहस्रं निष्कं कण्ठ्यं हारं च अश्वतरीरथं अश्वतरीभ्यां युक्तं रथं च स्वीयां दुहितरं च तत्प्रसिद्धं प्रर्याप्तं ऋषेरभीष्टं धनमादाय रैक्वं प्रतिचक्रमे ॥

गत्वा जानश्रुतिः किमाहेत्यत्राह-

तꣳहाभ्युवाद । रैक्वेदꣳ सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्से, अन्वेव मा भगवः शाधि[1] ॥ [४] ॥

---

[1] शाधीति-मु. पा.

तं हेति ॥ गत्वा तं जानश्रुतिरेवमभ्युवाद हे रैक्व गवां सहस्रमिदं त्वदर्थमानीतम् । अयं च निष्क आनीतः । अश्वतरीरथश्चायमानीतः । इयं जाया जायार्थं मन(म) दुहिता चानीता । अयं प्रसिद्धो ग्रामश्च तुभ्यं मया दीयते यस्मिन् ग्रामे त्वमास्से सुखेन तिष्ठसि । तदेतत्सर्वं गवादिरूपमभीष्टं धनमादाय हे भगवो मा मामनुशाध्यनेन ॥

ऋषेर्वचनं दर्शयति–

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच हारेमाः (आजहारेमाः) शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा[1] ॥

तस्या हेति ॥ तस्या ह जायार्थमानीताया जानश्रुतेर्दुहितुरेव मुखं द्वारतां विद्यायाः प्रदाने तीर्थे '**ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रियो विद्यया [वा]विद्यां प्राह तानि तीर्थानि षण्मम**'[2] इति विद्याया वचनात् उपोद्गृह्णन् जानन्नित्यर्थः । उवाच एवमुक्तवान्–आजहार आहृतवानिमाः गाः इदं गवादिरूपं धनं आजहार आहृतवानिति यत्तत्साध्वकारीति शेषः । हे शूद्र अत्र शूद्रेति संबोधनं कारणान्तरापेक्षया न भवति किं तु पूर्वोक्तानुकरणमात्रम् । अनेनैव मुखेन विद्याग्रहणतीर्थेनैवालापयिष्यथाः आलापयिष्यसीति । एवमभ्युवादेति पूर्वेण संबन्धः ॥

राजा रैक्वाय दत्तान् ग्रामान् दर्शयति–

ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास ॥

ते हैत इति ॥ त हैते ह ग्रामाः महावृषेषु महावृषनामकेषु देशेषु रैक्वपर्णा नाम रैक्वपर्णा इति व्याख्याताः यत्र येषु ग्रामेषु रैक्वः उवास उषितवान् तान् ग्रामानस्मै रैक्वाय ददौ राजा दत्तवान् ॥

ततो रैक्व किं कृतवानित्यत्राह–

[स] तस्मै होवाच ॥ [५] ॥

[स] तस्मै इति ॥ तस्मै श्रद्धानुद्धतत्वादिगुणयुक्ताय स्वाभीष्टं धनं दत्तवते जानश्रुतये उवाच ह रैक्वो विद्यामब्रवीत् किल ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥

---

[1] ०लापयिष्यथा इति–मु.पा.

[2] द्र. छा. उप. शा.भा. ४–२–५

आख्यायिकया श्रद्धान्नदानानुद्धतत्वानि गुरवेऽभीष्टवस्तुप्रदानं च विद्याप्राप्तिसाधनतयोक्त्वेदानीं विद्यामुपदिशति–

वायुर्वाव संवर्गः ।

वायुरिति ॥ वायुरत्र बाह्यो विवक्षितः, वातेत्यवधारणार्थः । वायुरेव संवर्ग । चायौ संवर्गबुद्धिं कुर्यादित्यर्थः । संवर्गता च संवर्जनात्संग्रहणात्संग्रसनाद्वा ।

कथमस्य संवर्गत्वमित्यत्राह–

यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति । यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति । यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥ [१] यदाऽऽप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्ते ॥

यदा वैति ॥ यदा वै यस्मिन्काल एवाग्निरुद्वायति उपशाम्यति तदौपशाम्यमानासावग्निर्वायुमेवाप्येति, वाय्वात्मकत्वं प्रतिपद्यते । कार्यकारणस्य विलयो युक्तः । अग्निकारणं च वायोः **'आकाशाद्वायुः वायोरग्निः'** [तै. उप. २–१] इति श्रुतेः । तथा यदा सूर्योऽस्तमेति अदर्शनं प्राप्नोति तदा वायुमेवाप्येति । वायुःस्वाभाव्यं गच्छति । तथा यदा चन्द्रोऽस्तमेति तदाऽसौ चन्द्रो वायुमेवाप्येति ।

ननु स्वरूपेण परिदृश्यमानयोः सूर्यचन्द्रयोर्वायुस्वाभाव्यप्राप्तिः क्व(कथ)मिति चेत्–मैवम् । तयोरदर्शनप्राप्तेर्वायुकारणत्वाचलनस्य वायुनिमित्तत्वात् । यद्वा प्रलयकाले सूर्यचन्द्रयोर्नाशे सति तेजोरूपयोस्तयोः कारणभूतवायुः स्वाभाव्यप्रतिपत्तिः स्यादिति ।

तथा यदाऽऽप उच्छिष्यन्ति उच्छोषणं प्रतिपद्यते तदा ता आपो वायुमेवापियन्ति वायुःस्वाभाव्यमेव प्रतिपद्यन्ते । अपामपि वायुर्मूलकारणम्, अतस्तासां वायौ लयो युक्तः । मूलकारणत्वं च **'वायोरग्नि अग्नेरापः'** [तै. उप. २–१] इति श्रुतेरवगम्यते । हि यस्मादेवैतानग्न्यादीन् प्रलयान्सर्वान्देवान् वायुः संवृङ्क्ते, तस्माद्वायुः संवर्ग इत्यर्थः ॥

यथोक्तस्योपासस्य विषयविशेषं दर्शयति–

इत्यधिदैवतम् ॥ [२] ॥

इत्यधिदैवतम् ॥ इत्यधिदैवतं देवताविषयं संवर्गोपासनमुक्तमित्यर्थः ॥
विषयविशेषपुरस्सरं प्राणसंवर्गगुणोपासनं दर्शयति–

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः ॥

अथाध्यात्ममिति ।। अथ देवताविषयसंवर्गदर्शनाद्यनन्तरमध्यात्ममात्मविषयं संवर्गदर्शनमुच्यत इत्यर्थः । प्राणो वाव प्राण एव संवर्गः । प्राणे संवर्गदृष्टिं कुर्यादित्यर्थः ॥

कथं प्राणस्य संवर्गत्वमित्यत्राह–

स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति । प्राणं चक्षुः । प्राणꣳ श्रोत्रम् । प्राणं मनः । प्राणो ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्त इति ॥ [३] ॥

स यदेति ।। स पुमान् यदा यस्मिन् काले स्वपिति स्वापं प्राप्नोति तदा वाक्प्राणमेवाप्येति । तथा चक्षुः प्राणमेवाप्येतीत्यनुष[ङ्]गः । तथा श्रोत्रं प्राणमप्येति । तथा मनः प्राणमप्येति । हि यस्मादेवैतान् वागादीन् सर्वान् प्राणः संवृक्ते तस्मात्प्राणः संवर्ग इत्यर्थः ॥

उक्तमेवार्थं संक्षिप्य दर्शयति–

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥ [४] ॥

ताविति ।। तौ वै प्रसिद्धावेतौ वायुप्राणौ द्वौ संवर्गौ संवर्जनगुणकौ देवेषु मध्ये वायुरेव संवर्ग इत्यर्थः । प्राणेषु गवादिषु मध्ये प्राण(:) मुख्य(:) एव संवर्ग इत्यर्थः ॥

संवर्गदृष्टियोग्यत्वाय वायुप्राणावाख्यायिकया स्तोतुमुपक्रमते–

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे ॥

अथ हेति ॥ अथ शब्दो वाक्यालंकारार्थः । ह इत्येत्यैतिह्यं द्योतयति । कापेयं कपिगोत्रोत्पन्नं शौनकं शुनकस्य पुत्रं च काक्षसेनिं कक्षसेनस्यापत्यम् अभिप्रतारिणम् अभिप्रतारिनामकम् । च–च–शब्दात्रि(वि)तरेतरसमुच्चयार्थौ । द्वावपि परिविष्यमाणौ भोजनार्थमुपविष्टौ । सूपकारैः परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी ब्रह्मविन्मानी बिभिक्षे भिक्षां ययाचे ॥

ततः किमित्यत्राह–

तस्मादु (तस्मा उ) ह न ददतुः ॥ [५] ॥

तस्मा दु(उ) हेति ॥ ता (तौ) शौनकाभिप्रतारिणौ ब्रह्मचारिणौ ब्रह्मविन्मानित्वं विज्ञाय तस्मै ब्रह्मचारिणे न ददतुर्ह भिक्षां न दत्तवन्तौ । किल तस्मै भिक्षाया अप्रदानं किमयं वक्ष्यतीति ॥

जिज्ञासया न तु लोभो(भे)न ब्रह्मचारी किमुक्तवानित्यत्राह–

स होवाच––

महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपाः ।
तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन् बहुधा वसन्तम् ॥
यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥ [६] ॥

स होवाचेति ॥ स ब्रह्मविन्मानी ब्रह्मचारी उवाच । ह...वान् किल महात्मानः प्रौढान् चतुरश्चतुष्कसंख्याविशिष्टान् अग्न्यादीन् वागादींश्च देव एको वायुरग्न्यादीन् प्राणो वागादीन् स प्रसिद्धो भुवनस्य सर्वस्य गोपायिता पालकः कः प्रजापतिर्जगार ग्रसितवान् । हे कापेय हे अभिप्रतारिन् तं प्रजापतिं बहुधाऽध्यात्माधिदैवताधिभूताधि(दि)प्रकारैः वसन्तं मर्त्या मरणधर्माणो जना नाभिपश्यन्ति न द्रक्ष्यन्ति । यस्मै वै यदर्थमेवैतत् प्रसिद्धम् अन्नमदनीयं पच्यते संस्क्रियते च तस्मै प्रजापतये एतदन्नं न दत्तमित्येवमुवाचेति सम्बन्धः ॥

ततः किमित्यत्राह–

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयाय ॥

तदु हेति ॥ एवं ब्रह्मचारिणोक्ते सति तयोर्मध्ये शौनकः कापेयः तदु ह ब्रह्मचारिणस्तादृशं वचनमेव प्रतिमन्वानो मनसा चिन्तयन् प्रत्येयाय ब्रह्मचारिणं प्रतिगतवान् ॥

गत्वा शौनकः किमब्रवीदित्यत्राह–

आत्मा देवानां जनिता प्रजानाꣳहिरण्यदꣳष्ट्रो बभसोऽनसूरिः ।
महान्तमस्य महिमानमाहुर[न]द्यमानो यदनन्नमत्ति ॥
इति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे ॥

आत्मेति ॥ हे ब्रह्मचारिन् त्वं यं मर्त्या न पश्यन्तीति ब्रवीषि तं वयं पश्यामः । आत्मा सर्वस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य जगतो देवानामग्न्यादीनां च जनिता पूर्वमात्मनि संगृह्य पुनरुत्पादयिता । तत्र वायुरूपेणाग्न्यादीनां प्राणरूपेण वागादीनां प्रजानां च जनिता । स हिरण्यदंष्ट्रोऽमृतदंष्ट्रः हेम अमृतमिति हिरण्यनामसु पाठात्[1] । बभसो भक्षणशीलः अनसूरिर्न सूरिरसूरिः । असूरिः न भवतीत्यनसूरिः सूरिरिव ।

---

[1] द्र. निघण्टु १–२–१२

अस्य प्रजापतेर्मतमत्यधिकं महिमानमाहुर्ब्रह्मविदो वदन्ति । यद्यस्मादनद्यमानः स्वयमन्यैरभक्ष्यमाणः सन् अन्नं केनाप्यनदनीयम् अग्न्यादिरूपं गवादिरूपं चात्ति हे ब्रह्मचारिन् इदं यथोक्तलक्षणं ब्रह्म वयमा उपास्महे । यद्वा न वयमिदं सगुणब्रह्मरूपमुपास्महे किन्तु निर्गुणं स्वयं ज्योतिस्वरूपं ब्रह्मोपास्मह इत्यर्थः ॥

एवं ब्रह्मचारिणं प्रति शौनकस्य प्रतिवचनं दर्शयित्वेदानीं भृत्यान् प्रति शौनकस्य वचनं दर्शयति–

दत्तास्मै भिक्षामिति ॥ [७] ॥

दत्ता...[इति] ॥ हे भृत्या यूयमितः परस्मै ब्रह्मचारिणे भिक्षां दत्त प्रयच्छथेति शौनकोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

ततो भृत्याः किमकार्षुरित्यत्राह–

तस्मा उ ह ददुः ॥

तस्मा इति ॥ तद्वचनं श्रुत्वा ते भृत्यास्तस्मै ब्रह्मचारिणे ददुः भिक्षां दत्तवन्तः ॥

अनादित्वगुणविधानाय कृतादिरूपेणाग्न्यादिकं स्तौति–

ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतंꣳ तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दश कृतम् ॥

ते वा एत इति ॥ ये अग्न्यादयो देवा वायुना ग्रस्यन्ते यश्च तेषां भक्षको वायुः, त एते अन्ये यागादिभ्यो व्यतिरिक्ताः पञ्च पञ्चसंख्यका देवाः, तथान्ये अग्न्यादिभ्यो व्यतिरिक्ता वागादयः प्राणाश्च पञ्च पञ्चसंख्यकाः । एवं ते सर्वे मिलित्वा दशसंख्यका भवन्ति । संख्यया दश सन्तस्तत्प्रसिद्धं कृतं भवति । कृताय स्थानीया भवन्ति, कृताय रूपत्वं च तेषां । एवं चतुरंक एककायः । एवं चत्वारो देवास्त्र्यंकायवत् त्रयोऽन्ये द्व्यंकायवद्द्वावन्यौ एकांकायवदेकोऽय इत्येवं दश सन्तस्तत्कृतं भवति ।

चतुरङ्कस्वरूपे कृता ये त्र्यंकाद्याऽनां विद्यमानत्वात् यस्मादेवं तस्मात्सर्वासु दशस्वपि दिक्षु अग्न्याद्याश्च देवाः संख्यासाम्यादन्नमेव । तथा च श्रूयते–**दशाक्षरा विराट् अन्नं विराट्** [जै. ब्रा. १–३४०] इति[1] । अतोऽन्नमेव दश दिशः । संख्यासामान्यात्ततो दश दिशः कृतं भवति ॥

---

[1] १. द्र. दशाक्षरा (+वै. [माश.]) विराट् । –तै. सं. २–६–१–२; काठसंक ५४–९, ऐ. ६–२०; गो. १–४–२४; २–१–१८; जै. १–१३२: १६५; २–१७०: ३–२४२; तां. ३–१–३–३; माश १–१–१–२२.

इदानीमन्नानदित्वसर्वदर्शित्वलक्षणौ गुणौ विधत्ते–

सैषा विराडन्नादी । तयेदꣳ सर्वं दृष्टम् ॥

सैषेति ॥ सैषा अग्न्याद्यात्मिका देवता विराट् दशसंख्या साम्या विराट्रूपा सति अन्नादी अन्नादिनी अन्नात्मकस्य सर्वस्य जगतो भक्षणात् तया अन्नादिन्या देवतया इदं सर्वं जगत् दशदिक्स्त दृष्टमुपलब्धं भवति । अन्नादित्वेन सर्वदिशित्वेन वाद्यात्मिका सैषा देवता दृष्टव्येत्यर्थः ॥

एवं विदुषः फलमाह–

सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ [८] ॥

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥

सर्वमस्येति ॥ यः पुमान् एवं यथोक्तप्रकारेण वेद जानाति अस्य विदुष इदं सर्वं दिक्षु परिदृश्यमानं जगत् सर्वं दृष्टमुपलब्धं भवति । किं चासौ विद्वान् अन्नादो भवति आमयावित्वादिदोषराहित्येनान्नादनसमर्थो भवति । द्विरुक्तिरुपासनसमाप्तिद्योतनार्था ॥

‘अह हारेत्वा शूद्रः’ [छा. उप. ४-२-३] इत्येतद्विषयीकृत्य शूद्रस्य विद्यायामविरोधोऽस्ति न वेति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे दशमाधिकरणे[1] विचारितम् । तद्यथा–

शूद्रोऽधिक्रियते वेदविद्यायामथवा न हि ।
अत्रैवर्णिकदेवाद्या इव शूद्रोऽधिकारवान् ॥
देवाः स्वयंभातवेदाः शूद्रोऽध्ययनवर्जनात् ।
नाधिकारी श्रुतौ स्मार्ते त्वधिकारो न वार्यते ॥[2]

छान्दोग्यस्य चतुर्थाध्याये संवर्गविद्यायामाम्नायते–

‘अहहारेमाः (आजहारेमाः) शूद्रानेनैव मुखेनालपयिष्यथा’ (छा. उप. ४–२–५) इति । अयमर्थः– जानश्रुतिर्नाम कश्चिच्छिष्यो गोसहस्रं दुहितरं मुक्ताहारं रथं कांश्चिद्ग्रामांश्चोपायनत्वेनानीय रैक्वनामकं गुरुमुपससाद । तस्य रैक्वस्य वचनं

---

[1] ब्रह्मसूत्रस्य प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे नवमाधिकरणे इदं सर्वं विचारितं दृश्यते । –संपादकः

[2] ब्र. सू. न्या. पृ. २७४

तत्–हे शूद्र जानश्रुते इमा गोसहस्रं विद्यार्थं आहृतवानसि । अनेनैव दुहिताद्युपायनमुखेन मच्चित्तं प्रसाद्योपदेशयिष्यसीति । तत्र शूद्रोऽपि वेदविद्यायामधिकारवानिति प्राप्तम् । अत्रैवर्णिकदेवदृष्टान्तेन शूद्रस्याप्यत्रैवर्णिकस्य तत्संभवादिति प्राप्ते ब्रूमः– अस्ति देवशूद्रयोर्वैषम्यम् । उपनयनाध्ययनाभावेऽपि स्वयं प्रतिभातवेदा देवाः । तादृशस्य सुकृतस्य पूर्वमुपार्जितत्वात् । शूद्रस्तु तादृशसुकृतराहित्यान्न स्वयं प्रतिभातवेदः, नापि तस्य वेदाध्ययनमस्ति । उपनयनाभावात् । अतो विद्वत्ताख्यस्याधिकारहेतोरभावात् न श्रौतविद्यायां शूद्रोऽधिकारी ।

कथं तर्ह्युदाहृतवाक्ये जानश्रुतिविषयः शूद्रशब्दः योगिकोऽयं न रूढ इति प्राप्ते ब्रूमः–विद्याराहित्यजनितया शुचा गुरुं उद्रावेति शूद्रः । न च रूढ्या योगस्यापहारः, रूढेरत्रासंभवात् । अस्मिन्नुपाख्याने क्षत्तृप्रेरणाद्यैश्वर्योपन्यासेन जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगमात् ।

ननु शूद्रस्य वेदविद्यायामनधिकारे सति मुमुक्षायां सत्यामपि मुक्तिर्न सिद्ध्येदिति चेत् न, स्मृतिपुराणादिमुखेन ब्रह्मविद्योदये सति मुक्तिसिद्धेः । तस्मान्न शूद्रो वेदविद्यायामधिक्रियते ।

वायुप्राणयोः पृथक्कृत्योपासना तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादेऽष्टाविंशाधिकरणे निर्णीता । तत्रायं न्यायसंग्रहः–

एकीकृत्य पृथग्वा स्याद्वायुप्राणानुचिन्तनम् ।
तत्त्वाभेदात्तयोरेकीकरणेनानुचिन्तनम् ॥
अवस्थाभेदतोऽध्यात्ममधिदैवं पृथक् श्रुतेः ।
प्रयोगभेदो राजादिगुणकेन्द्रप्रदानवत् ॥[1]

संवर्गविद्यायामधिदैवं वायुरुपास्यत्वेन श्रुतः । अध्यात्मं च प्राणः । तत्र प्राणस्य वायुकार्यत्वेन तत्त्वभेदाः ता वा उभयोरेकीकरणेन चिन्तनमिति प्राप्ते ब्रूमः–तत्व(त्त्व)भेदाभावेऽपि कार्यत्वेन कारणत्वेन चावस्थाभेदस्य सद्भावादित्यधिदैवतमध्यात्ममिति विविच्य पृथगनुचिन्तनाय श्रुतिर्विविनक्ति । तस्मादिन्द्रप्रदाने तत्प्रयोगभेदो द्रष्टव्यः । यथेन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाधीराजायेन्द्राय स्वराज्ञ इतीन्द्रस्यैकत्वेऽपि राजादिगुणभेदात् पृथक् पुरोडाशप्रदानं कृतम् । तथैकस्यापि वायुतत्त्वस्य स्थानभेदात् पृथक् चिन्तनं भविष्यति ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥

---

[1] ब्र. सू. न्या. पृ. ७५३

वायुप्राणयोः पृथक्कृत्य ब्रह्मदृष्टिमुपदिश्येदानीमग्न्यादिवागाद्यात्मके सर्वस्मिन् जगति षोडशधा विभज्य ब्रह्मदृष्टिमुपदेष्टुमाख्यायिकया श्रद्धातपसोर्ब्रह्मोपासनांगत्वप्रतिपादनायारभते–

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे ॥

सत्यकाम इति ॥ सत्यकामः सत्यसंकल्प(पो) ह इत्यैतिह्यद्योतनार्थम् । जाबालः जबालायाः पुत्रः जबालां जबालाख्यं मातरं स्वस्य जनयित्रीमामन्त्रयांचक्रे आमन्त्रयामास ॥

तामामन्त्र्य किमब्रवीदित्यत्राह–

ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥

ब्रह्मचर्यमिति ॥ हे भवति मातर्ब्रह्मचर्यं स्वाध्यायग्रहणायाचार्यकुले विवत्स्यामि वसिष्यामि । अहं किं गोत्रं यस्यासौ किंगोत्रः किन्नामकगोत्रवानित्यर्थः । अस्मि भवामि । तुशब्दः प्रश्नद्योतनार्थः इत्येवं प्रश्नं कृतवानित्यर्थः ॥

एवं तेन पृष्टाया जाबालाया वचनं दर्शयति–

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामालभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जाबाला तु नामास्मि सत्यकामो नाम त्वमसि सत्यकाम[1] एव जाबालो ब्रवीथाः[2] ॥ [२] ॥

सा हैनमिति ॥ सा जबाला एनं जाबालं पुत्रमुवाच ह उक्तवती–किल हे तात जाबाल तवैतद्गोत्रमहं न वेद न जाने । त्वं यद्गोत्रो यन्नामकगोत्रोऽसीति । यस्माद् याऽहं बहुभ(र्तृगृहे)...परिचर्यां जातं चरन्ती कुर्वाणा वर्ते तेन परिचारिणी परिचरणेन व्यापारग्रस्ता । किं च यौवने यौवनावस्थायां त्वामलभे लब्धवती अस्मि । तदैव तव पिता दिष्टं गतः तस्मात्सा परिचारिणा बालाऽनाथा चाहं यद्गोत्रस्त्वमसि तदेतत्तव गोत्रं न वेद न जाने । तु किंत्वहं जाबाला नाम तं जाबालाख्यास्मि त्वं सत्यकामो नाम सत्यकामाख्योसीत्येवमेवाहं जाने । अतो यद्याचार्यस्त्वां किंगोत्रऽसीति पृच्छति तर्हि त्वं सत्यकामो जाबाल एवाहमस्मीति, न तु गोत्रादिकं जान इति ब्रवीथाः त्वं ब्रवीषि ॥

---

[1] स सत्यकामः–मु. पा.

[2] ब्रुवीथा इति–मु. पा.

ततो जाबालस्य वचनं दर्शयति–

स ह हारिद्रुमतं[3] गौतममेत्योवाच । ब्रह्मचर्यं भगववि(ति) वत्स्याम्युपेयां भगवन्तम्[4] ॥ [३] ॥

स हेति ॥ स एवं मात्रा दत्तोत्तरो जाबालः सत्यकामो हारिद्रुमतं हरिद्रुमतः पुत्रं गौतमं गोत्रत एत्य प्राप्येवमुवाच–हे गौतम भगवति पूजावति त्वयि ब्रह्मचर्यं वत्स्यामि । अतो भगवन्तं त्वामुपेयां शिष्यतयोपगच्छेयमित्येवमुवाचेति संबन्धः ॥

गौतमस्य वचनं दर्शयति–

तꣳ होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति ॥

तं होवाचेति ॥ ततो गौतमस्तमेवमुक्तवन्तं जाबालमुवाच–हे सोम्य त्वं किंगोत्रोऽसि । नुशब्दः प्रश्नार्थः । विज्ञातकुले गोत्र एवोपनेतव्यो नान्य इत्येवमपृच्छदित्यर्थः ।

जाबालवचनं दर्शयति–

स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्राः(त्रोह)मस्म्यपृच्छं मातरं सा मा प्रत्यब्रवीत्–बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामालभे साऽहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जाबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहꣳ सत्यकामोऽथ[5] जाबालोऽस्मि भो इति ॥ [४] ॥

स होवाचेति ॥ स एवं गौतमेन पृष्टो जाबाल उवाच, तं गौतममेवमब्रवीत् । भो हे गौतम, अहं यद्गोत्रोऽस्मि तदेतन्मम गोत्रमहं न वेदेत्युवाचेति संबन्धः । किंच मातरं गोत्रमहमस्म्यपृच्छं पृष्टवानस्मि । सा मया पृष्टा माता मा मां प्रत्यब्रवीत्–बह्वहमित्यादि पूर्ववद्व्याख्येयम् । अतो भो गौतम स तस्या वचनं स्मद(र)न्नहं सत्यकामो जाबालोऽस्मि, न तु गोत्रादिकं जान इत्यर्थः । इत्येवमुत्तरं तस्मै प्रादादित्यर्थः ॥

गौतमस्य वचनं दर्शयति–

तꣳ होवाच नैतद्(द)ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति । समिधं

---

३. हारिद्रुमतम्–मु. पा.

४. भगवन्तमिति–मु. पा.

५. 'अथ' नास्ति–मु. पा.

सौम्यऽऽहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति ॥

तं होवाचेति ॥ एवं सत्यमुक्तवन्तः तं जाबालम् उवाच । ह गौतमोऽब्रवीत्किल एतद्यथार्थं वचनमब्राह्मणा(णो) ब्राह्मणव्यतिरिक्तः कश्चिद्वक्तुं विविच्य ब्रवीतु(तुं) नार्हति । यस्मात्त्वं सत्यान् ब्राह्मणजातिंधर्मात् सत्यवचनात् नागाः नापेतवानसि । तस्मात् ब्राह्मणं त्वा त्वामुपनेष्ये, उपनयनाख्येन कर्मणा संस्करिष्यामि । अतो हे सौम्य होमार्थं समिधमाहरणे(रे)त्युवाचेति पूर्वेण संबन्धः ॥

ततः किमित्यत्राह–

तमुपनयीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ॥

तमुपनीयेति ॥ ततस्तमानीतसमिधं जाबालमुपनीयोपनयनाख्येन कर्मणा संस्कृत्य कृशानां जीर्णदेहानाम् अबळानां बलरहितानां गोयूथानां चतुःशता चत्वारि शतानि निराकृत्यापाकृष्य हे सौम्यैवमाहश्चतुःशतसंख्यका गा अनुसंव्रजानुगच्छ पालयेत्यर्थः । इत्येवमुवाच ॥

ततो जाबालस्य वचनं दर्शयति–

ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणाऽऽवर्तयेति ।

ता अभिप्रस्थेति ॥ एवं तेनोक्ता(क्तो) जाबालस्ताश्चतुशतसंख्याका गा अभिस्थापयन्नरण्यं प्रति प्रेरयन् । नासहस्रेणापरिपूर्णेन सहस्रेण नावर्तेण न प्रत्यागमनं करवाणीत्येवमुवाच ॥

ततः किमकार्षीर्जाबालिरित्यत्राह–

स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रꣳ संपेदुः ॥ [५] ॥

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥

स ह वर्षगणमिति ॥ एवमुक्त्वा स जाबालिस्तृणोदकबहुलमरण्यं प्रवेशयित्वा तथा वर्षगणं वर्षसंघं दीर्घकालमित्यर्थः । प्रोवास प्रोषितवान् । ता गावो यदा यस्मिन् काले सहस्रं सहस्रसंख्यां संपेदुः संप्राप्ता भवेयुः, तावन्तं काळमित्यर्थः ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥

एवामाख्यायिकया विद्याप्राप्तिसाधने श्रद्धातपसी दर्शयित्वेदानीं विद्यामुपदिशति—

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम३इति ॥

अथ हैनमिति ॥ अथ विद्याप्राप्तिसाधनप्रदर्शनानन्तरं श्रद्धातपोभ्यां युक्तं जाबालं ऋषभो वायुस्तदीयाभ्यां श्रद्धातपोभ्यां संतुष्टः सन्नृषभो भूत्वा सत्यकामा इति संबोध्याभ्युवाद उक्तवान् ॥

सत्यकामस्य वचनं दर्शयति–

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥

भगव इति ॥ भगव हे भगवन्नहमसौ सत्यकाम इति प्रतिशुश्राव प्रतिवचनं दत्तवान् ॥

ऋषभवचनं दर्शयति–

प्राप्ताः सोम्य सहस्रꣳस्मः । प्राप्तः सोम्य सहस्रꣳस्म प्रापय न आचार्यकुलम् ॥ [१] ॥ ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ॥

प्राप्ता इति ॥ हे सौम्य सत्यकाम सहस्रं सहस्रसंख्यां प्राप्ता स्मः । तव प्रतिज्ञा पूर्णा, तस्मान्नोऽस्मानाचार्यकुलं प्रापय । किं च ते तुभ्यं ब्रह्मणः परस्यात्मनः पादं ब्रवाणि वक्षतीति ॥

सत्यकामवचनं दर्शयति–

ब्रवीतु मे भगवानिति ॥

ब्रवीत्विति ॥ एवमृषभेणोक्तः सत्यकामः प्रतिवचनं ददौ । मे मह्यं भगवान् ब्रवीतु । परस्य ब्रह्मणः पादं कथयि(य)त्विति ॥

ततः किमित्यत्राह–

तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः ॥

तस्मै होवाचेति ॥ एवं सत्यकामेनोक्त ऋषभस्तस्मै सत्यकामायोवाच ह । परस्य ब्रह्मणः पादमेवमुक्तवान्—किल प्राची पूर्वदिक् कला ब्रह्मणः पादस्य चतुर्थो भागः ।

एवं प्रतीची दिक् पश्चिमकला ब्रह्मणः पादस्य चतुर्थो भागः। एवं दक्षिणदिक्कला ब्रह्मणः पादस्य चतुर्थो भागः। एवमुदीचीदिक्कला ब्रह्मणः पादस्य चतुर्थो भागः। हे सौ(सो)म्य सत्यकाम एष वै अयमेव ब्रह्मणः परस्य चतुष्कलश्चतस्रः कला भागा यस्य स चतुष्फलः पादः ॥

गुणं विधत्ते–

प्रकाशवान्नाम ॥ [२] ॥

प्रकाशवानिति ॥ सोऽयं ब्रह्मणश्चतुष्कलः पादं प्रकाशवन्नाम प्रकाशवानित्येवं नामाख्यस्य स तथोक्तः। अयं ब्रह्मणश्चतुष्कलः पादः प्रकाशवानित्यनेन गुणेनोपास्य इत्यर्थः ॥

गुणफलमाह–

स य एतमेवं विद्वा१ँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति ॥

स य एतमिति ॥ यः कश्चित्पुमानेवं यथोक्तप्रकारेणेदं ब्रह्मणश्चतुष्फलं पादं विद्वान् जानन्प्रकाशवानित्यनेन गुणेन विशिष्टतयोपास्ते सोऽस्मिन् लोके प्रकाशवान्विख्यातो भवतीत्यर्थः ॥

एवमैहिकफलं दर्शयित्वाऽऽमुष्मिकफलं दर्शयति–

प्रकाशवतो ह लोकान् जयति य एतमेवं विद्वा१ँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ [३] ॥

[इति चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः।]

प्रकाशवत इति ॥ य एव एवमेतं ब्रह्मणश्चतुष्कलं पादं विद्वान्प्रकाशवानित्यनेन गुणेन विशिष्टमुपास्ते स मृतः सन् प्रकाशवतो देवादिसंबधिनो लोकान् द्युलोकादीन् जयति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां चतुर्थस्याध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥

एवमेकं पादं दर्शयित्वा द्वितीयं पादं दर्शयितुमुपक्रमते–

अग्निष्टे पादं वक्तेति ॥

अग्निष्टैति ॥ अहमेवं ब्रह्मण एकं पादमेवोचम्। ते तुभ्यमग्निरग्न्याख्यो देवः पादं वक्ता। द्वितीयस्य पादस्य वक्तेत्युक्त्वा ऋषभस्तूष्णीं बभूवेत्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह–

स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार। ता यत्र सायं (ता यत्राभि सायं) बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ [१] ॥

स ह श्व इति ॥ एवमृषभेणोक्तः स सत्यकामः श्वो भूते परेद्युः स्वीयं नित्यकर्मानुष्ठाय गा अभिप्रस्थापयांचकार आचार्यकुलं प्रति प्रेरयामास। ततस्ता आचार्यकुलाभिमुख्येन प्रस्थापिता शनैश्चरन्त्यो गावो यत्र यत्र यस्मिन् देशे सत्यकामो गा उपरुध्याग्निमुपसमाधाय समिधमाधाय समिधानं कृत्वा अग्नेः पश्चात्पश्चिमभागे प्राङ्मुखः सन् ऋषभवचनं ध्यायन्नुपोपविवेश उपविष्टवान् ॥

अग्नेर्वचनं दर्शयति–

तमग्निरभ्युवाद सत्यकामा (म ३) इति ॥

तमग्निरिति ॥ तमेवं नियमेनोपविष्टं सत्यकाममग्निः सत्यकामा इति संबोध्याभ्युवाद ॥

सत्यकामस्य प्रतिवचनं दर्शयति–

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ [२] ॥

भगव इति ॥ भगवो हे भगवन्नग्ने अहमसौ सत्यकाम इति प्रतिशुश्राव अग्नये प्रतिवचनं प्रादात्।

अग्नेर्वचनं दर्शयति–

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ॥

ब्रह्मण इति ॥ एवं दत्तप्रतिवचनोऽग्निः हे सोम्य सत्यकाम ते तुभ्यं ब्रह्मणः परस्य पादं ब्रवाणि कथयानीत्येवमुक्तवानित्यर्थः ॥

ततः सत्यकामस्य वचनं दर्शयति–

ब्रवीतु मे भगवानिति ॥

ब्रवीत्विति ॥ एवमग्निनोक्तः सत्यकामो मे मह्यं भगवानग्निर्ब्रवीतु कथयत्वित्युक्तवानित्यर्थः ॥

तस्मै होवाच पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कला एष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः ॥

ततः किमित्यत्राह—

तस्मा इति ॥ ततोऽग्निस्तस्मै सत्यकामाय ब्रह्मणो द्वितीयः पादमेवमुवाच ह–पृथिवी कला ब्रह्मणः पादस्य चतुर्थो भागस्तथान्तरिक्षं कला चतुर्थो भागः । एवं द्यौर्द्युलोकः कला चतुर्थो भागः । तथा समुद्रः कला चतुर्थो भागः । हे सोम्य सत्यकाम एष वै अयमेव ब्रह्मणश्चतुष्कलो द्वितीयो पाद इति ॥

गुणं विधत्ते—

अनन्तवान्नाम ॥ [३] ॥

अनन्तवानिति ॥ अयं ब्रह्मणश्चतुष्कलः पादोऽनन्तवान्नाम अनन्तवानिति नामाख्या यस्य स तथोक्तः । अनन्तत्वेन गुणेन विशिष्टोऽत्र त(त्व)योपास्य इति अर्थः ॥

गुणफलमाह—

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिꣳल्लोके भवति ॥

स य एतमिति ॥ यः कश्चिदेवं यथोक्तप्रकारेणैवं ब्रह्मणः पादमनन्तवानित्यनन्तवत्त्वेन गुणेनोपास्तेऽस्मिन् लोकेऽनन्तवाननन्तवत् गुणवान् भवति ॥

एवं दृष्टफलं दर्शयित्वेदानीनदृष्टफलं दर्शयति—

अनन्तवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ [४] ॥

॥ **इति चतुर्थाध्यायस्य षष्ठः खण्डः** ॥

अनन्तवत इति ॥ य एवं यथोक्तमेतं ब्रह्मणश्चतुष्कलं पादम् एवं विद्वाननन्तवानिति अनन्तत्वेन गुणेन विशिष्टमुपास्ते स मृतः सन् अनन्तवत्वगुणविशिष्टमुपास्ते स मृतः सन् अनन्तवत्वगुणविशिष्टान् अविनाशिनो लोकान् जयति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

॥ **इति छान्दोग्यदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य षष्ठः खण्डः** ॥

हꣳसस्ते पादं वक्तेति ॥

हंस इति ॥ एवमग्निः स्वयं द्वितीयं पादं दर्शयित्वा हे सत्यकाम ते तुभ्यं हंसः सूर्यः पादं ब्राह्मणस्तृतीयपादस्य वक्तेत्युक्तो परतो बभूव ॥

ततः सत्यकामः किमकार्षीदित्यत्राह–

स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ [१] ॥

स ह श्व इति ॥ व्याख्यानं पूर्ववत् ॥

हंसस्य वचनं दर्शयति–

तꣳहꣳस उपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति ॥

तं हंस इति ॥ तमेवमुपविष्टं हंसः सूर्य उपनिपत्य समीपं प्राप्य सत्यकाम इति संबोध्योभ्युवाद ॥

सत्यकामस्य वचनं दर्शयति–

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ [२] ॥

पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

हंसस्य वचनं दर्शयति–

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ॥

ब्राह्मण इति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

ब्रवीतु मे भगवानिति ॥

ब्रवीत्विति ॥ एतदपि पूर्ववत् ॥

ततो हंसः किं कृतवानित्यत्राह–

तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः ॥

तस्मै होवाचेति ॥ ततो हंसस्तस्मै सत्यकामाय ब्रह्मणस्तृतीयं पादमेवमुवाच ह—अग्निः कला ब्रह्मणः पादस्य चतुर्थो भागः । सूर्यः कला सूर्योऽयं कला चतुर्थो भागः, चन्द्रः कला चतुर्थो भागः विद्युत्सौदामनी कला चतुर्थो भागः । समानमन्यत् ॥

गुणं विधत्ते–

ज्योतिष्मान्नाम ॥ [३] ॥

ज्योतिष्मानिति ॥ अयं पादो ज्योतिष्मानित्यभिधानं यस्य स तथोक्तः । ज्योतिष्मत्वेन गुणेन विशिष्टतयोपास्य इत्यर्थः ।

गुणफलं दृष्टादृष्टरूपं दर्शयति–

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति । ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥ [४] ॥

स य एतमिति ॥ यो यथोक्तं ब्रह्मणश्चतुष्कलं पादं जानन् ज्योतिष्मत्वेन गुणेन विशिष्टमुपास्ते सोऽस्मिन् लोके जीवन् ज्योतिष्मान् दीप्तिवान् भवति । मृतः सन् ज्योतिष्मतश्चन्द्रादित्यादीनां दीप्तिमतो लोकान् प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने छान्दोग्यीपनिषद्दीपिकायां चतुर्थस्याध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥

अवशिष्टं ब्रह्मणः पादं वक्तुमुपक्रमते–

मद्गुष्टे पादं वक्तेति ॥

मद्गुरिति ॥ एवं हंसः स्वयमेकं पादं दर्शयित्वा हे सत्यकाम ते तुभ्यं पादम् अवशिष्टस्य ब्रह्मणः पादस्य मद्गुर्वक्ता । यद्यपि मद्गुशब्दः पक्षिण उदकचरस्य वाचकः तथाप्यत्राप्संबन्धात्प्राणं लक्षयति । तत्प्राणो वक्तेत्यर्थः । इत्येवमुक्त्वोपरराम ॥

ततः सत्यकामः किं कृतवानित्यत्राह–

स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ [१] ॥

स ह श्व इति ॥ व्याख्यानं पूर्ववत् ।

मद्गोर्वचनं दर्शयति–

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति ॥

तं मद्गुरिति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

सत्यकामस्य वचनं दर्शयति–

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ [२] ॥

भगव इति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

पुनर्मद्गोर्वचनं दर्शयति–

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ॥

ब्रह्मण इति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

सत्यकामस्य वचनं दर्शयति–

ब्रवीतु मे भगवानिति ॥

ब्रवीत्विति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

ततोऽपि मद्गुः किमकार्षीदित्यत्राह–

तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः ॥

तस्मै होवाचेति ॥ एवं तेन लब्धानुज्ञा मद्गुस्तस्मै सत्यकामाय ब्रह्मणः पादमेवमुवाच । प्राणोऽहं कला ब्रह्मणः पादस्य चतुर्थो भागः । तथा चक्षुः कला तथा श्रोत्रं कला तथा मनः कला । अन्यत्पूर्ववत् ॥

गुणं विधत्ते–

आयतनवान्नाम ॥ [३] ॥

आयतवानिति ॥ अयं ब्रह्मणः पाद आयतनवत्वेन गुणेनोपास्य इत्यर्थः ॥

दृष्टादृष्टरूपं गुणफलं दर्शयति–

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवति । आयतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं

विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ [४] ॥

॥ इति अष्टमः खण्डः ॥

स य एतमिति ॥ यो यथोक्तमेतं ब्रह्मणश्चतुष्कलं पादं विद्वानायतनवत्वेन गुणेन विशिष्टमुपास्ते सोऽस्मिन् लोके जीवन्नायतनवानवकाशवान् भवति । पश्चान्मृतः सन् परलोके आयतनवतो ह सावकाशानेव लोकान् प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्याष्टमः खण्डः ॥

ततः सत्यकामः किं कृतवानित्यत्राह–

प्राप हाऽऽचार्यकुलम् ॥

प्राप हेति ॥ एवं वाय्वादिभ्यो देवेभ्यो विद्यां प्राप्य ब्रह्मविद्भूत्वा सत्यकाम आचार्यकुलं प्रापः प्राप्तवानेव ॥

तत आचार्यः किमवोचदित्यत्राह–

तमाचार्योऽभ्युवाद–सत्यकाम ३ इति ॥

तमाचार्य इति ॥ तं सत्यकाममाचार्यो गौतमः सत्यकाम इति संबोध्याभ्युवाद ॥

सत्यकामस्य वचनं दर्शयति–

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ [१] ॥

भवति इति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

गौतमस्य वचनं दर्शयति–

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वाऽनुशशासेति ॥

ब्रह्मविदिव इति ॥ हे सोम्य सत्यकाम त्वं ब्रह्मविदिव वै यथा ब्रह्म विद्वान् प्रसन्नेन्द्रियः प्रहसितवदनो निश्चिन्तः सन् भाति तद्वदेव भासि । त्वा त्वां को नु कः खलु शशास अनुशासनं कृतवान् । नु शब्दो वितर्के । एवं वितर्कयन्नुवाचेत्यर्थः ॥

सत्यकामस्य वचनं दर्शयति–

अन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे । भगवाꣳस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ [२] श्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति ॥

अन्येति ॥ स सत्यकामो मनुष्येभ्योऽन्ये व्यतिरिक्ता वाय्वादयो देवा मामनुशासुः । अन्यः कश्चिन्मनुष्यो भगच्छिष्यभूतं मामनुशासितुमर्हति इत्येवं प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञातवान् । इतः परं भगवान् मे मम कामे इच्छायां ब्रूयात् ब्रवीत् । अन्यैरुक्तमहं न गणयामि । किं च हि यस्मान्मे ममास्मिन्नर्थे भगवद्दृशेभ्यो भगवत्सदृशेभ्य ऋषिभ्यः श्रुतमस्ति आचार्याद्धैव । **उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विज । सं(स)कल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रव(च)क्षते**[1] इति । एवं लक्षण आचार्यस्तस्मादेव विदिता विद्या साधिष्ठं साधूतमत्वं प्रापति प्राप्नोतीति भगवानेव ब्रूयादित्यर्थः ॥

ततो गौतमः किमकार्षीदित्यत्राह–

तस्मै हैतदेवोवाच अत्र ह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति ॥ [३] ॥

तस्मा इति ॥ एवं तेन प्रार्थित आचार्यस्तस्मै सत्यकामाय एतदेव देवैरुक्तां षोडशकलविद्यामेवोवाचाब्रवीत् । अत्रास्यां विद्यायां किंचन किंचित्कलामात्रमपि न विगतमिति । द्विरुक्तिर्विद्यापरिसमाप्तिद्योतनार्था ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥

एवं नानाप्रकारेण ब्रह्मविद्यां दर्शयित्वा पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मविद्यां दर्शयितुमाख्यायिकया विद्याप्राप्तिसाधनानि श्रद्धातपःप्रभृतीनि दर्शयितुमुपक्रमते–

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास ॥

उपकोसल इति ॥ कामलायनः कमलस्य पुत्रः उपकोसलः उपकोसलाख्यः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुद्दिश्य वेदाध्ययनायेत्यर्थः उवास उषितवान् । ह व इत्यैत (तौ) ह्यद्योतनाय ॥

ततः किमित्यत्राह–

तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन् परिचचार ॥

तस्येति ॥ सत्यकामाख्यस्याचार्यस्याग्नीनाहवनीयादीन् त्रीन् द्वादशवर्षाणि द्वादशवर्षसंख्यकान् संवत्सरान् परिचचार । ह उपकोसलोऽग्नीनां परिचरणं कृतवान् किल ॥

---

[1] मनुस्मृति २–१४०

इतः स आचार्यं किमकार्षीदित्यत्राह–

स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयꣳस्तꣳह स्मैव न समावर्तयति ॥ [१] ॥

स हेति ॥ स हाचार्यः किल अन्यानुपकोसलव्यतिरिक्तानन्तेवासिनो ब्रह्मचारिणः...नध्याप्य समावर्तयन् गुरुकुलान्निवर्तयन् तं होपकोसलमेवैकं ब्रह्मचारिणं न समावर्तयति स्म ॥

ततः किमित्यत्राह–

तं जायोवाच–तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन् परिचचारीन्मा त्वाऽग्नयः परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति ॥

तं जायेति ॥ तमन्यान् समावर्त्यैकमेवोपकोसलमसमावर्तयं तम् आचार्यं जाया चाचार्ययस्य पत्नी एवमुवाच–असौ ब्रह्मचारी तपसा तप्तं कुशलं सम्यगग्नीन् परिचचारीत् । आहवनीयादीनामग्नीर्ना परिचरण कृतवान् । हे भगवन् त्वा त्वां अग्नयः उपकोसलकृतेन परिचरणेन संतुष्टा आहवनीयादयो मा परिप्रोवाचन्–अयमाचार्योऽस्मद् भक्तमेकमुपकोसलमेव न समावर्तयतीति तत्र गर्हां कुर्युः । किं कुर्युरेव । अतोऽस्मा उपकोसलायेष्टां विद्यां ब्रूतेत्येवमुवाचेति संबन्धः ॥

ततः आचार्यः किं कृतवानित्यत्राह–

तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ॥ [२] ॥

तस्माइ ॥ एवं पत्न्या सम्यगुक्तोऽप्याचार्यस्तस्मा उपकोसलाय ब्रह्मणे अप्रोच्यैव अभीष्टां विद्यामनुक्त्वैव प्रवासांचक्रे ह प्रोषितवान् किल ॥

ततः किमित्यत्राह–

स ह व्याधिनाऽनशितुं दध्रे ॥

स हेति ॥ स्वाभीष्टां विद्यामनुक्त्वा आचार्ये प्रोषिते सति सहसा चोपकोसलो व्याधिना मानस्या पीडया नशितुं भोजनमकर्तुं दध्रे मनो धृतवान् ह किल ॥

अथाचार्यपत्न्या वचनं दर्शयति–

तमाचार्यजायोवाच–ब्रह्मचारिन्नशान किं नु नाश्नासीति ॥

तमाचार्यजायेति ॥ तमनशनं कर्तुं मनो दधानं अग्न्यागारे तूष्णीं वसन्तमुपकोसलम् आचार्यजाया सत्यकामस्य पत्नी उवाच–हे ब्रह्मचा(रि)न्नुपकोसल अशान भुंक्ष्व । किन्नु कस्माद्धेतोर्नाश्नासि, भोजनं न करोषीति ॥

तां प्रत्युपकोसलस्योत्तरं दर्शयति–

स होवाच–बहव इमेऽस्मिन् पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोस्मि नाशिष्यामीति ॥ [३] ॥

स होवाचेति ॥ स एवमाचार्यजायया पृष्टो ब्रह्मचार्युवाच–अस्मिन् प्राकृते पुरुषे मयि बहवोऽनेके इमेऽनुभवसिद्धाः कामा इच्छा वर्तन्त इति शेषः। नानात्ययोऽतिगमनं येषां व्याधीनां ते नानात्ययाः प्राप्तव्याप्राप्तिनिमित्ताश्चित्तपीडा इत्यर्थः। तैर्व्याधिभिः परिपूर्णोऽस्मि, अत्यन्तं पीडितोऽस्मीत्यर्थः। अतो नाशिष्यामि भोजनं कर्तुं नेच्छामित्युवाचेति संबन्धः ॥

ततः किमभूदित्यत्राह–

अथ हाग्नयः समूदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद् हन्तास्मै प्रब्रवामेति ॥

अथ हेति ॥ अथाचार्यजायायै दत्वोत्तरमग्न्यागारे ब्रह्मचारिणि तूष्णीमवस्थिते सत्यनन्तरम् अग्नयस्तेन ब्रह्मचारिणा वर्जिताः कृपाविष्टाः सन्तस्त्रयोऽप्याहवनीयादयस्समूदिरे ह संभूयोक्तवन्तः। किल असौ ब्रह्मचारी ततः तपसा कुशलं सम्यक् नोऽस्मान् परिचचारीत्। हन्तेति कृपया इदानीमस्मै मद्भक्ताय तपस्विने श्रद्धावते आचार्यवचननिमित्तं दुःखिताय ब्रह्मचारिणे प्रब्रवाम ब्रह्मविद्यां सम्यग्वदामेत्येवमुदीर इति संबन्धः ॥

ततः किमित्यत्राह–

तस्मै होचुः। प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥ [४] ॥

तस्मै होचुरिति ॥ एवं सः प्रधार्यते। सर्व आहवनीयादयोऽग्नयस्तस्मै ब्रह्मचारिणे ऊचुर्ह ब्रह्मविद्यामुक्तवन्त एव। कथम्। प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेत्येवमुचुरिति संबन्धः ॥

अथ ब्रह्मचारिणो वचनं दर्शयति–

स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म। कं च तु खं च न विजानामीति ॥

स होवाचेति ॥ स तैर(रे)वमुपदिष्टो ब्रह्मचारी उवाच ह उक्तवान् किल। यद्भवद्भिरुक्तं प्राणो ब्रह्मेति तद्विजानाम्येव। यस्मिन् सति प्राणिजातस्य जीवनं यस्मिन्न-

सत्यजीवनमतः वायुविशेषे प्राणशब्दो रूढः । अतः प्रसिद्धत्वात् सर्वप्राणिजीवनहेतुत्वाच्च प्राणस्य ब्रह्मरूपत्वं युक्तम् । अतस्तं विजानामीत्यभिप्रायस्तु किं तु कं च कंशब्दवाच्यं खं च खंशब्दवाच्यं च न विजानामि ।

ननु कंखंशब्दयोरपि सुखाकारिवाचिनो प्रसिद्धार्थत्वात्कथं ब्रह्मचारी कंखंशब्दार्थौ न विजानामीत्युक्तवानिति चेत्—मैवम् । प्रसिद्धपदार्थत्वेऽपि कंशब्दवाच्यस्य सुखस्य नित्यनिरतिशय-सातिशयत्वात् क्षणभंगुरत्वाच्च खंशब्दवाच्यस्याकाशस्याप्यचेतनत्वात्कथं चैतन्यस्वरूपत्वं भवेत्, 'कथं च भगवद्वाक्यमप्रमाणं' स्यादित्येवं संदेहात् ब्रह्मचारी न विजानामीत्युक्तवानिति ॥

ततः किमवोचन्नग्नय इत्यत्राह—

ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम् ।

ते होचुरिति ॥ एवमुक्तवन्तं ब्रह्मचारिणं ते ह त एवाग्नय ऊचुरेवमब्रुवन् । यद्वाव यदेव कं कंशब्दवाच्यं सुखं तत् सुखमेव खमिति जानीहि । ततः सुखेन विशेष्यमाणस्य खस्य लौकिकादचेतनादाकाशाद् व्यावृत्तिरवगम्यते तस्याकाशस्य सुखाश्रयत्वाभावात् । तथा यदेव खं खंशब्दवाच्यं तत्सुखं खंशब्दवाच्यमेव कमिति जानीहि । तेन खेनालौकिकेन विशेष्यमाणस्य कंशब्दवाच्यस्य नित्यनिरतिशयरूपस्य सुखस्य सातिशयादनित्यालौकिकात्सुखात् व्यावृत्तिरवगम्यते । लौकिकस्य सुखस्याकाशश्रितत्वाभावात् । ननु सुखेनाकाशे विशेषिते सुखस्याप्याकाशे न विशेषितत्वमर्थप्राप्तं यथा शुक्लपट इत्यत्र शौक्लेन पटे विशेषिते पटस्य शौक्ल्यमिति पटे न शुक्लगुणस्यापि व्यावृत्तिरर्थसिद्धा । अतो यदेव खं तदेव कमित्येतद्व्यर्थमिति चेत्—सत्यम् । एवं कंप्राप्तिसुखेन विशेषितस्याकाशस्यैव ध्येयत्वं विदितं भवेत् ।

नन्वाकाशगुणस्य विशेषणस्य सुखस्य ध्येयत्वं विहितं स्यात् विशेषणस्य विशेष्यव्यवच्छेतृत्वेनैवोपक्षीणत्वात् । अत आकाशगुणस्य सुखस्यापि ध्येयत्वप्रतिपादनायाकाशेनापि सुखं विशेष्यते । उभयोरपि ब्रह्मरूपतया ध्येयत्वं कथमवगम्यत इति चेत्, उच्यते—यदि सुखविशिष्टस्याकाशस्यैव ध्येयत्वं विवक्षितं स्यात्तर्हि कं खं ब्रह्मेत्येव ब्रूयुः न तु कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति । अतः पृथङ्निर्देश उभयोरपि परस्परविशेषितयोः सुखाकाशयोः ब्रह्मरूपतया ध्येयत्वमवगम्यते । तदेतदग्निभिरुक्तम् ।

वस्तुतत्त्वमस्मद्बोधाय श्रुतिः पुनरुपदिशति—

प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ॥ [५] ॥

॥ इति दशमः खण्डः ॥

प्राणमिति ॥ अस्मै ब्रह्मचारिणे प्राणं च हार्दाकाशे वर्तमानं सूक्ष्मत्वेन ब्रह्मसदृशं सर्वप्राणिजीवनहेतुं प्राणं तदाकाशं तस्य प्राणस्याश्रयतया संबन्धिनं सुखगुणविशिष्टं हार्दमाकाशं चोभयं समुच्चित्य ब्रह्मणे ऊचुरग्नयोऽब्रुवन् ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

एवं मिलित्वा ब्रह्मचारिणे ब्रह्मविद्यामुपदिश्येदानीं प्रत्येकं स्वरूपविषयां विद्यामुपदेष्टुं कामयमानानामग्निनां मध्ये गार्हपत्योऽग्निः स्वविषयां विद्यां प्रथममुपदिशति–

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति। य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ [१] ॥

अथ हैनमिति ॥ उपदेशानन्तरम् एवं ब्रह्मचारिणं गार्हपत्यनामाग्निरनुशशास। एवमनुशासनं कृतवान्। पृथिवी च अग्निश्च अन्नं च आदित्यश्चेति। ममैता चतस्रो मूर्तयः। तत्र य आदित्ये एष नामानः प्रत्यक्षयोग्यपुरुषः...[दृश्यते ?] सोऽहं गार्हपत्योऽग्निरस्मि। यश्च गार्हपत्योऽग्निः स एवाहमादित्य परिदृश्यमानः पुरुषोऽस्मीति सोऽहमस्मीत्युक्त्वा पुनः स एवाहमस्मीति वचनं पृथिव्यन्नयोर्भोज्यत्वलक्षणोस्त्वन्वोर्यथा संबन्धः तद्वदावयोर्गार्हपत्यादित्ययोः संबन्धो न भवति। किं त्वंत्यलोकमेवावयोर्गार्हपत्यादित्ययोः पृथिव्यन्नयोस्तु भोज्यत्वेनावाभ्यां संबन्ध इति प्रदर्शनार्थम् ॥

विदुषः फलमाह–

स यं एवमेतं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यापरपुरुषाः[1] क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ [२] ॥

॥ इति चतुर्थाध्यास्य एकादशः खण्डः ॥

स य एतमिति ॥ यः कश्चिदेतं यथोक्तं गार्हपत्यमग्निमन्नत्वेनानादतत्वेन च चतुर्धा विभक्तं विद्वान् जानन्नुपास्ते स पापकृत्यां पापकर्मापहते विवासयति। लोकी अस्मदीयाग्नेर्त्रिलोकवाँश्च भवति। सर्वं वर्षशतमायुरेति प्राप्नोति। ज्योगुज्ज्वलं जीवति विख्यातो भवतीत्यर्थः। अस्यैव विदुषः अपराश्च ते पुरुषाश्चापरपुरुषाः अस्य संततिजा इत्यर्थः। न क्षीयन्ते न विच्छिद्यन्ते संतत्यु[च्छे ?]दो न भवती-

---

[1] नास्यावर०–मु,रा.

त्यर्थः । अपि च तमेवमुपासकं वयमग्नेऽस्मिंश्चेह लोकेऽमुष्मिन् परलोके चोपभुञ्जानः पालयेम । यः पुमान् यथोक्तमेतं मां गार्हपत्यं विद्वानुपास्ते तस्यैतत्फलं भवत्येव नात्र संशयः कर्थभ्य(कर्तव्य) इत्यर्थः ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य
एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

गार्हपत्येनोक्तां विद्यां(द्यां) दर्शयित्वा दक्षिणाग्निोक्तां विद्यां(द्यां) दर्शयति—

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासाऽऽपो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति। य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ [१] ॥

अथ हैनमिति ॥ अथ गार्हपत्यकृतानुशासननानन्तरमेनं ब्रह्मचारिणम् अन्वाहार्यपचनोंऽन्वाहार्यपचनापरनामा दक्षिणाग्निरनुशशास। एवमनुमानं चक्रे-ह । आप उदकानि दिशो दश नक्षत्राणि तारकाश्चन्द्रमा इति ममैताश्चतस्रो मूर्तयः । तत्र चन्द्रमसि य एष दीप्यमानः पुरुषो दृश्यते सोऽहमन्वाहार्यपचनोऽस्मि । सोऽहमन्वाहार्यपचनोऽस्मि योऽन्वाहार्यपचनः स एवाहं चन्द्रमसि दृश्यमानः पुरुषोऽस्मीति ज्योतिष्ट्र(त्व)सामान्यादन्वाहार्यपचनाभ्यां संबन्धः । आपमन्नजनकत्वादन्नत्वं विज्ञेयम्। नक्षत्राणामन्नत्वं चन्द्रभोग्य(त्व)प्रसिद्धेः ॥

एवं विदुषः फलमाह–

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नानास्यापर[१]पुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ [२] ॥

॥ इति द्वादशः खण्डः ॥

स य एतमिति ॥ व्याख्यानं पूर्ववत् ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य
द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

---

१. नास्यावर०–मु.पा.

दक्षिणाग्निनोपदिष्टां विद्यां दर्शयित्वेदानीमाहवनीयाख्येनाग्निनोपदिष्टां विद्यां दर्शयति–

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति । य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ [१] ॥

अथ हैनमिति ॥ अथ दक्षिणाग्निकृतानुशासनानन्तरं एनं ब्रह्मचारिणम् आहवनीयनाग्निरनुशशास–प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति ममैताश्चस्रो मूर्तयः । तत्र विद्युदिति दृश्यमानः पुरुषोऽस्मीति विद्युदाहवनीयोऽथो ज्योतिष्टत्वसामान्यादेकत्वं द्युलोकाकाशयोस्तु भोग्योस्तु भोग्यत्वेन विद्युदाहवनीयाभ्यां संबन्धः । तयोः स्वाश्रयविषयत्वात् ॥

एवं विदुषः फलमाह––

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यापर[1]पुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जानोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ [२] ॥

॥ इति त्रयोदशः खण्डः ॥

स य एतमिति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

॥ इति छन्दोग्यदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य
त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

ततः किमित्याह–

ते होचुरुपकोशलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्याऽऽत्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेति ॥

ते होचुरिति ॥ ततस्तेऽग्नयः संभूय ऊचुर्ह एवमुक्तवन्तः किल–हे सोम्योपकोसल ते तुभ्यं एषा प्रकृताऽस्मद्विद्या अग्निविषया विद्या आत्मविद्या ब्रह्मविद्या यास्माभिरुक्ता, इतः परं तु आचार्यः ते तुभ्यं गतिं वक्ता विद्वा(द्या ?)फल प्राप्तये गतेर्वक्तेत्येवमुक्तो(क्त्वो)परतिं जग्मुस्तेऽग्नय इत्यर्थः ॥

ततोऽपि किमित्यत्राह-

आजगाम हास्याचार्यः ॥

---

[1] नास्यावर० –मु पा.

आजगामेति ॥ इत्येवमुक्तोपरतिं प्राप्तेष्वग्निष्वाचार्यः काले अस्योपकोसलस्य समीपमाजगाम ह प्राप्तवान् किल ॥

आगत्याचार्यः किमकरोदित्यत्राह–

तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसला[1] इति ॥ [१] ॥

तमाचार्येति ॥ तमुपकोसलमाचार्य आगत्योपकोसला इति संबोध्याभ्युवाद उक्तवान् ॥ उपकोसलस्य प्रतिवचनं दर्शयति–

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥

भगव इतीति ॥ हे भगवन्नसावह(म)स्मीति प्रतिशुश्राव प्रतिवचनं दत्तवानित्यर्थः ॥४॥

आचार्यस्य वचनं दर्शयति–

ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वाऽनुशशासेति ॥

ब्रह्मविदि(दे)ति ॥ हे सोम्य ते तव मुखं ब्रह्मविद इव यथा कृतार्थस्य निश्चितस्य ब्रह्मविदो मुखं प्रसन्नं नयनं प्रहरसितं (प्रहसितं) भाति तद्वद्भाति । त्वा त्वां को नु शशास । नु वितर्के ॥

तत उपकोसलस्य वचनं दर्शयति–

कोऽनु माऽनुशिष्याद्भो इतीहापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे ॥

कोऽनु माऽन्विति ॥ भो आचार्य त्वयि प्रोषिते सति मा मां को नु कः खलु अनुशिष्या[त्] अनुशासनं कुर्यात् । इत्यपन्हुत इव अपह्न्वहं कृतवान् । इवशब्दप्रयोगात्सर्वात्मनानिह्नवं न कृतवानिति गम्यते । किन्तु अग्निभिर्ब्रह्म यथावदुक्तं त्वं ब्रूहीत्यभिप्रायः । इमेऽग्नयो परिचरितुं नूनमुक्तवन्तः यतस्त्वां दृष्ट्वा ईदृशा वेपमाना इव दृश्यन्ते । अन्यादृशाः पूर्वा(र्वं ?)मवेपमानाः सन्त इत्यग्नीनभ्यूदेहका उक्तवानेव ॥

आचार्यस्य वचनं दर्शयति–

किं न सोम्य किल तेऽवोचन्निति ॥ [२] ॥

किन्नु इति ॥ हे सोम्य ते तुभ्यम् अग्नयः किं न (नु ?) किल अवोचन् कथमब्रुवन्नित्यर्थः ॥

---

१. ०कोसल ३ इति–मु.पा.

उपकोसलेन दत्तमुत्तरं दर्शयति–

इदमिति ह प्रतिजज्ञे ॥

इदमितीति ॥ एवमाचार्येण पृष्ठो ब्रह्मचारी इदमग्निभिरुक्तमिति प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञातवान् । इदमिति प्रतीकमात्रमग्निभिरुक्तं सर्वमप्युक्तवानित्यर्थः ॥

अथाचार्यस्य वचनं दर्शयति–

लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति ॥

लोकान्वावेति ॥ यस्माद्धे सोम्य ते तुभ्यं ते गार्हपत्यादयोऽग्नयः लोकान् वाव पृथिव्यादीनवोचन् अब्रुवन् किल । न तु ब्रह्म साकल्येनोक्तवंतः । तस्मादहं तु तद्ब्रह्म तुभ्यं वक्ष्यामि । समाहितचित्तः सन् शृणु । यस्य मयोच्यमानस्य ब्रह्मणो ज्ञानमाहात्म्यम् एतादृशम् । यथा पुष्करपलाशे पद्मपत्रे निहिता आपो न श्लिष्यन्ते तेन पत्रेण न संबध्यन्ते एवं तथा एवंविदि यथाहं वक्ष्यामि तद्वद् ब्रह्मविदि ब्रह्मणो ज्ञातरि पापं कर्म न श्लिष्यते न संबध्यते । इत्येवमाचार्य उपकोसलमब्रवो[दि]त्यर्थः ॥

अथोपकोसलस्य वचनं दर्शयति–

ब्रवीतु मे भगवानिति ॥

ब्रवीत्विति ॥ भगवानाचार्यो मे मह्यं तादृशं ब्रह्म ब्रवीतु कथयत्वित्युपकार...

[तस्मै होवाच[१]] [३]

॥ इति चतुर्दश खण्डः ॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति ॥

य एष इति ॥ अक्षिणि नेत्रे य एष प्रत्यक्षयोग्यः पुरुषो द्रष्टा दृश्यते ब्रह्मचर्यादिसाधनं संपन्नैः उपरतेन्द्रियग्रामैः ब्रह्मण्याहितचितैरपरोक्षतया प्रतीयते । तथा च श्रूयते– **चक्षुषश्चक्षुः** [केन० उप. १–२; बृ. उप. ४–४–१८] इति । एष सोऽयं

---

[१] तुटितः पाठः । मूल पाठोऽस्माभिर्मुद्रितपुस्तकात् पूरितः । –संपादकः

प्राणिनामात्मा । एतद्यथोक्तमात्मतत्वममृतं मरणरहितमविनाशीत्यर्थः । तत एवाभयं भयरहितं विनाशशंकाया अभावात् । अत एवैतद्ब्रह्म महदित्येवमुवाचेति पूर्वेण संबन्धः । पुनरिति शब्दोऽवान्तरवाक्यसमाप्त्यर्थः ॥

यथोक्तमक्षिपुरुषं स्तौति–

तद्य[द्य]प्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति [इति][१] **॥ [१] ॥**

तद्यदिति ॥ नन्वत्र पुरुषस्याश्रयभूतेऽस्मिन् प्रकृतेऽक्षिणि यद्यपि सर्पिर्घृतमुदकं वा कश्चित्सिञ्चति तथापि तत्सर्पिरादिकं वर्त्मनी एव अक्षिपक्ष्मण्येव गच्छति न चक्षुषा संबध्यते । यथा पद्मपत्रे निहितमुदकं तद्वदित्यर्थः । इतिशब्दोऽवान्तरवाक्यसमाप्त्यर्थः । नन्वात्राक्षिगुणवर्णनमात्रं प्रतीयते न पुरुषगुणवर्णनम् । अतः कथमत्र पुरुषस्तुतिरित्युच्यते । गुणनिष्ठगुणाभिधानरूपत्वात् स्तुतेरिति चेत्, मैवम् । यदाश्रयस्यापि निरंजनत्वं तदा किमुवक्तव्यमाश्रयिणः पुरुषस्य निरंजनत्वमिति पुरुषगुणकथनमेव वाक्यस्य तात्पर्यात् ।

गुणं विधत्ते–

एतꣳ संयद्वाम इत्याचक्षते ॥

एतमिति ॥ एतं यथोक्तमक्षिपुरुषं संयमद्वामः संयन्ति वामानि वननीयानि स संयद्वाम इत्येवमाचक्षते विद्वांसः । संयद्वामत्वगुणेन विशिष्टतयासावक्षिपुरुष उपास्य इत्यर्थः ।

कुतोऽस्य संयद्वामत्वमित्यत्राह–

एतꣳ हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति ॥

एतमिति ॥ हि यस्मादेतमक्षिपुरुषं सर्वाणि वामानि संभजनीयानि संयन्त्यभिसंगच्छन्ते तस्मादस्य संयद्वामत्वमित्यर्थः ॥

गुणफलमाह–

सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ [२] ॥

सर्वाणीति ॥ यः पुमानेवं संयमद्वामत्वगुणविशिष्टतयाक्षिपुरुषं वेद तमेनं सर्वाणि वामानि वननीयानि(नी ?)ति संयन्ति अभिसंगच्छन्ते ।

---

१. गच्छतीति–मु.पा.

गुणान्तरं विधत्ते–

एष उ एव वामनीः ॥

एष इति ॥ एष उ एवायमक्षिपुरुष एव वामनी वामानि नयतीति विग्रहः । वामनीत्वगुणविशिष्टतयाऽसादु(वु)पास्य इत्यर्थः ॥

कथमस्य वामनीयत्वमित्यत्राह–

एष हि सर्वाणि वामानि नयति ॥

एष हीति ॥ हि यस्मादेषोऽक्षिपुरुषः सर्वाणि वामानि संभजनीयानि कर्मफलानि प्राणिभ्यो नयति प्रापयति तस्मादसौ वामनीरित्यर्थः ॥

गुणफलम'ह–

सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥ [३] ॥

सर्वाणीति ॥ य एवं वामनीत्वगुणविशिष्टतयाक्षिपुरुषं वेद स सर्वाणि वामानि कर्मफलानि प्राणिभ्यो नयति अक्षिपुरुषमेव प्रापयतीत्यर्थः ॥

गुणान्तरं विधत्ते–

एष उ एव भामनीः ॥

एष इति ॥ एष उ एवायमेवाक्षिपुरुषो भामनीः भामानि नयतीति भामनीरिति विग्रहः । भामनी च गुणविशिष्टतयाऽसावुपास्य इत्यर्थः ॥

कथमस्य भामनीत्वमित्यत्राह–

एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति ॥

एष हीति ॥ हि यस्मादेषोऽक्षिपुरुषः सर्वेषु लोकेषु पृथिव्यादिषु आदित्यचन्द्राग्न्यादिरूपेण भाति दीप्यते अतो भामानि स्वीयानि...वतो नयति तस्मादसौ भामनीरित्यर्थः । [तथा च श्रूयते–'**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** [कठ. उप. ५–१५, मुं. उप. २–२–११] इति ॥

गुणफलमाह—

सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ [४] ॥

सर्वेषु लोकेष्विति ॥ य एवं यथोक्तमक्षिपुरुषं वेद स सर्वेषु लोकेषु भाति ॥

यथोक्तब्रह्मविदः परलोकगतिं दर्शयति—

अथ य उ[1] चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽरहन (अन्ह) आपूर्यमाणपक्ष(म्) आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान्मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पृ[रु]षोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति ॥

अथेति ॥ अथ साकल्येन ब्रह्मविद्याप्रदर्शनानन्तरं यथोक्तब्रह्मविदां गतिरुच्यत इत्यर्थः । य उ यद्येवास्मिन् ब्रह्मविदि मृते सतीति शेषः । शव्यं शवकर्म ऋत्विजः तेन शवकर्मणा कृतं नाप्यप्रतिबद्धो ब्रह्म आप्नोति । न च कृतेन शवकर्मणा तस्य कश्चिदधिको लाभोऽस्ति । तथा च श्रूयते **'न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्'** [बृ. उप. ४-४-२३] इति । एवं शवकर्मण्यनादरप्रदर्शनेन विद्या स्तूयते । न पुनः शवकर्मैकविदो न कर्तव्यमिति निषिध्यते । तथा चाहुः-**'न हि निन्दनिन्द्यं निन्दितुम्, अपि च स्तुत्यं स्तोतुम्'** इति । अतो य एवं प्राणसुखाकाशाक्षिपुरुषाद्यात्मकं ब्रह्मेति । अक्षिपुरुषं च संयद्वामत्वं वामनीत्वमा(वा)मनीत्वगुणैर्विशिष्टतयोपासते गार्हपत्याद्यग्निविद्यां च जानन्ति तेऽर्चिषमेवाभिसंभवन्ति । अर्चिरभिमानिनीं देवतामेव प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । अर्चिषोऽर्चिर्देवताया अहरहरभिमानिनीं देवतां संभवन्ति । तत्तत्र वर्तमानात्तान् ब्रह्मविदो मानवो मानव्यां सृष्टौ भवो मानवः । न मानव अमानवादन्यो यः कश्चित्पुरुषो ब्रह्मलोकादागच्छति । स पुरुष एतान् सत्यलोके वर्तमानं ब्रह्म गमयति ॥

यथोक्तस्यार्चिरादिमार्गस्यानुवादेन प्रशंसां करोति—

एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते नाऽऽवर्तन्ते ॥ [५] ॥

॥ इति पञ्चदशः खण्डः ॥

एष इति ॥ एष यथोक्तोऽर्चिरादिमार्गादेव पथः देवैरर्चिरादिभिः प्रापयितृत्वेनाधिकृतैरुपलक्षितः पन्था । तथैष ब्रह्मपथो ब्रह्मणा गन्तव्यत्वेनावस्थितेनोपलक्षित इति ब्रह्मपथ इत्युच्यते । एतेनार्चिरादिभिर्ब्रह्मणा चोपलक्षितेन पथा प्रतिपद्यमानाः ब्रह्मगच्छन्तम् इमं मानवं मनुना सृष्टम् आवर्तं यथा घटीयंत्रवर्तिनो घटः पुनः पुनरावर्तन्ते(ते)

---

१. यदु–मु.पा.

तद्वदस्मिन् जननमरणबंधचक्रारूढाः पुनः पुनरावर्तंत इत्ययं पथा आवर्त इत्युच्यते। तमावर्तं नावर्तं तेन प्रतिपद्यन्ते। द्विरुक्तिर्विद्यासमाप्ति द्योतनार्था ॥

अत्र श्रूयमाणस्याक्षिपुरुषस्य ब्रह्मत्वं प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे चतुर्थाधिकरणे चिन्तितम् तद्यथा—

छायाजीवौ देवतेशौ वाऽसौ योऽक्षिणि दृश्यते।
आधारदृश्यतोक्त्येशादन्येषु त्रिषु कश्चन ॥
कं खं ब्रह्म यदुक्तं प्राक्तदेवाक्षिण्युपास्यते।
वामनीत्वादिनाऽन्येषु नामृतत्वादिसंभवः ॥[1]

छान्दोग्यस्य चतुर्थाध्यायस्य उपकोसलविद्याय(या)मुपकोसलं शिष्यं प्रति सत्यकामो गुरुराह तत्रत्यं वाक्यमेतत् **‘य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म’** [छा. उप. ४-१५-१] इति। तत्र चतुर्धा संशये सति अक्षिणि सर्वैर्दृश्यमाना छायेति। तावत्प्राप्तभक्ष्याधारत्वदृशत्वयोस्तस्यामेव स्पृष्टत्वात्। अथवा जीवोऽयं भवितुमर्हति रूपदर्शनवेलायां तस्य चक्षुष्यवस्थितत्वेन अन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृश्यमानत्वात्। अथवा देवता स्यात् **‘आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्’** [ऐ. उप. २-४] इति दर्शनात्सर्वद्धा(ध्या ?)नपरमात्मा तस्याधारे दृश्यत्वासंभवात्। तस्माच्छायाक्षीत्र देवेषु यः कोऽप्यस्त्विति प्राप्ते ब्रूमः—ऽ**कं ब्रह्म खं ब्रह्म’** [छा. उप. ४-१०-४] इति सुखरूपमाकाशवत्परिपूर्णं यद्ब्रह्म पूर्ववाक्येनोक्तं तदेव **‘य एषोऽक्षिणि’** [छा. उप. ४-१५-१] इति प्रकृतवाचकेनैतच्छब्देन परामृश्याक्षिण्युपास्यत्वेनोपदिश्य वामनीत्वभामनीत्वसंयमद्वामत्वगुणानुपासनायोपदिशति। वामनीत्वं कामप्रापकत्वं भामनीत्वं जगद्भासकत्वं संयद्वामत्वं प्राप्तकामत्वम्। एतैर्गुणैरुपास्यब्रह्मणः सोपाधिकत्वादक्ष्याधारत्वं शास्त्रदृष्टया दृश्यमानत्वं च न विरुध्यते। छायाजीवदेहेषु त्वमृतत्वाभयादीनि न संभवन्ति। तस्मादीशोऽत्र उपास्यः।

श्रूयमाणोऽर्चिरादिमार्गः सगुणविद्यायामेवेत्ययमर्थः तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे सप्तदशाधिकरणे निर्णीतः। तद्यथा—

उपास्तिबोधयोर्मार्गः समो यद्वा व्यवस्थितः।
सम एवोत्तरो मार्ग एतयोः कर्महानवत् ॥
देशान्तरफलप्राप्त्यै युक्तो मार्ग उपास्तिषु।
आरोग्यवद्बोधफलं तेन मार्गो व्यवस्थितः ॥[2]

---

[1] ब्र. सू. न्या. पृ. १७५

[2] ब्र. सू. न्या. पृ. ७२८

चतुर्थाध्यायतृतीयपादे वक्ष्यमाणोऽर्चिरादिमार्गः सगुणब्रह्मोपासकस्य निर्गुणब्रह्मतत्त्वविदः समान एव सुकृतदुष्कृतकर्महानवत्, समानत्वसंभवादिति प्राप्ते ब्रूमः–उपास्तिप्राप्यस्य ब्रह्मलोकफलस्य देशान्तरवर्तित्वात् युक्तस्तत्र मार्गः। ब्रह्मज्ञानफलं तु रोगनिवृत्तिवदविद्या· निवृत्तिमात्रं इति किं तव(त्र?) मार्गेण करणीयं स्यात्। तस्मादुपासकस्यैव तु ज्ञानिन इति व्यवस्थितो मार्गः।

उपरितनेऽधिकरणे सर्वोपास्तिविषयः स मार्ग इति निर्णीतम्।

मार्गः श्रुतस्थलेष्वेव सर्वोपास्तिषु वा भवेत् ॥
श्रुतेष्वेव प्रकरणाद्द्विःपाठोऽस्य वृथान्यथा।
प्रोक्तो विद्यान्तरे मार्गो ये चेम इति वाक्यतः।
तेन बाध्यं प्रकरणं द्विःपाठश्चिन्तनाय हि ॥[1]

छान्दोग्ये पञ्चाग्निविद्यायामुपकोसलविद्यायां चोत्तरमार्गः पठितः। शांडिल्यवैश्वानरादिविद्यासु न पठितः। तथा च प्रकरणवशाद् यासु विद्यासु श्रुतस्तास्वेव मार्गो व्यवतिष्ठते। नन(त ?)त्रोपसंहर्तव्यः। उपसंहारे च सकृत्पठितस्यैव सर्वत्रोपसंहर्तुं शक्यतया विद्याद्वये द्विःपाठो निरर्थकः स्यात्। तस्माच्छ्रुतिस्थलेष्वेव मार्ग इति प्राप्ते ब्रूमः–पञ्चाग्निविद्यावाक्यशेषे पञ्चाग्नि उपासक(का)नामुत्तरमार्गं ब्रुवती श्रुतिर्विद्यान्तरशालिनां च मुखत एवाऽर्चिरादिमार्गमुदाजहार। '**तद्य इत्थं विदुः ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति।**' [छा. उप. ५–१०–१] इति। अस्यायमर्थः–यदुपासका इत्थं पञ्चाग्नीनुपासते ये चान्ये श्रद्धातप इत्येवमादिधर्मयुक्ताः सन्तः उपासनान्तरेषु प्रवर्तन्ते ते सर्वेऽप्यर्चिरादिमार्गं प्राप्नुवन्तीति। ततश्च मार्गप्रतिपादकवाक्येन नाधीतव्यं न च द्विःपाठवैय्यर्थ्यम्, उपास्यगुणवच्चिन्तनार्थत्वोपपत्तेः। तस्मात्सर्वोपास्तिषूत्तरमार्गोऽवगन्तव्यः। अर्चिरादिमार्गविषया अवशिष्टविचाराश्चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादेऽभिहिताः। तद्यथा–

नानाविधो ब्रह्मलोकमार्गो यद्वार्चिरादिकः।
नानाविधः स्याद्विद्यासु वर्णनादन्यथान्यथा ॥
एक एवार्चिरादिः स्यान्नानाश्रुत्युक्तपर्वकः।
यतः पञ्चाग्निविद्यायां विद्यान्तरम(व)तां श्रुतः ॥[2]

---

[1] ब्र. सू. न्या. पृ. ७३०

[2] ब्र. सू. न्या. पृ, ८७२

ब्रह्मलोकमार्गच्छान्दोग्यबृहदारण्यकयोः पञ्चाग्निविद्यायां पठ्यते । **‘तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषो**[ऽहः] [छा. उप. ५–१०–२; बृ. उप. ६–२–१५] इति । विद्यान्तरे तु वाय्वादिकः **‘स वायुमागच्छद्(ति)’** [बृ. उप. ५–१०–१] इति । कौषीतकिनः पर्यंकविद्यायामग्निलोकादिकमामनन्ति । **‘स एतं देवयानं पंथानमाप**[1]**-द्याग्निलोकमागच्छति ।’** [कौ. उप. १–३] इति । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । तस्माद्बहुविधो मार्ग इति प्राप्ते ब्रूमः–आकाशादिक एक एव मार्गः । कुतः पञ्चाग्निविद्यावाक्यशेषे पञ्चाग्निविदो विद्यान्तरोपासकांश्चोद्दिश्यार्चिरादिमार्गस्यैव पठितत्वात् । **‘तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासतेऽर्चिषमभिसंभवन्ति**[2] [छा. उप. ५–१०–१] इति श्रुत्यन्तरोक्तानां तु वाय्वादीनां गुणोपसंहारन्यायेन अचि(र्चि)रादिमार्गप्रवेशे सति तत्पूर्वत्वसंभवात् तस्मादर्चिरादिमार्ग एक एव ।

द्वितीयाधिकरणमारचयति–

संनिवेशयितुं वायुरत्राशक्याच[2] शक्यते ।
अशक्यो[3] वायुलोकस्य श्रुतक्रमविवर्जनात् ॥
वायुश्छिद्राद्विनिष्क्रम्य स आदित्यं व्रजेदिति ।
श्रुतेरर्वाग्रवे[4] वायुर्देवलोकस्ततोऽप्यधः ॥[5]

‘तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्नः आपूर्णमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति’ [छा. उप. ५–१०–१,२] इति श्रूयमाणेऽर्चिरादिमार्गे शाखान्तरश्रुतौ वायुः केनापि संनिवेशेन अन्तर्भावयितुमशक्यः । अस्योपरि वायुरिति क्रमस्याश्रुतत्वात् कल्पकाभावाच्चेति प्राप्ते ब्रूमः–श्रुत्यन्तरं तत्कल्पकम् । तथा हि– **‘स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते[स]आदित्यमागच्छति** [बृ. उप. ५–१०–१] इति । ततो निर्गत्य उपासको यदा वायुमागच्छति तदा तद्वायु-

---

१. ०मासाद्या० इति ब्र. सू. शांकरभाष्ये पाठः ।

२. ०शक्योऽथ–मु.पा.

३. न शक्यो–मु.पा.

४. ०र्वाग्रवेः–मु.पा.

५. ब्र. सू. न्या. पृ. ८७४

छिद्रप्रमाणेन वायुछिद्रेण वायुमण्डलमण्डलं छिद्रितं भवति। तेन चाथक्र (रथचक्र ?) मुल्लंध्यादित्यमण्डलं प्राप्नोतीत्यर्थः । एवं च सति वायोरादित्यात्पूर्ववत्प्रतीतेः क्रमविशेषोऽवगन्तुं शक्यते। मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सराद्वायुः वायोरादित्यमित्येवं सन्निवेशः कर्तव्यः । बृहदारण्यके तु मासानन्तरं संवत्सरं परित्यज्य तस्य स्थाने देवलोकः पठितः । स च संवत्सरादनन्तरं वायोरर्वाङ्निवेशयितव्यः । माससंवत्सरयोः संबाधित्वेन सिद्धयोः आनन्तर्यस्यानिवारणीयत्वात् । तदेवं संवत्सरादित्ययोर्मध्ये देवलोकवायुलोकौ सन्निवेशयितुं शक्यौ ।

तृतीयमधिकरणमारचयति-

वरुणादेः सन्निवेशो नास्तिर(त)त्रोत[1] विद्यते ।
नास्ति वायोरिवैतस्य व्यवस्था श्रुत्यभावतः ।
विद्युत्संबन्धिवृष्टिस्थनीरस्याधिपतित्वतः ।
वरुणो विद्यतस्तूर्ध्वं तत इन्द्रप्रजापती ॥[2]

कौषीतकिनः पठन्ति '**स वर्ण(रुण)लोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकम्।**' [कौ. उप. १-३] इति । तत्र वरुणादयस्त्रयो लोका अर्चिरादिमार्गे सन्निवेशयति ....वायोरिव व्यवस्थापकाभावादिति प्राप्ते ब्रूमः-विद्युल्लोकस्योपरि वरुणलोकः संबन्धवशाद् व्यवस्थाप्यते। विद्युत्पूर्वकवृष्टिगतनीरस्य वरुणोऽधिपतिरिति विद्युद्वरुणयोः संबन्धः । इन्द्रप्रजापत्योस्तु स्थानान्तरासंभवेऽप्यागन्तूनामन्ते विवेश [!] इति न्यायेन वरुणलोकस्योपरि संनिवेशः । तदेव वरुणादीनां सन्निवेशादर्चिरादिमार्गो व्यवस्थितः ।

चतुर्थाधिकरणमारचयति—

मार्गचिह्नं भोगभूर्वा नेत(ता)रो वार्चिरादयः ।
आदौ स्यातां मार्गचिह्नसारूपा(प्या)ल्लोकशब्दतः ॥
अन्ते गमयतीत्युक्तेर्नेत(ता)रस्तेषु [चे]दृशः ।
निर्देशोऽस्त्यत्र लोकाख्या तन्निवासिजनान्प्रति[3] ॥

ये ऐतरादयः श्रुताः, ते मार्गचिह्नानि भवितुमर्हन्ति । लौकिकमार्गचिह्नसारूप्येण निर्दिश्यमानत्वात् । लोका हि मार्गज्ञानार्थैर्दिशन्ति । गा(ग्रा)मान्निर्गत्य नदीं व्रह्म(?) ततः पर्वतं ततो घोषमिति, तद्वदत्राप्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमिति निर्दिश्यते ।

---

[1] तत्राथ-मु. पा.

[2] ब्र. सू. न्या. पृ. ८७६

[3] ब्र. सु. न्या. पृ. ८७६

तस्मान्मार्गचिह्नानि यद्वा ब्रह्मलोकं जिगमिषोर्विश्रामस्थानभोगभूमयोऽर्चिरादयः । कुतः वायुलोकं वरुणलोकमिति प्रयुक्तस्य लोकशब्दस्य भूमौ प्रसिद्धत्वादिति प्राप्ते ब्रूमः— **'तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति'** [छा. उप. ४–१५–५] इत्यन्ते श्रूयमाणस्यामानवस्य विद्युत्पुरुषस्य नेतृत्वावगमात् । तत्साहचर्येणार्चिरादयोऽप्यातिवाहिकदेवता इत्यवगम्यते । यत्तु निर्देशसाम्यमुक्तं तदापि वार्चिरादयः ।

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

परं ब्रह्माथ वा कार्यमुदङ्मार्गेण गम्यते ॥
मुख्यत्वादमृतत्वोक्तेर्गम्यते परमेव तत् ॥
कार्यं स्याद्गतियोग्यत्वात्परस्मिस्तदसंभवात् ।
स(सा)मीप्याद्ब्रह्मशब्दोक्तिरमृतत्वं क्रमाद् भवेत् ॥[1]

'स एनान्ब्रह्म गमयति' [छा. उप. ४–१५–५] इति श्रूयमाणं यदुत्तरमार्गप्राप्यं वस्तु तत्परं ब्रह्म भवितुमर्हति । कुतः ब्रह्मशब्दस्य तत्र मुख्यत्वात् । **तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति'** [छा. उप. ८–६–६; क. उप. ६–१६] इत्यमृतत्वकथनाच्चेति प्राप्ते ब्रूमः—सत्यलोकाख्यकार्यं ब्रह्मोपासकव्यतिरिक्तत्वात्परिच्छिन्नत्वाच्च गतिपूर्वकप्राप्तेर्योग्यं न तु तथा परं ब्रह्म तस्य सर्वगतत्वात् । उपासकत्वस्वरूपत्वाच्च ब्रह्मशब्दस्तु मुख्यार्थासंभवेन सामीप्यसंभवात्सत्यलोकमाचष्टे । समीपो हि सत्यलोकः परब्रह्मणः तल्लोकवासिनां तत्त्वज्ञानेऽवश्यंभाविनि सति पुनर्जन्मव्यवधानमन्तरेण मोक्ष्यमाणत्वात् । अत एव स्मृतिराह—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः [प्रविशन्ति} परं पदम् ॥[2]

इत्येवं च सति अमृतत्वश्रुतिः क्रममुक्त्यभिप्राया, तस्मादुत्तरमार्गेण प्राप्यं कार्यं ब्रह्म ।

षष्ठाधिकरणमारचयति—

प्रतीकोपासकान्ब्रह्मलोका[3]न्नयन्ते वा न वा ।
अविशेषश्रुतर(तेरे)तान्ब्रह्मोपासकवन्नयेत् ॥

---

१. ब्र. सू. न्या. पृ. ८७९

२. द्र. ब्र. सू. शां. भा. ४–३–११

३. लोकम्—मु.पा. ब्र.सू.न्या.पृ. ८८९

ब्रह्मक्रतोरभावेन प्रतीकार्हफलश्रवात् ।
न तान्नयति पञ्चाग्निविदो नयति तच्छ्रुतेः ॥[1]

'**स एनान् ब्रह्म गमयति**' [छा. उप. ४-१५-५] इति श्रूयमाणोयम-मानवः । पुरुषो ब्रह्मोपासकवत्प्रतीकोपासकानपि सत्यलोकं प्रापयति, अविशेषश्रवणादिति प्राप्ते ब्रूमः-**तं यद्या(था) यथोपासते तदेव भवति**'[2] इति श्रुतौ ब्रह्मभावनारूपा-क्रतुर्ब्रह्मप्राप्तिहेतुरित्यवगम्यते । न हि प्रतीकोपासना ब्रह्मक्रतुरस्ति येन ते सत्यलोकं गच्छेयुः । किं च यथा प्रतीकमर्वाचीनानि फलानि तेषु श्रूयन्ते '**यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति**' [छा. उप. ७-१-५] इति नाम ब्रह्मै[वे]त्युपासितुः शब्दशास्त्रादिलक्षणे नामविषये स्वातन्त्र्यं भवतीत्यर्थः । कथं तर्हि पंचाग्निविदां प्रतीकोपासकानां सत्यलोकप्राप्तिः वचनबलादिति ब्रूमः-तस्मान्न्यायतो न प्रतीकोपासकान् सत्यलोकं प्रापयन्ति ॥

॥ इति दीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ॥

रहस्यफलप्रसंगादारण्यकसाधर्म्याच्च यज्ञे ब्रह्ममौनादेः कस्यचिदङ्गस्य वैकल्पे प्रायश्चित्ततया व्याहृतिहोमं विधातुं प्रातरनुवाकारंभानन्तरं परिधानीयायाः पुरा ब्रह्मणो मौनस्य विधित्सया तन्मौनं स्तोतुमुपक्रमते-

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदꣳसर्वं पुनाति ।
यदेष यन्निदꣳसर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः ॥

एष ह वा इति ॥ योऽयं वायुः पवते एष वायु-र्यज्ञः । ह वा इति निपातौ प्रसिद्धिद्योतकौ । एष वायुर्यच्चलन्निदं सर्वं जगत्पुना[ति] शोधयति, चलत एव दोषनिरसनस्य दृष्टत्वात् । यद्यस्मादेष वायुर्यत् गच्छन्निदं सर्वं जगत्पुनाति तस्मादेष चलनात्मको वायुरेव यज्ञ अस्त्वेवम् [अस्त्येव ?] ॥

किं तत इत्यत्राह-

तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी ॥ [१] ॥

तस्येति ॥ तस्य सर्वपावकवाय्वात्मकस्य यज्ञस्य मनश्च कर्म याथात्म्यविज्ञाने व्यापृतं चित्तं च मन्त्रोच्चारणे व्यापता वाक्च ये ते वा मनस् वर्तनी मार्गौ, यद्वाचा मनसा च यज्ञस्त्वायमानः प्रवर्तते तस्माद्वाङ्मनसोर्वर्तनीत्वम् ॥

---

[1] ब्र.सू.न्या.पृ. ८८९

[2] द्र. ब्र.सू.शां.भा. ४-३-१५

ततः किमित्यत्राह–

तयोरन्यतरां मनसा सꣳस्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गाताऽन्यतराम् ॥

तयोरिति॥ तयोर्वर्तन्योर्मध्ये अन्यतरां मनोलक्षणां वर्तनीं ब्रह्मा ब्रह्मसंज्ञकर्त्विङ् मनसा कर्म यथात्म्यज्ञाने व्यापृतेन चित्तेन संस्करोति । होता अध्वर्युरुद्गातेति त्रयोप्यर्त्विजो अन्यतरां वागूरूपां वर्तनीं मंत्रोच्चारेण व्यापृतया वाचा संस्कुर्वन्ति । यज्ञे ब्रह्मणा मनसंस्कर्त्तव्यं होत्रादिभिस्त्रिभिर्ऋत्विग्भिर्वाक् संस्कर्तव्येत्यर्थः ॥

अस्त्येवं किं तत इत्यत्राह–

स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥ [२] अन्यतरामेव वर्तनीꣳ सꣳस्कुर्वन्ति[1] हीयतेऽन्यतरासक्ते[2] यथैकपादव्रजन् रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञꣳरिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति स इष्ट्वा पापीयान् भवति ॥ [३] ॥

स यत्रेति ॥ एवमुभयोर्वाङ्मनसयोः संस्कर्तव्यत्वे सति स ब्रह्मा यत्र यस्मिन् यज्ञे प्रातरनुवाके उपाकृते प्रारब्धे सति परिधानीयायाः परिधानीयाख्य ऋचः पुरा पूर्वं प्रातरनुवाकारम्भपरिधानीया ऋक्पाठकालयोरन्तरालकाल इत्यर्थः । व्यववदतिती यदि मौनं परित्यजति तर्हि तदा अन्यतरा वाग्लक्षणां वर्तनीमेव संस्कुर्वन्ति । ऋत्विजोऽन्यतरा ब्रह्मणा संस्क्रियमाणा मनोरूपावर्तनी हीयते विनश्यति । एवं च सति यथैकपात्पुरुषो व्रजन् अध्वानं गच्छन् रिष्यति गन्तुं न शक्नोति । यथा वैकेन चक्रेण वर्तमानो गच्छन् रथो रिष्यति प्राप्तव्यस्थानं प्राप्तुं न शक्नोति । एवमस्य यजमानस्य समनोरूपवर्तिनीरहितो यज्ञो रिष्यति विनश्यति । अङ्गवैकल्यात्फलं साधयितुं न शक्नोतीत्यर्थः । रिष्यन्तं विनश्यन्तं यज्ञमनु यजमानोऽपि रिष्यति यज्ञस्य फलसाधनत्वाभाव(वे) न स्वयं यजमानोऽपि यज्ञफलं न प्राप्नोतीत्यर्थः । स यजमान इष्ट्वा तादृशमङ्गविकलं यज्ञं कृत्वा पापीयान् पापतरो भवति ॥

---

[1] संस्करोति–मु. पा.

व्यतिरेकं दर्शयित्वेदानीमन्वयमाह–

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्म व्यपवदत्युभे[1] एव वर्तनी संꣳस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥ [४] स यथोभयपाद् व्रजन् रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनु प्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान् भवति ॥ [५] ॥

अथेति ॥ अथ पुनरत्र यस्मिन् यज्ञे प्रातरनुवाक उपाकृते सति प्रारब्धे सति परिधानीयाया ऋचः पूर्वं ब्रह्म न व्यपवदि(द)ति, मौनं परित्यजति । तदा इमे एव वर्तनी वाङ्मनसे द्वे अपि वर्तन्यौ वचनव्यत्ययः । ब्रह्मादयः सर्वेऽप्यृत्विंजः संस्कुर्वंतिन्त । अन्यतरा तयोरेका वर्तनी न हीयते । यथोभयपात् पादद्वयवान् पुरुषो व्रजन् गच्छन् न रिष्यति प्राप्तव्यं स्थानं प्राप्नोति इत्यर्थः । यथा चक्रद्वययुक्तो रथ उभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानो गच्छन् न रिष्यति प्राप्तव्यं स्थानं प्राप्नोत्येव। एवमस्य यजमानस्य ब्रह्ममौनलक्षणांग...यज्ञः प्रतितिष्ठति । उभाभ्यां वर्तमानः सन् न विनश्यति स्वीयं फलं साधयितुं शक्नोत्येव । तं प्रतितिष्ठन्तं यज्ञम् अनु यजमानोऽपि प्रतितिष्ठति । स यजमान एवं मौनविज्ञानसहितं ब्रह्मोपेतं यज्ञम् इष्ट्वा श्रेयान् श्रेष्ठो भवति । एवमत्यन्तप्रशास्तत्वा[त्] प्रातरनुवाकारम्भानन्तरं परिधानीयाः पूर्वं ब्रह्मणा मौनं कर्तव्यमिति विधिरनुमीयते । अन्यथा स्तुतेर्वैयर्थ्यप्रसंगात् । तथाहु(र्वृ)द्धाः–'यत्स्तूयते तद्विधीयते' इति ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

एवं प्रशंसया ब्रह्मणा मौनं विधाय तद्वैकल्पे तथा अन्यस्य कस्यचिद्धौत्रादिकर्मवैकल्ये च व्याहृतिहोमं प्रायश्चित्ततया विधातुं व्याहृतीनां लोकदेववेदसारत्वप्रदर्शनेन प्रशंसां करोति–

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानाꣳरसान्प्राबृहद[2]ग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥ [१] स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाꣳरसान् प्राबृहद[2]ग्नेर्ऋचो वायोर्यजूꣳषि

---

[1] व्यवदत्युभे–मु पा.

[2] प्राबृहद०–मु. पा.

सामान्यादित्यात् ॥ [२] स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत् तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्राबृहद् भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ [३] ॥

प्रजापतिर्लोकानिति ॥ प्रजापतिर्ब्रह्मा लोकान् पृथिव्यादीनुद्दिश्य तत्र सारजिघृक्षयाऽभ्यतपत् ध्यानरूपं तपः कृतवान्। तेषां तप्यमानानां लोकानां रसान् सारान् प्राबृहत् उद्धृतवान् इत्यर्थः। पृथिव्या भूलोकात् अग्निं रसं प्राबृहदित्यनुषङ्गः। अन्तरिक्षाद्वायुं रसं दिवो द्युलोकादादित्यं रसम्। स पुनः प्रजापतिरेता अग्न्याद्यास्तिस्रो देवता उद्दिश्य तत्र सारजिघृक्षया अभ्यतपत्। आलोचितवान्। तस्यां तप्यमानानामालोच्यमानानां तिसृणां देवतानां रसान् प्राबृहदुध्रु(द्धृ ?)तवान्। अग्ने ऋचो ऋग्रूपं सारं गृहीतवान् वायोर्यजूंषि सारतया गृहीतवान् आदित्यात्सामानि सारतया गृहीतवान्। स प्रजापतिः पुनरप्येतां ऋगादिरूपां त्रयीं वदेत्रयात्मिकां विद्यामुद्दिश्य तत्र सारजिघृक्षया अभ्यतपत् पर्यालोचितवान्। तस्यांस्तप्यमानायां वेदत्रयरूपायां विद्यायां पर्यालोच्यमानायाः रसान् सारान् प्राबृहदु(द्)धृतवान्। ऋग्भ्यो भूरिति व्याहृतिं सारतया जग्राह। यजुर्भ्यो भुव इति सारतया जग्राह। सामभ्यः स्वरिति जग्राह। यतो लोकदेववेदसारा व्याहृतयः, अतस्तृतीयसारतयात्यन्तप्रशस्ता इत्यर्थः ॥

एवं व्याहृतिप्रशंसां कृत्वेदानीं प्रयाश्चित्ततया व्याहृतिहोमं विधत्ते—

तद्यदृक्तो रिष्येद् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टꣳसंदधाति ॥ [४] अथ यदि यजुष्टो रिष्येद् भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टꣳसंदधाति ॥ [५] अथ यदि सामतोरिष्येत्स्वः स्व(स्वा)र(?)हेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टꣳसंदधाति ॥ [६] ॥

तद्यदिति ॥ तत्तत्र यदि ऋक्तो ऋङ्निमित्तं होतृकर्मभ्रंशनिमित्तमित्यर्थः। रिष्येद्यज्ञः क्षतं प्राप्नुयात्तदा भूः स्वाहेति गार्हपत्येऽग्नौ जुहुयात्तत्र सा प्रायश्चित्तिरित्यर्थः। तदिति क्रियाविशेषणम्। ऋचां रसेन सारेण ऋचां वीर्येणौजसा हुतं स्यादित्यर्थः। तथा च सति ऋचाम् ऋक्संबन्धिनो यज्ञस्य विरिष्टं क्षतं संदधाति प्रतिसंधत्ते। अथ पुनर्यदि यजुष्टो यजुर्निमित्तमध्वर्युकर्मवैकल्ये सति रिष्ययेद्यज्ञः क्षतं प्राप्नुयाद् भुव स्वांहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयात्सा तत्र प्रायश्चित्तिरित्यर्थः। तदिति क्रियाविशेषणम्। तत्कर्म यजुषां रसेन तथा

यजुषां वीर्येण कृतं स्यात्तथा सति यजुषां संबन्धिनो यज्ञस्य क्षतं संदधाति । अथ पुनर्यदि सामतः सामनिमित्तमुद्गातृकर्मवैकल्ये सति यज्ञो रिष्येत्तदा स्वः स्वाहेति आहवनीये जुहुयात्सा तत्र प्रायश्चित्तिस्तत्कर्म साम्नां रसेनैव साम्नां वीर्येणोजसा च हुतं स्यात् । तथा सति साम्नां संबन्धिनो यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति ।

ननु ब्रह्मकर्मवैकल्यनिमित्तं यज्ञस्य रेषे प्रायश्चित्तमत्र नोच्यत इति चेत्–सत्यम् । तथापि ब्रह्मकर्मनिमित्तकर्मरेषे त्रिष्वप्यग्निषु तिसृभिरपि व्याहृतिभिर्जुहुयात् । वेदत्रयं प्रकृत्याथ केन ब्रह्मत्वमित्यनयैव विद्ययेति श्रुतिः । वेदत्रयविहितकर्मपरिज्ञानवतो ब्रह्मत्वप्रतिपादयनात् । न्यायान्तरं वा मृग्यम् ॥

ऋगादिनिमित्तं यज्ञभ्रेषे प्रायश्चित्ततया विहितं व्याहृतिहोमं पुनः पुंसां प्रवृत्तिरुच्चुत्पादनाय स्तौति—

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात् सुवर्णेन रजतꣳरजतेन त्रपु त्रपुणा सीसꣳसीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥ [७] ॥ एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति ॥

तद्यथेति ॥ तत्तेन व्याहृतिः होमने यथा लवणेन क्षारेण टंकणादिना सुंवर्णं हिरण्यं संदध्यात्, सुवर्णकारः खरं सुवर्णं मृदु कुर्यात्तथा सुवर्णेन रजतं संदध्यादिति, अनुषङ्गः । तथा रजतेन त्रपु यथा वा त्रपुणा सीसं यथा वा सीसेन लोहं यथा वा लोहेन दारु तदेव दारु चर्मणा वा संदध्यात् । एवमेवैषां पृथिव्यादीनां लोकानामासामग्न्यादिकानां देवतानामस्या प्रकृतायास्त्रैय्या विद्याया वेदत्रयरूपाया वीर्येण सांख्येनोजसा यज्ञस्य यज्ञसंबन्धी विरिष्टं क्षतं संदधाति । तस्मादिति प्रशस्तो व्याहृतिहोम इत्यर्थः ॥

यथोक्तव्याहृतिहोमप्रायश्चित्तविदं ब्रह्मणं कुर्यादिति विधातुं नानाप्रकारेण स्तौति–

भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति । [८] एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवत्येवंविदꣳह वा एषा ब्रह्माणमनु गाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति ॥ [९] मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाऽभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳ सर्वाꣳश्चर्त्विजोऽभिरक्षति ॥

भेषज इति ॥ यथा रोगार्तः पुमान् सुशिक्षितेन [भेषजेन] रोगरहितो भवति, एवमेष यज्ञो प्रायश्चित्तविदा ब्रह्मणा भेषजकृतो भिषजा कृतेन कर्मणा क्षतरहितो भवतीत्यर्थः। यत्र यस्मिन् यज्ञे एवंवित् यथोक्तभिषग्रूपव्याहृतिहोमप्रायश्चित्तज्ञानवान् ब्रह्मा ऋत्विग् भवति। किं च यत्र यस्मिन् यज्ञे एवं विद्यथोक्तव्याहृतिहोमप्रायश्चित्तविद् ब्रह्मा भवति। एष ह वा सोऽयमेव खलु यज्ञ उदक्प्रवण उदि दिङ् निम्नो दक्षिणोछ्रूयो भवति, उन्नतमार्गप्रतिपत्तिहेतुर्भवतीत्यर्थः ॥

किं च एवंविदं ह वै यथोक्तप्रायश्चित्तविदमेव ब्रह्माणं ऋत्विजं प्रति एषानुगाथा ब्रह्मणस्तुतिपरा विद्यते। यतो यतः कर्मप्रदेशादृत्विजां यज्ञः आवर्तते अतो भवन् प्रवर्तते तद्यज्ञस्य क्षतं मौनाचरणात् मननाद्वा मान...ब्रह्मवक (?) ऋत्विग्व्याहृतिहोमरूपेण प्रतिसंदधानो गच्छतीति।

किं च यथा कुरून् कुरुदेशप्रभवान्योद्धॄन् अश्वा वडवाऽभिरक्षति तथा एवंविद्धैव यथोक्तप्रायश्चित्तज्ञानवानेव ब्रह्मा दज्ञं यजमानं च सर्वांश्च ऋत्विजोऽभिरक्षति तत्कृतदोषाऽपनयनेन पालयतीत्यर्थः ॥

यथोक्तप्रायश्चित्तविदं ब्रह्माणं प्रशस्येदानीं विद्यते—

तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माण(णं) कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ [१०] ॥

तस्मादिति ॥ यस्माद्यथोक्तप्रायश्चित्तविद्ब्रह्माऽतिप्रशस्तः, तस्मादेवंविदमेव यथोक्तव्याहृत्यादिज्ञानवंतमेव ब्रह्माणं कुर्वीत। अनेवंविदं यथोक्तव्याहृत्यादिज्ञानरहितं ब्रह्माणं न कुर्वीत। द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिद्योतनार्था ॥

इति सप्तदश खण्डः ॥१७॥

॥ इति छान्दोग्ये चतुर्थोध्यायः समाप्तः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थं महेश्वरः ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषद्दीपिकायां चतुर्थोऽध्याय समाप्तः ॥

* * *

श्रीसायणाचार्यविरचिता छान्दोग्योपनिषद्दीपिका

॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

यस्य[१] निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

सगुणब्रह्मोपासकानां पुनरावृत्तिरहितमर्चिरादि मार्गं प्रतिपद्येदानीं पञ्चमेऽध्याय[२] पञ्चाग्निविदां[३] विद्यान्तरशीलिनां श्रद्धालूनामूर्ध्वरेतसां च तमेवार्चिमार्गं[म]नूद्य केवलकर्मशीलिनां पुनरावृत्तिसहितो दक्षिणदिक् संबन्धी धूमाधि[४]लक्षणो मार्गस्ततोऽपि कष्टतरः संसारिणां मार्गश्च वैराग्योत्पादनाय प्रतिपद्यते ।

तत्र प्रथमं[५] प्राणोपासनं दर्शयितुं[६] तस्य प्राणस्य ज्येष्ठत्वादि गुणं विधातुमारभते—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति ॥

यो ह वा इति ॥ यो ह वै यः कश्चिदेव पुमान् प्राणं ज्येष्ठं वयसा श्रेष्ठं गुणैरतिशयेनोत्तमं च वेद जानाति स पुमान् ज्येष्ठश्च वयसाधिकश्च श्रेष्ठश्च गुणैरधिकश्च भवति ।

एवमधिकारिविशेषणं गुणफलं दर्शयित्वेदानीं ज्येष्ठत्व[७]श्रेष्ठत्वगुणं[८] प्राणस्य विधत्ते—

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ [१] ॥

---

[१] ‘शुभमस्तु ॥ अविघ्नमस्तु ॥ श्रीगणेशशारदागुरुभ्यो नमः ॥ श्रीरामचन्द्रपरब्रह्मणे नमः । श्री...सदा शिवाय नमः । श्रीः हरि ओम् ।
वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयात् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥’ –अपा–म०

[२] पञ्चमाध्याये०–म.

[३] ‘गृहस्थानाम्’–अपा–म.

[४] धूमादि०–म.

[५] ‘प्रथमम्’ नास्ति–म.

[६] दर्शयति । –म.

[७] ज्येष्ठत्वम्–म.

[८] गुणैः–म.

प्राण इति ॥ प्राणो वाव प्राण एव ज्येष्ठश्च[1] वयसाधिकश्च भवति । गर्भस्थ पुरुषे वागादिभ्यः पूर्वं[2]प्राणस्य वृत्तिलाभात् श्रेष्ठश्च गुणैरभ्यधिकश्च भवति श्रेष्ठत्वमुत्तरत्र[4] प्रतिपाद्यते । ज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्वगुणाभ्यां विशिष्टतया प्राणमुपासीतेत्यर्थः ।

फलदर्शन[3]पुरःसरं गुणान्तरं विधत्ते—

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति ॥

यो ह वा इति ॥ यो ह वै य एव कश्चित्प्राणं वसिष्ठम् आच्छादयितृतमं वसुमत्तमं[5] वा वेद स[6] तथैव स्वानां ज्ञातीनां मध्ये वसिष्ठो भवति ह[7] आच्छादयितृतमो वसुमत्तमो भवत्येव । वसिष्ठत्वकामः प्राणं वाचा समर्पितेन वसिष्ठत्व गुणेन वसिष्ठमु[8]पासीतेत्यर्थः ।

कोऽसौ वसिष्ठ इत्यत्राह-

वाग्वाव वसिष्ठः ॥ [२] ॥

वाग्वावेति ॥ वाग्वाव वागेव वसिष्ठो नाम यस्माल्लोके वाग्मिनः पुरुषाः अन्यान्वसुमत्तानभिभवन्ति तस्माद्वाचो वसिष्ठत्वम् । गुणान्तरं विधत्ते-

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च ॥

यो ह वा इति ॥ यो ह वै य एव पुमान् प्राणं प्रतिष्ठां वेद सोऽस्मिन्[9] लोकेऽमुष्मिंश्च परलोकेऽपि प्रतितिष्ठत्येव । प्रतिष्ठाकामः प्राणं[10] प्रतिष्ठारूपेण गुणेन चक्षुषा समर्पितेन विशिष्ठमुपासीतेत्यर्थः ॥

---

१. 'वागादिभ्यः'–अपा.–म.

२. पूवम्–म.

३. ०मुत्तरत्व–भा.

४. ०प्रदर्शन०–म.

५. वसुसत्तमम्–म.

६. 'स' नास्ति–म

७. 'ह' नास्ति–म

८. वसिष्ठत्वमु०–म.

९. ०स्मिंश्च–म.

१०. 'प्राणम्'–नास्ति-म.

केयं प्रतिष्ठेत्यत्राह–

चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ [३] ॥

चक्षुरिति ॥ प्रतिष्टा नाम चक्षुरेव । यस्माच्चक्षुषा पश्यन् पुमान् समे विषमे च प्रदेशे[1] प्रतितिष्ठति तस्मात्प्रतिष्ठाहेतुत्वाच्चक्षुः प्रतिष्ठा ॥

गुणान्तरं विधत्ते–

यो ह वै संपदं वेद सꣳहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च ॥

यो ह वा इति ॥ यो ह वै यः कश्चित्प्राणं संपदं संपद्गुणकं वेद तस्मा अस्मै देवाश्च देवसंबन्धिनो मानुषाश्च मनुष्यसंबन्धिनश्च कामाः काम्यमानाः पदार्थाः संपद्यन्ते संपत्कामः प्राण[2]श्रोत्रसमर्पितया संपदा विशिष्टमुपासीतेत्यर्थः ॥

केयं संपदित्यत्राह–

श्रोत्रं वाव संपत् ॥ [४] ॥

श्रोत्रमिति ॥ श्रोत्रं वाव श्रोत्रमेव संपत् यस्माच्छ्रोत्रगृहीतेन वेदेनार्थज्ञाने सति अनुष्ठितानि कर्माणि पुंसामभीष्टानि फलानि साधयन्ति । तस्मात्संपद्धेतुत्वाच्छ्रोत्रं संपत् ॥

गुणान्तरं विधत्ते–

यो ह वा आयतनं वेदाऽऽयतनꣳह स्वानां भवति ॥

यो ह वा इति ॥ यो ह वै यः कश्चित्प्राणमायतन–माश्रयं वेद स स्वानां ज्ञातीनामायतनमाश्रयो[3] भवति । आयतनवत्कामः प्राणं मनः समर्पितेनायतनत्वेन गुणेन विशिष्टमुपासीतेत्यर्थः ॥

किमिदमायतनमित्यत्राह–

मनो ह वा आयतनम् ॥ [५] ॥

मनो ह वा इति ॥ मनो ह वा[4] मन एव आयतनं यस्मादिन्द्रियोपहृतानां भोक्त्रर्थानां विषयाणां प्रत्ययरूपाणां मन आश्रयस्तस्मान्मनस आश्रयत्वम् ॥

---

१. समविषमप्रदेशे–म.

२. प्राणम्–म.

३, 'ह'–अपाः–म

४. वै.–भा.

प्राणस्य श्रेष्ठत्वं प्रतिपादयितुमुपक्रमते–

अथ ह प्राणा अहꣳश्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳश्रेयानस्म्यहꣳश्रेयानस्मीति ॥ [६] ॥

अथ ह इति ॥ अथ गुणप्रतिपादनान्तरं प्राणाः यथोक्तगुणकाः सन्तोऽहं श्रेयान् श्रेष्ठोऽस्मि, अहं श्रेयानस्मि इत्यहं श्रेयसि[1] स्वीयश्रेष्ठत्वनिमित्तं व्यूदिरे नानाविधं विरुद्धं वोचुः ॥

ततः किमित्यत्राह–

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः भगवन्को नः श्रेष्ठ इति ॥

ते ह प्राणा इति ॥ ते विवदमानाः प्राणाः स्वस्वश्रेष्ठताविज्ञानाय पितरं जनकं प्रजापतिमेत्य प्राप्य हे भगवन् नोऽस्माकं मध्ये कः श्रेष्ठो गुणैरभ्यधिकः इत्येवमूचुर्ह उक्तवन्तः किल ॥

प्रजापतेर्वचनं दर्शयति–

तान्होवाच–यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठ इति ॥ [७] ॥

तान्होवाचेति ॥ एवं पृष्टः प्रजापतिस्तान् प्रशक्तः[2] प्राणानेवमुवाच[3] । ह[4] हे प्राणा वो युष्माकं मध्ये यस्मिन्नुत्क्रान्ते निर्गते सति इदं पाञ्चभौतिकं परिदृश्यमानं प्राणिनां शरीरं पापिष्ठतरमिव अतिशयेन पापीय इव अशुचित्वेनास्पृश्यं सत् दृश्यते । स वो युष्माकं मध्ये श्रेष्ठ इत्येवमुवाचेति संबन्धः ॥

ततः किमित्यत्राह–

सा ह वागुच्चक्राम ॥

---

१. श्रेयसी–म.

२. प्रश्नकृतः–मः

३. ०मुक्तवान्–म.

४. 'ह' नास्ति–म.

सा हेति ॥ पित्रैवमुक्ते सति प्राणेषु मध्ये सा वसिष्ठत्वगुणवती[1] प्रसिद्धा वाक् उच्चक्राम देहान्निर्गता बभूवेति[2] ॥

ततः किमित्यत्राह–

सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच–कथमशकतर्ते मज्जीवीतुमिति ॥

सा संवत्सरमिति ॥ सा देहान्निर्गता वाक् संवत्सरं प्रोष्य प्रवासं कृत्वा पर्येत्य पुनरागत्य इतरान् प्राणानेवमुवाच हे प्राणा यूयं मदृते मां विना जीवितुमात्मानं धारयितुं कथं केन प्रकारेणाशकत शक्ताः स्मेत्युवाचेति संबन्धः ॥

ततः प्राणाः[3] किमवष(?)दन्नित्याह–

यथाकला[4] अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति ॥

यथाकलेति ॥ यथा अकलाः मूकाः अवदन्तो वाग्व्यापारमभिवदनमकुर्वन्तः प्राणेन प्राणन्त[5]श्चेष्टमानाश्चक्षुषा स्वरूपादिकं पश्यन्तः श्रोत्रेण शब्दं शृण्वन्तो मनसान्तःकरणेन ध्यायन्तः इष्टानिष्टादिकं चिन्तयन्तो लोके वर्तन्ते, एवं वयमप्यजीविष्मेत्युक्तवन्तः इत्यर्थः ॥

ततो वाक् कि[6]मकार्षीदित्यत्राह–

प्रविवेश ह वाक् ॥ [८] ॥

प्रविवेशेति ॥ एवमितरेषु प्राणेषूक्तेषु सत्सु सा वाक् आत्मनः श्रेष्ठत्वं[7] नास्तीति विज्ञाय खिन्ना सती प्रविवेश ह पुनः स्वं व्यापारं[8] कर्तुं देहमनुप्रविष्टेत्यर्थः ॥

---

१. वसिष्ठवती–म.

२. बभूव–म.

३. 'प्राणाः' नास्ति–म.

४. यथा कलाः–मुपा.

५. 'प्राण...णन्त' इति त्रुटितपाठः–भा.

६. 'कि...कार्षीद्'–त्रुटितपाठः–भा.

७. चेष्टा–म.

८. स्वव्यापारान्–म.

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच–कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ॥

चक्षुरिति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

इतरप्राणानां वचनं दर्शयति–

यथान्धाः अपश्यन्त प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति ॥

यथान्धेति ॥ यथा अन्धाः[1] क्वाणाः चक्षुषा रूपादिकमपश्यन्तोऽपि इतरैरिन्द्रियैस्तत्तद्विषयाननुभवन्तो जीवन्ति एवं वयमप्यजीविष्मेत्यवोचन्नित्यर्थः ॥

ततश्चक्षुषः कृत्यं दर्शयति–

प्रविवेश ह चक्षुः ॥ [९] ॥

प्रविवेशेति ॥ ततश्चक्षुरात्मनो निकृष्टत्वं विज्ञाय खिन्नं स्वरूप[2]विज्ञानाय पुनर्देहमविशत् ॥

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच–कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति । यथा बधिरा अशृणवन्त प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ [१०] ॥

श्रोत्रमिति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

अथ मनस इतरेषामिन्द्रियाणां व्यापारं[3] दर्शयति–

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच–कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति । यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः ॥ [११] ॥

---

[1] 'अन्धाः' नास्ति । –भा.

[2] सद्रूप०–भा.

[3] ०मिन्द्रियव्यापारम्–भा.

मन इति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

ततः प्राणः किमकरोदित्यत्राह–

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्[1] यथा सुहयः पड्वीशशंकून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत् ॥

अथ हेति ॥ एवमितरेषु प्राणेषु परीक्ष्य स्वं[2] स्वममुख्यत्वं विज्ञायोपरतेषु सत्सु अथानन्तरं प्राणः स्वश्रेष्ठत्वप्रकटनायोच्चिक्रमिषन् देहान्निर्जगमिषन् । यथा लोके सुहयः श्रेष्ठोऽश्वः पड्वीशशंकुन् पादबंधनकीलान् संखिदेत् परीक्षार्थमारुढेनाश्ववाहकेन कशया ताडितः सन् संखनेत् समुत्पाटयेदित्यर्थः, एवमितरान् वागादीन् समखिदत् समुत्पाटयामास ॥

ततः किमवोचन्नितरे प्राणा इत्यत्राह–

तँ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥ १२ ॥

तं हेति ॥ तं ह एवमन्यान् वागादीन् प्राणानुत्पाटयन्तं मुख्यं प्राणमभिसमेत्येतरे संचालिता वागादयः प्राणान्[3] ऊचुः–हे भगवन्नेधि कृतार्थो भव । यस्मान्नोऽस्माकं मध्ये त्वं श्रेष्ठोऽसि [मा] तस्मादुत्क्रामीः । अस्मदावासभूता अस्मद्देहाद् उत्क्रमणं मा कार्षीरित्योचुरिति संबन्धः ॥

एवं प्राणे श्रेष्ठत्वं प्रतिपाद्येदानीं वागादेर्वसिष्ठत्वादिगुणसंपर्कत्वं दर्शयितुमादौ वाचो[4] वसिष्ठत्वगुणसंपर्कत्वं दर्शयति–

अथ हैनं वागुवाच–यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति ॥

अथ हैनमति ॥ अथ प्राणस्य श्रेष्ठत्वविज्ञानान्तरम् एनं श्रेष्ठत्वसाधकं मुख्यं प्राणं प्रति वागुवाच । यदिति क्रियाविशेषणम् । अहं वसिष्ठोऽस्मि वसिष्ठत्वगुणोऽस्मीति

---

[1] ०षन्स–मु पा.

[2] स्व०–म.

[3] प्राणम्–म.

[4] वायोः–म.

यत् तत्तेन वसिष्ठत्वगुणेन त्वं वसिष्ठः[1] वसिष्ठत्वगुणकोऽसीत्यर्थः । यद्वा तच्छब्दोऽपि क्रियाविशेषणमेव तदानीमुक्तं[2] भवति । त्वदीयोऽसौ वसिष्ठत्वगुणो ज्ञानान्ममेति[3] मयाऽभिमत इति वागुवाचेति संबन्धः ॥

चक्षुषः प्रतिष्ठारूपगुणसंपर्कत्वं दर्शयति–

अथ हैनं चक्षुरुवाच–यदहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठाऽसीति ॥ १३ ॥

अथ हैनमिति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

श्रोत्रस्यापि संपद्रूपगुणसंपर्कत्वं दर्शयति–

अथ हैनꣳश्रोत्रमुवाच–यदहꣳ संपदास्मि त्वं तत्संपदसीति ॥

अथ हैनमिति ॥ तदपि पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

मनस आयतनरूपगुणसंपर्कत्वं दर्शयति–

अथ हैनं मन उवाच–यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥ १४ ॥

अथ हैनमिति ॥ तदपि पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

मुख्यं प्राणं प्रति वागादिभिर्यत्प्रागभिहितं तत्सर्वं युक्तमिति[4] स्वयमेव श्रुतिराह–

न वै वाचो न चक्षूꣳषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते ॥

न वैति ॥ यस्माल्लोके लौकिका आगमज्ञा वा वागादीनि करणानि[5] वाच इति नाचक्षते वाक्तेन क्रोडीकृत्य न व्यवहरन्ति[6] तस्मात्प्राणं प्रति वागादिभिः प्रागभिहितं सर्वं युक्तमित्यर्थः ।

---

[1] वसिष्ठम्–भा.

[2] ०मेवमुक्तं–म.

[3] ज्ञानात्मक एवेति–म.

[4] 'तत्सर्वं युक्तमिति' नास्ति–भा.

[5] कराणि–भा.

[6] 'तथा श्रोत्राणीति श्रोत्रत्वेनापि क्रोडीकृत्य नाचक्षते, तथा मनांसीति मनस्त्वेनापि क्रोडीकृत्य नाचक्षते । किं तर्हि प्राणा इत्येव प्राणत्वेन क्रोडीकृत्यैवाचक्षते व्यवहरन्ति'–अपा.–म.

प्राकरणिकमर्थमुपसंहरति–

प्राणा इत्येवाऽऽचक्षते । प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥ १५ ॥

॥ इति पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥

प्राणो हीति ॥ हि यस्मात् वागादिभिरभिहितं सर्वं मुख्यं प्राणं प्रत्यनुरूपं तस्मात्प्राण एव सर्वाण्येतानि वागादीनि करणानि भवति[1] वागादीनामचेतनानामपि परस्परविवादं प्रजापत्यभिगमनादिकं चेतना[2]वग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वाद्युक्तम् । यद्वा विदुषा-मन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणस्य श्रेष्ठतानिर्धारणार्थं वागादिषु परस्परसंवादादिकं कल्पितवती श्रुतिरित्याचार्या मन्यन्ते[3] ॥२८॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥

प्राणस्य सर्वान्नातृत्वगुणमुपास्यतयाऽऽख्यायिकारूपेण दर्शयति–

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यति । यत्किंचिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुः ॥

स होवचेति ॥ स मुख्यप्राणो वागादीनितरान् प्राणान् प्रति एवमुवाच–हे प्राणा मे मम अन्नमदनीयं किं भविष्यति । तद् ब्रूतेत्येवं पृष्टा इतरे प्राणा आश्वभ्यः श्वभिः सह आशकुनिभ्यः पक्षिभिः सह सर्वप्राणिनां यत्किंचिदिदं लोके प्रसिद्धमन्नजातं तत्सर्वं तवान्नमिति होचुः । इत्यैतिह्य[4]द्योतनार्थः ॥

कल्पिताख्यायिकारूपं परित्यज्य श्रुतिः स्वेन रूपेण प्राणस्य सर्वमन्नं सर्वस्यान्नस्य प्राणोऽत्तेति दर्शयति–

तद्वा एतदनस्यान्नम् ॥

तद्वा इति ॥ यत्किंचित्सर्वैः प्राणिभिरन्नमद्यते तदेतत्सर्वमनस्य प्राणस्यान्नं वै अन्नमेव तस्य सर्वस्य प्राणोऽत्तेत्यर्थः ॥

प्राणस्य सर्वप्रकारचेष्टाव्याप्तिप्रदर्शनाय प्रोपसर्गं परित्यज्य नाम दर्शयति–

अनो ह वै नाम प्रत्यक्षम् ॥

---

१. भवन्त्विति–म.

२. चैतन्यवद०–म.

३. द्र. शां भा. छा. उप. ५–१–१५.

४. इति ह्यैतिह्य०–म.

अनो ह वै इति ॥ प्राणस्य सर्वान्नानामत्तुरन्न इति प्रत्यक्षं नाम साक्षादभिधानम् । अन्यथा प्राद्युपसर्गपूर्वकत्वे हि विशेषमतिप्रदर्शनमेव स्यात् । सर्वान्नानामत्तुर्ग्रहणं न स्यादिति भाव- ॥

सर्वान्नात्तृत्वगुणविशिष्टतया प्राणस्य वेदितारं प्रशंसति–

न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति[1] ॥ [१] ॥

न ह वैति ॥ एवंविदि यथोक्तगुणकप्राणविदि पुरुषे किं च किंचिदपि सर्वैः प्राणिभिरद्यमानमन्नमदनीयं ते भवत्येव । किं तु सर्वमेवैवंविधं न[2] भवतीत्यर्थः । तस्य विदुषः प्राणभूतत्वात्तथा चान्यत्र श्रूयते–**'प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति'** [बृ. उप. १–५–२३] इत्यारभ्य **'एवंविदो ह वा उदेति सूर्य एवंविदस्तमेति[3]'** इति ॥

गुणान्तरमाख्यायिकारूपेण दर्शयति–

स होवाच–किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुः ॥

स होवाचेति ॥ स मुख्यप्राण एवमितरान् प्राणानुवाच हे प्राणा मे मम किं वासो भविष्यतीति तद्यूयं ब्रूतेति पृष्टा वागादयः प्राणा आपोवाच इत्युचुः ह उक्तवन्तः । किलेति श्रुतिः प्राणं प्रष्टारमिव वागादीन् वक्तॄनिव कल्पयित्वा दर्शयति ॥

का आप इत्याशङ्क्य ता आपो दर्शयति–

तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति । लम्भुको ह वासो भवति । अनग्नो ह भवति ॥ [२] ॥

तस्मादिति ॥ यस्मात्प्राणस्यापो वासस्तस्माद्वा तस्मादेव शिष्यन्तो[4] भोक्तुवन्तश्च ब्राह्मणा[5] एतद् कुर्वन्तस्यैव प्रदर्शनं पुरस्तादभोजनात्प्रागुपरिष्टाद्भोजनात् पश्चाच्चाद्भिर्वासस्थानीयैरुदकैः परिदधति । मुख्यस्य प्राणस्य...तथा च[5] सति स प्राणो वासो वाससः विभक्तिव्यत्ययः लम्भुको ह लब्धैव भवति । तेन च वाससो

---

१. भवतीति–मु. पा.

२. ०वंविदि अन्नं न–म.

३. द्र. शां. भा. छा. उप. ५–२–१.

४. आशिष्यन्तो–मा

५. ...५ 'ब्राह्मणा......च' नास्ति–म

लाभेनाननो भवति, उत्तरीयवान् भवति। भोक्ष्यमाणानां भुक्तवतां च ब्राह्मणानां शुद्ध्यर्थं यदाचमनं विहितं तस्मिन्प्राणस्य वास इति दृष्टिं कुर्यादित्यर्थः ॥

तद्यथोक्तं प्राणदर्शनं स्तोतुमुपक्रमते–

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच ॥

तद्धैतदिति ॥ तदेतद्यथोक्तप्राणदर्शनं सत्यकामो जाबालो वैय्याघ्रपद्याय व्याघ्रप्रदः पुत्राय गोश्रृतये गोश्रुतिनामकायोक्त्वा अन्यदपि किंचिदुवाच ॥

किं तदित्यत्राह–

यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ [३] ॥

यद्यपीति ॥ यद्यप्येन[त ?]द्यथोक्तं दर्शनं शुष्काय गतसाराय[1] स्थाणवे
ब्रूयात्प्राणोऽविब्रवीत् । तथाप्यस्मिन् शुष्के स्थाणौ शाखा जायेरन् प्रादुर्भवेयुः । पला-
शानि पत्राण्यपि[2] प्ररोहेयुः उत्पद्यरेन् । यदेतस्य प्राणदर्शनस्य श्रवणमात्रेण शुष्केऽपि
स्थाणावचेतने शाखापर्णादिसंपत्तिस्तदेतद्दर्शनविदि चेतने[3] पुरुषे पुत्रषनाद्यनेकविधा संप-
द्भविष्यतीति किमुवक्तव्यमिति प्राणदर्शनस्तुतिः ॥

यथोक्तप्राणदर्शनविदो महत्त्वप्राप्तिकामस्य मंथनामकं कर्म दर्शयति–

**अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याꣳ रात्रौ
सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावा-
ज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥ [४] वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य
हुत्वा मन्ये संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नवाज्यत्य हुत्वा मन्थे
संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेदायत-
नाय स्वाहेत्यग्नावाजस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥ ५ ॥**

---

[1] गतरसाय-म.

[2] पत्राणि-म.

[3] चेतन०-म.

अथ यदीति ॥ अथोक्तप्राणदर्शनान्तरं यदि महत् महत्त्वं जिगमिषेत् प्राणविन्महत्त्वं प्राप्तुमिच्छेत् तस्येयं मन्थकर्म विधीयत इत्यर्थः । कथम् म(स) महत्त्वकामोऽमावास्यां दर्शे दीक्षित्वा यथा दीक्षितो भूमिशयनादिनियमवान् तपोरूपसत्यवचन[1]-ब्रह्मचर्यादिधर्मवांश्च भवति तद्वद्भूमिशयनादिनियम(मं) सत्यवचनादिरूपं तपश्च कृत्वा न पुनर्दक्षं सर्वं कृत्वेत्यर्थः । दीक्षाविकारत्वाभावान्मन्थनकर्मणः **उपसद्व्रति**[2] । इति श्रुत्यन्तरात्पयोमात्रभक्षणं शुद्धिकारणमस्य स्वीक्रियते । पौर्णमास्यां रात्रौ कर्मारिभेतेति शेषः ।

तद्यथा सर्वौषधस्य सर्वेषां ग्राम्यानामरण्यानां चौषधीनां धान्यानां यावच्छक्यं अल्पमल्पमुपादाय तद्वितुषीकृत्यामुमेव पिष्टं मन्थं मन्थनयोग्यं य दधिमधुनोक्तं साकरे चमसाकारे वौदुम्बरपात्रेऽवस्थितयो दधिमधुनोः प्रक्षिप्योपमथ्याग्रतः स्थापयित्वा ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्याभ्यां मन्त्राभ्यामग्नौ आवसथ्यस्याग्नेरावपस्थाने आज्यस्याज्येन हुत्वा मन्थेन संपातमवनयेत् । तथा पुनः संपदे स्वाहेति मन्त्रेणाग्नावाज्येन हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् । पुनरप्यायतनाय स्वाहेति मंत्रेणाग्नावाज्येन हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥

होमानन्तरं जप्यं मन्त्रं[3] दर्शयति–

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपति 'अमो नामासि' अमो हि ते सर्वमिदं स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ राज्यमाधिपत्यं गमयतु । 'अहमेवेदꣳ सर्वमसानि' इति ॥६॥

अथेति ॥ अथ होमान्तरं प्रतिसृप्य ईषदपसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय धारयित्वा जपति । इमं मन्त्रं जपेत्–हे प्राणात्मक मन्थ त्वममो नामासि भवसि । यस्मादिदं सर्वं परिदृश्यमान[3]जगत् ते तव प्राणभूतस्य मन्थस्य अमासह त्वयैव वर्तते । अतस्त्वममो नामासि इत्यर्थः । यस्माच्च स प्राणरूपो मन्थो वयसा ज्येष्ठो गुणैः श्रेष्ठश्चात एव राजा दीप्तिमान् ॥ अत एवाधिपति सर्वस्य जगतोऽधिष्ठाय पालयिता तस्मात्स एवं गुणविशिष्टः प्राणरूपो मन्थोऽमामामपि ज्यैठयं वयसा ज्येष्ठत्वं श्रेष्ठ्वं गुणैः श्रेष्ठत्वं[4] श्रेष्ठं च राज्यं दीप्तिमत्त्वं चाधिपत्यं सर्वजगत्पालयतृत्वं च गमयतु प्रापयतु । ततश्चाहमेवेदं सर्वं जगदसानि प्राणवद्भवानि । इति शब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतनार्थः ॥

---

१. ०रस्वभाववान्–म.

२. द्र. बृ. आ. उप. ६–३–१

३. परिदृश्यमानम्–म.

४. गुणै श्रेष्ठत्वम्–नास्ति–भ.

समन्त्रकं मन्थभक्षणं दर्शयितुं प्रतिजानीते—

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति ॥

अथ खल्विति ॥ अथ खलु मंत्रजपानन्तरमेवैतया वक्ष्यमाणयर्चा पच्छः पादशः आचामति मन्थं भक्षयेत् ॥

भक्षणप्रकारं दर्शयति—

तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति । वयं देवस्य भोजनमित्याचामति । श्रेष्ठꣳ सर्वधातममित्याचामति । तुरं भगस्य धीमहीति सर्वँ पिबति । निर्णिज्य चमसं कꣳसं[1] वा पश्चादग्नेः संविशति ॥

तत्सवितुरिति ॥ तत्सवितुर्वृणीमह[2] इत्येकेन मन्त्रपदेन मन्थस्य मन्थसंबन्धिनमेकं
ग्रासमाचामति भक्षयेत् । तस्य मन्त्रपादस्यायमर्थः—तन्मन्थभक्षणं सवितुः सर्वस्य जगतः
प्रसवितुः प्राणभूतस्यादित्यस्य[3] वृणीमहे[4] प्रार्थयेमहि येन सावित्रेणानेन भोजनेन वयमा-
दित्यात्मका भवेमेत्याशयः । वयं देवस्य भोजनमिति द्वितीयेन पादेन मन्थस्यैकं ग्रासं
भक्षयति । तस्यायमर्थः-देवस्य सवितुस्तद्भोजनं वयं वृणीमह[5] इति पूर्वेण संबन्धः ।
श्रेष्ठं सर्वधातममिति तृतीयेन पादेन मन्थस्यैकं ग्रासं भक्षयति । श्रेष्ठं प्रशस्यतमं सर्वा-
न्नेभ्यः सर्वधातमं सर्वस्य जगतो धारयितृ चेति भोजनविशेषणम् । तुरं भगस्य धीमहीति
चतुर्थेन पादेन सर्वं चमसं च लेपं[6] चमसं चमसाकारं वा औदुम्बरं मन्थपात्रं निर्णिज्य
प्रक्षाल्य पिबति । तस्य पादस्यायमर्थः—तुरं तूर्णं शीघ्रं भगस्य देवस्य सवितुः स्वरूपं
वयं मन्थभोजनेन संस्कृता शुद्धा सन्तो[7] धीमहि चिन्तयेमहि । यद्वा भगस्य श्रयणीयस्य[8]
श्रियो निदानभूतं महत्त्वं प्राप्तुं मन्थकर्मेण[9] कर्तारो वयं धीमहीत्यर्थः ॥

---

१. कꣳसं चमसम्—मु.पा.

२. वृणीमः—भ. द्र. ऋ. वे. ५-८२-१

३. 'आदित्यस्य'—नास्ति—म.

४. धीमहि—भ.

५. वृणीमः—भ.

६. चमसलेपं—म.

७. 'संस्कृताः शुद्धाः सन्तः'—नास्ति—म.

८. श्रवणीयस्य—म.

९. मन्थकर्मणः—म.

ततः किं कर्तव्यमि[1]त्यत्राह–

पश्चादग्नेः संविशति[2] चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसहः[3]

पश्चादिति ॥ एवमौदुम्बरपात्रचमसलेपं पीत्वाचम्याग्नेः पश्चात्पश्चिमप्रदेशे प्राङ्छिराः सन् वाचंयमो वाग्यतः अप्रसहः यथा दुःस्वप्नेनाभिभूयते तथा नियतः सन् चर्मण्यजिने वा स्थण्डिले केवलायां भूमौ वासं विशेत् ॥

अनुष्ठितस्य कर्मणः सगुणत्वज्ञाने लिङ्गं दर्शयति—

स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ [७]

स यदिति ॥ स एवं नियतो भूत्वा सन्निविष्टो यजमानो यदि स्वप्नेषु स्त्रियम् अविधवां पश्येत् तदा ममेदं कर्म समृद्धं साङ्गमभूदिति विद्यात् ॥

उक्तमर्थं मन्त्रात्मना प्रतिपादयितुं प्रतिज्ञापूर्वकं मन्त्रं दर्शयति—

तदेष श्लोकः–

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियꣳ स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥ [८]

इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीय खण्ड ॥

तदेष श्लोक इति ॥ तत्पूर्वोक्तेऽर्थे एष वक्ष्यमाणश्लोको मन्त्रोऽप्यस्तीति शेषः । यदा काम्येषु फलाभिसंधिना क्रियमाणेषु कर्मसु स्वप्नेषु स्वप्नदर्शनेषु स्त्रियमविधवां पश्यति तत्र तदा तस्मिन् स्त्रियादिविषये प्रशस्ते स्वप्नदर्शने सति समृद्धिं कर्मणां साङ्गत्वेन फलनिष्पादनसामर्थ्यं जानीयात् । द्विरुक्तिः कर्मसमाप्तिद्योतनार्था ॥

अत्र[4] वागादीन्द्रियेषु मुख्यप्राणे चापेक्षिता विचारा द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादे आदित आरभ्याष्टस्वधिकरणेषु दर्शिताः । तद्यथा—

---

[1] 'कर्तव्यम्'–नास्ति.–म.

[2] 'पश्चा...सविशति'–नास्ति.–मु. पा.

[3] प्रसाहः–म.; मु. पा.

[4] 'अत्र'–नास्ति–भ.

तत्र प्रथमाधिकरणमारचयति–

किमिन्द्रियाण्य[१]नादीनि सृज्यन्ते वा परात्मना[२] ।
सृष्टेः प्रागृषिनाम्नैषां सद्भावोक्तेरनादिता[३] ॥
एकबुद्ध्या सर्वबुद्धेर्भौतिकत्वाज्जनिश्रुतेः[४] ॥
उत्पद्यन्तेऽथ[५] सद्भावः प्रागवान्तरसृष्टितः ॥[६]

'ऋषयो वाव तदग्रेऽ[७]सदासी[८]त्के ते ऋषयः' इति श्रुत्या सृष्टेः पूर्वमिन्द्रियाणां सद्भावावगमादनादित्वं तेषामिति प्राप्ते ब्रूमः–एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं तावदिन्द्रियाणामनुत्पत्तौ न घटते। तथा–**'अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्'** [छा. ६–५–४] इति भूतकार्यत्वमिन्द्रियाणां श्रूयते। **'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'** [मु. उप. २–१–३] इति स्पष्टमेवेन्द्रियाणां जन्मश्रवणम्। यत्तु सृष्टेः प्राक् सद्भाववाक्यं तदवान्तरसृष्टिविषयं व्याख्येयम् । तस्मादिन्द्रियाणि परमात्मन उत्पद्यन्ते ।

द्वितीयाधिकरणमारभते·—

सप्तैकादश वाऽक्षाणि सप्त प्राणा इति श्रुतेः ।
सप्त स्युर्मूर्धनिष्ठेषु छिद्रेषु च विशेषणात् ॥
अशीर्षण्यस्य हस्तादेरपि वेदे समीरणात् ।
ज्ञेयान्येकादशाक्षाणि तत्तत्कार्यानुसारतः ॥[१०]

सप्तैवेन्द्रियाणि कुतः। **'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति'** [मु. उप. २–१–८] इति सामान्यश्रुतिः। **'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः'** [तै. सं. ५–१–७–१] इति।

---

[१] 'कि...ण्य' नास्ति–भ.
[२] परात्मनः–भ.
[३] ०दिते–भ.
[४] ०त्वाक्षमिश्रितम्–भ.
[५] ०तेऽद्य–भ.
[६] ब्र. सू. न्या. पृ. ५६५
[७] तेऽग्रे–मु. पा; द्र. ब्र. सू. शां. भा. २–४–१
[८] 'तदाहुः'–अपा.–मु. पा; द्र. ब्र. सू. शां. भा. २–४–१
[९] द्र. ब्र. सू. शां. भा. २–४–१
[१०] ब्र. सू. न्या. पृ. ५७०

शिरोगतसप्तछिद्रनिष्ठत्वेन विशेष[1]त्वाच्चेति प्राप्ते ब्रूमः–शिरोनिष्ठेभ्य इतराणि हस्तादीन्यपि वेदे समीर्यन्ते **'हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च'** [प्र. उप. ४–८] इत्यादिना । तथा च वेदमुखादनिश्चये सति एकादशशब्दापाराणां दर्शनश्रवणाघ्राणास्वादनस्पर्शनाभिवादनादानगमनानन्दमुविसर्गध्यानानापलम्भात्तत्साधनत्वेनेन्द्रियाण्येकादशेत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

तृतीयाधिकरणमारचयति --

व्यापीन्यणूनि वाक्षाणि सांख्या व्यापित्वमूचिरे ।
वृत्तिलाभस्तत्र तत्र देहे कर्म कर्मवशाद्भवेत् ॥

देहस्थवृत्तिमद्भागेष्वेवाक्षत्वं समाप्यताम् ।
उत्क्रान्त्यादिश्रुतेस्तानि ह्यणूनि स्युरदर्शनात् ॥[2]

सर्वगतानामिन्द्रियाणां तत्तच्छरीरावच्छिन्नप्रदेशेषु तत्तज्जीवकर्मफलोपभोगाय वृत्तिलाभो भवतीति । यत्सांख्यैरुक्तं तदयुक्तं कल्पनागौरवप्रसंगात् । देहावच्छिन्नवृत्तिमद्भागैरेवाशेषव्यवहारसिद्धौ किमनया वृत्तिरहितानां सर्वगतानामिन्द्रियाणां कल्पनया । किं च श्रुतिरुत्क्रान्तिगत्यागती जीवस्य प्रतिपादयति । ताश्च सर्वगतस्य जीवस्य[3] न मुख्याः संभवन्तीति मुख्यत्वसिद्ध्यर्थमिन्द्रीयोपाधिः स्वीकृतः यदि सोऽप्युपाधिः सर्वगतः स्यात् । कुत्र तदुत्क्रान्त्यादयो मुख्याः संभवेयुः । तस्मादसर्वगतान्यक्षाणि अणु[4]मध्यमपरिमाणेष्वदृश्यत्वविवक्षया सूत्रकारेणाणुशब्दः प्रयुक्तः ।

चतुर्थाधिकरणभारभति—

मुख्यः प्राणः स्यादनादिर्जायते वा न जायते ।
आनीदिति प्राणश्चेष्टा प्राक्सृष्टेः श्रूयते यतः ॥

आनीदिति ब्रह्मसत्त्वं प्रोक्तं वातनिषेधतनात् ।
एतस्माज्जायते प्राण इत्युक्तेरेष जायते ॥[5]

मुखबिले[6] संचरन् उच्छ्वासकारी वायुर्मुख्यः प्राणः सोऽनादिः । कुतः **'नास-**

---

[1] ०शेषित०–भ.

[2] ब्र. सू. न्या. पृ. ५७४

[3] 'जीवस्य' नास्ति–भ.

[4] 'अणु' नास्ति–भ.

[5] ब्र. सू. न्या पृ. ५७५

[6] मुखानिले–म,

दासीद्' [ऋ. वे. १०-१२९-१] इति सूक्त **'आनीदवातम्'** (ऋ. वे. १०-१२९-२] इत्यानीच्छब्देन सृष्टेः प्राक् प्राणचेष्टाश्रवणादिति प्राप्ते ब्रूमः-आनीच्छब्दो न प्राणे व्यापारं[1] वक्ति, अवातमिति तन्निषेधात् । किं तर्हि? ब्रह्मसत्त्वं ब्रूते **'सदेव सोम्येदमग्र आसीद्'** [छा. उप. ६-२-१] इति सृष्टिप्रागवस्थाप्रतिपादकश्रुत्यन्तरैः समानार्थत्वात् । **'एतस्माज्जायते प्राण'** [मु. उप. २-१-३] इति श्रुतिस्तु स्पष्टमेव प्राणजन्म[2] प्रतिपादयति । तस्मादिन्द्रियवान्[3] प्राणो जायते ।

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

वायुर्वाऽक्षक्रिया वाऽन्यो वा प्राणः श्रुतितोऽनिलः ।
सामान्येन्द्रियवृत्तिर्वा सांख्यैरेवमुदीरणात् ॥
भाति प्राणो वायुनेति भेदोक्तेरेकताश्रुतिः ॥
वायुजत्वेन सामान्यवृत्तिर्नाक्षिष्वतोऽन्यता ॥[4]

बाह्यवायुरेव वेणुरंध्रवन्मुखछिद्रे प्रविश्यावस्थितः प्राणनाम्ना व्यपदिश्यते । न तु प्राणो नाम किञ्चित्तत्त्वान्तरमस्ति । कुतः, **'प्राणः स वायुः'**[5] इति श्रुतेः । अथवा[6] पञ्जरस्था यथा बहवः पक्षिणः स्वयं चलन्तः[7] पञ्जरमपि चालयन्ति, एवमेकादशाक्षाणि स्वस्वव्यापारद्वारा देहं चेष्टयन्ते । तत्र देहं चालनाख्योऽयं सर्वेन्द्रियसाधारणो व्यापारः स प्राणो भविष्यति । तथा च सांख्यैरुक्तम्-**'सामान्या कारणवृत्ति प्राणाद्यावायवः पञ्च'**[8] इति तस्मिनतत्त्वानन्तरं प्राण इति प्राप्ते ब्रूमः-प्राण एव ब्रह्मणः चतुर्थः पादः । **'स वायुना ज्योतिषा भाति'** [छा. उप. ३-१८-१४] इति श्रुत्यन्तरे चतुष्पाद् ब्रह्मणोपासनप्रसङ्गेनाध्यात्मिक-प्राणस्याधिदैविकवायोश्चानुग्राह्यानु[9]ग्राहकरूपेण विभेद स्पष्टमेव निर्दिष्टः । अतो **'यः प्राणः स वायुः'**[10] इत्येकत्वश्रुतिः कार्यकारणयोरभेदवृत्त्या

---

[1] प्राणव्यापारम्-म.

[2] प्राणाजन्म-म.

[3] ०दिन्द्रियवत्-म.

[4] ब्र. सू. न्या. ५७७

[5] द्र. ब्र. सू. शां. भा. २-४-९

[6] 'अथवा' नास्ति-भ.

[7] चरन्तः-म.

[8] ब. सू. शां. भा. २-४-९

[9] ०वायुस्थानानु०-म.

[10] द्र. ब्र. सू. शो. भा. २-४-९

नेतव्या। यत्तु सांख्यैरुक्तं तदसत्, इन्द्रियाणां सामान्यवृत्त्यसंभवात्। पक्षिणां तु चलनान्यनेकविधानि पञ्जरचाल[न]स्यानुकूलानि च। न तु तथेन्द्रियाणां दर्शनश्रवणागमनादिव्यापारा एकविधाः, नापि देहचालनानुकूलाः। तस्मात्तत्वान्तरं प्राण इति परिशिष्यते ॥

षष्ठ्याधिकरणमारचयति—

प्राणोऽयं विभुरन्यो[1] वा विभुः स्यात्प्लुष्युपक्रमे।
हिरण्यगर्भपर्यन्ते सर्वदेहे समोक्तितः[2] ॥

समष्टिव्यष्टिरूपेण विभुरेवाधिदैविकः।
आध्यात्मिकोऽल्प प्राणः स्याददृश्यश्च यथेन्द्रियम् ॥[3]

प्लुषिर्नाम मशकादपि न्यूनकायः पूत्तिकाख्यो जीवः। तमारभ्य सर्वात्मकहिरण्यगर्भपर्यन्तेषु देहेषु तैस्तैर्देहैः समत्वं प्राणस्य श्रूयते। **'समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण'** [बृ. उप. १-३-२२] इति तस्माद्व्यापी प्राण इति प्राप्ते ब्रूमः–आधिदैविकस्य हिरण्यगर्भप्राणस्य समष्टिरूपेण व्यष्टिरूपेण चावस्थिताद्वि[4]भुत्वमस्तु। **'वायुरेषेव व्यष्टिः वायुः समष्टिः** [द्र. बृ. उप. ३-३-२] इति श्रुतेः। तदेव विभुत्वं **'सम प्लुषिणा'** [बृ. उप. १-३-२२] इत्यादि श्रुतावुपासनार्थं प्रपञ्चितम्। आध्यात्मिकस्तु प्राण इन्द्रियवददृश्यः परिच्छिन्नश्च ॥

सप्तमाधिकरणमारचयति—

स्वतन्त्रा देवतन्त्रा वा वागाद्याः स्युः स्वतन्त्रता।
नो चेद्वागादिजो भोगो देवानां स्यान्न चात्मनः ॥

श्रुतमग्न्यादितन्त्रत्वं भोगोऽग्न्यादेस्तु नोचितः।
देवदेहेषु सिद्धत्वाज्जीवो भुंक्ते स्वकर्मणा ॥[5]

वागादीन्यक्षाणि स्वस्वविषये प्रवर्तन्ते, न तु देवतापरतन्त्राणि, अन्यथा वागादिजन्यस्य भोगस्य देवानां भोक्तृत्वान्न जीवात्मनो भोगः स्यादिति प्राप्ते ब्रूमः–**'अग्निर्भूत्वा**

---

[1] ०रल्पो–मु. पा.

[2] समाहितः–म.

[3] ब्र. सू. न्या. पृ. ५८१

[4] ०वस्थानाद्वि०–म.

[5] ब्र. सू. न्या. पृ. ५८२

मुखं प्राविशद् ' [ऐ. उप. २-४] इत्यादौ वागादीनामग्न्याद्यनुगृहीतत्वं श्रूयते। अतो देवपरतन्त्रैवेन्द्रियप्रवृत्तिः। न चैतावता देवानामत्र[1] भोक्तृत्वं महापुण्यफलं[2] देवत्वं प्राप्तानामधमभोगस्यानुचितत्वात्, देवतादेहेषु परमभोगस्य[3] सिद्धत्वाच्च (त् न ?) मनुष्यादिजीवस्तु देव[4]प्रेरितैरप्यक्षैरापादितं भोगं स्वकर्मफलतया भुंक्ते इत्युपपद्यते। तस्माद्देवतापरतन्त्राणीन्द्रियाणि ॥

अष्टमाधिकरणमारचयति—

प्राणस्य वृत्तयोऽक्षाणि प्राणात्तत्त्वान्तराणि वा ।
तद्रूपत्वश्रुतेः प्राणनाम्नोक्तत्वाच्च वृत्तयः ।
श्रमाश्रमादिभेदोक्तेर्गौणे तद्रूपनामनी ।
आलोचकत्वे नान्यानि प्राणो नेताक्षदेहयोः ॥[5]

वागादीन्यक्षाणि मुख्यप्राणवृत्तयो भवितुमर्हन्ति। कुतः, तेषां प्राणस्वरूपत्वश्रवणात्। एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्निति श्रुतेः। किं च प्राणशब्देनैव तानि लोके व्यवह्रीयन्ते। **'म्रियमाणस्य नाऽद्यापि प्राणानिमान्निर्गच्छन्ति'** इत्यादौ। श्रुतिश्च वागादीनां प्राणनामतामाह। **'न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते। प्राण इत्येवाचक्षत'** इति। तस्मान्न प्राणादन्यानि तत्त्वानीति प्राप्ते ब्रूमः–**'तानि मृत्यु श्रमो भूत्वोपयेमे तस्माच्छ्राम्यत्वेव वाक्** [बृ. उप. १–५–२१][6] इत्यादिना वागादीनां स्वस्वविषयेषु श्रान्तिमभिधाय **'अथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणः यः संचरन् श्चासंचरन् न व्यथते'** [बृ. उप. १–५–२१] इति प्राणस्य स्वव्यापारे श्रान्त्यभावमाह। अयमेको भेदः। तथा प्राणसंवादे[7] वातादिनिर्गमनप्रवेशयोः देहस्य मरणोत्थानाभावमभिधाय प्राणनिर्गमनप्रवेशयोर्मरणोत्थाने दर्शयति। अत[8] एवमादि भेदोक्तेर्वागादीनां प्राणरूपत्वं प्राणनामन्यवं च गौणभृत्यन्यायेन प्राणानु-

---

[1] 'अत्र' नास्ति–म.

[2] महाफलम्–म.

[3] म० भोग्यस्य–म.

[4] दैव०–म.

[5] ब्र. सू. न्या. पृ. ५८५

[6] द्र. ब्र. सू. शां. भा. २–४–१९

[7] 'प्राणसंवादे' नास्ति–भ.

[8] 'अतः' नास्ति–म.

वर्तित्वात् व्यवहारभेदश्च भूयानुपलभ्य[1] स्वं स्वं विषयं परिच्छिद्यालोचकानीन्द्रियाणि प्राणस्त्वक्षाणां देहस्य च नेता । तस्माद्बहुवैलक्षण्यात्प्राणात्तत्त्वान्तराणीन्द्रियाणि ।

वसिष्ठत्वादिगुणानां शाखान्तरेषूपसंहारस्तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे पञ्चमाधिकरणे निर्णीतः । तद्यथा–

वसिष्ठत्वाद्यनाहार्यमाहार्यं वैवमित्यतः ।
उक्तस्यैव परामर्शादनाहार्यमनुक्तितः ॥
प्राणद्वारेण बुद्धिस्थं वसिष्ठात्वादि नेतरत् ।
एवंशब्दपरामर्शयोग्यमाहार्यमिष्यते[2] ॥

प्राणविद्यायां छन्दोगाः काण्वाश्च वसिष्ठत्वादिकान् गुणानामनन्ति न त्वैतरेयकौषीतक्यादयः । तत्र वसिष्ठत्वादिकं नोपसंहर्तव्यम् । कुतः, **'य एवं वेद'** इत्येवंशब्देन तत्तच्छाखोक्तगुणानामेव[3] परामर्शादिति प्राप्ते ब्रूमः–उक्तगुणवदनुक्ता अपि गुणाः एवंशब्दपरामर्शयोग्यः । कुतः गुणिनः प्राणस्यैकत्वेन तद्द्वारा गुणानां[4] बुद्धिस्थत्वात् । यथा देवदत्तो मधुरायामध्यापयन् दृष्टः पुनर्माहिष्मत्यामध्यापयन् अध्यापकत्वेनैव प्रत्यभिज्ञायते तथा छन्दोगादौ वसिष्ठत्वादिगुणयुक्ततयोपलब्धः[5] पुनरैतरेयादौ केवल उपलभ्यमानोऽपि तद्गुणविशिष्टतयैव बुद्धिस्थो भवेत् । तस्मादेवंशब्दपरामर्शयोग्यत्वाद्वसिष्ठत्वादिकमुपसंहर्तव्यम् ॥

'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति' [छा. उप. ५-२-१] इत्यस्य वाक्यस्यापदि प्राणरक्षार्थे सर्वान्नाभ्युज्ञाने तात्पर्यं तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे सप्तमाधिकरणे निर्णीतम्। तद्यथा–

सर्वाशनविधिः प्राणविदोऽनुज्ञाथवापदि[6] ।
अपूर्वत्वेन सर्वान्नभुक्तिर्ध्यातुर्विधीयते ॥

---

१. ०लभ्यते–म
२. ब्र. सू. न्या. पृ. ६८९
३. गुणानेव–म.
४. गुणम्–म.
५. ०तया लब्धः–म.
६. ०नुज्ञायतेऽखिलम् । –म.

खाद्यन्न[1]भोजनाशक्तेः शास्त्राच्चाभोज्यवारकात्[2] ।
आपदि प्राणरक्षार्थमेवानुज्ञायतेऽखिलम् ॥[3]

प्राणविद्यायां श्रूयते–‘**न वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति**’ [छा. उप. ५–२–१] इति । प्राणोपासकेन भोक्तुमयोग्यं न किंचिदस्तीत्यर्थः । तत्र सर्वान्नभोजनस्य माना[4]न्तरेण प्राप्तत्वात् प्राणोपासकस्य तद्विधीयत इति प्राप्ते ब्रूमः–यदिदं किं चाश्वभ्य आक्रिमिभ्य आकीटपतंगेभ्यस्तत्तेऽन्नमश्वादिभोज्यमन्नमुपासकस्य भोज्यतया विधेयं न च तद्विधातुं शक्यम् । यतो भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रं सर्वाऽन्नविधौ बाध्येत तस्मादापदि यावता प्राणरक्षा भवति तावन्मात्रं निषिद्धान्नमप्यनुज्ञायते । अत एव चाक्रायणो मुनि प्राणात्यये प्राप्ते पर्युषितान् गजतत्पालकोच्छिष्टान् कुल्माषान् भक्षयित्वा शूद्रभाण्डस्थमुदकं[5] न पपौ । तत्रोभयं[6] च कारणमवोचत् –‘**न वा अजीविष्यमिमानखादन्**’ [छा. उप. १–१०–४] इति ‘**कामो म उदपानम्**’ [छा. उप. १–१०–४] इति । तस्मादापदि सर्वान्नाभ्यनुज्ञानम् ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां पञ्चमाध्यायस्य[7] द्वितीयः खण्डः ॥

शिष्यस्य गुरुं प्रति विनयेनोपास्तेः विद्याप्राप्तिसाधनताम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां दर्शयितुमविनयेनोपासन्नस्य श्वेतकेतोः प्रतिहतं विनयेनोपसन्नस्यारुणेरप्रतिहतिं च सुखावबोधायाख्यायिकारूपेण वक्तुमुपक्रमते–

श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेयः पञ्चालानाꣳ समितिमेयाय ॥

श्वेतकेतुरिति ॥ आरुणेयोऽरुणस्यापत्यमारुणिस्तस्यापत्यमारुणेयः श्वेतकेतुः श्वेतकेतु र्नाम कश्चि[द्] ह इत्यैतिह्यद्योतनार्थः । पञ्चालानां जनपदां समितिं सभामेयाय गतवान् ॥

ततः किमित्यत्राह—

तꣳह प्रवाहणो जैबलिरुवाच । कुमारानु त्वाऽशिषत्पितेति ॥

---

[1] खाद्यन्न–मु.पा.

[2] ०वाचकात्–म; ०वारणम्–भ.

[3] ब्र. सू. न्या. पृ. ८०४

[4] नामानाम०–भ.

[5] शूद्रतां उष्णमुदकम्–भ.

[7] इति सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने पञ्चमाध्यायस्य–भ.

तं हेति ॥ तमागतं श्वेतकेतुं जैवलिर्जीवस्यापत्यं[1] प्र[वाहणो प्रवा]हण नामा राजेवमुवाच–हे कुमार त्वा त्वां पिताऽन्वशिषत् । किमनुशशास पित्रा त्वं किमनुशिष्ट इत्यर्थः । इत्येवमुवाचेति संबन्धः ॥

श्वेतकेतोरुत्तरं दर्शयति—

अनु हि भगव इति ॥ [१]

अनु हीति ॥ अनु हि अनुशिष्टोऽस्मि भगव इति ॥

जैवलेर्वचनं दर्शयति—

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति ॥

वेत्थेति ॥ तं श्वेतकेतुं जैवलिरेवमुवाच–हे श्वेतकेतो यद्यनुशिष्टोऽसि पित्रा तर्हि इतोऽस्माल्लोकादधि ऊर्ध्वं प्रजा यत्प्रयन्ति यद् गच्छन्ति तत्किं वेत्थ जानीष इत्यर्थः ॥

श्वेतकेतोः प्रतिवचनं दर्शयति-

न भगव इति ॥

न भगव इति ॥ यत्त्वया पृष्टं तदहं भगवो हे भगवन् [न] जान इत्येवं प्रत्युवाचदित्यर्थः ॥

पुनर्जैवलेर्वचनं दर्शयति—

वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति ॥

वेत्थेति ॥ एवं तर्हि हे श्वेतकेतो त्वं येन क्रमेण पुनरावर्तन्त इतो गताः पुनरावर्तन्ते[2] तत्किं वेत्थ जानीष इति पृष्टवानित्यर्थः ॥

श्वेतकेतोः प्रतिवचनं दर्शयति—

न भगव इति ॥

न भगव इति ॥ भगवो हे भगवन् नेतदप्यहं न जान इत्युत्तरं दत्तवानित्यर्थः ॥

पुनर्जैवलेः प्रश्नं दर्शयति—

वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति ॥

---

[1] जैवलस्यापत्यम्–म.

[2] 'इतो गताः पुनरावर्तन्ते'–नास्ति–म.

वेत्थेति ॥ तथापि हे श्वेतकेतो देवयानस्य पितृयाणस्य च पथोर्मार्गयोः व्यावर्तनाव्यावर्तनं सह गच्छतामितरेतरवियोगस्थानं[1] किं वेत्थेत्येनं पृष्टवानित्यर्थः ॥

श्वेतकेतोः प्रतिवचनं दर्शयति—

न भगव इति ॥ [२]

न भगव इति ॥ भगवो हे भगवन्नैतदप्यहं न जान इत्युत्तरमब्रवीदित्यर्थः ॥

पुनरपि जैवलेः प्रश्नं दर्शयति—

वेत्थ यथाऽसौ लोको न संपूर्यत ३ इति ॥

वेत्थेति ॥ अपि तर्हि हे श्वेतकेतो यथाऽसौ लोकः पितृसंबन्धी बहुभिरपि प्रयद्भिर्यथा येन कारणेन न संपूर्यन्त न संपूर्यते च तत्किं वेत्थ इति पृष्टवानित्यर्थः ॥

श्वेतकेतोरुत्तरं दर्शयति-

न भगव इति ॥

न भगव इति ॥ भगवो हे भगवन् एतदप्यहं न जान इत्युत्तरमब्रवीदित्यर्थः ।

पुनरपि जैवलेः प्रश्नं दर्शयति—

वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति ॥

वेत्थेति ॥ हे श्वेतकेतो तर्ह्यपि यथा येन प्रकारेण पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां आहुतिनिष्पन्ना आपः पुरुषवचसः पुरुष इत्येवं वाचोऽभिधानं यासामपां ताः पुरुषवचसः पुरुषशब्दवाच्या भवन्तीत्यर्थः । इति वेत्थ किं जानीष इति पृच्छतीत्यर्थः ॥

पुनः श्वेतकेतोरुत्तरं दर्शयति—

नैव भगव इति ॥ [३] ॥

नैव भगव इति ॥ भगवो भगवन्नहमत्र नैव किं च न जान इत्यर्थः ॥

ततो जैवलिः किमुवाचेत्यत्राह—

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात् । कथँ सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति ॥

---

[1] 'स्थानम्'–नास्ति–म.

अथेति ॥ अथ श्वेतकेतुनैवमज्ञाने प्रकटिते सत्यनन्तरं हे श्वेतकेतो एवमज्ञस्त्वं किन्तु कस्मात् सम्यगनुशिष्टोऽस्मीत्यवोचथाः उक्तवानसि । हि यस्माद्यः श्वेतकेतुरिमानि मया पृष्टान्यर्थजातानि न विद्यात् न जानीयात् स कथं सदसि सम्यगनुशिष्टोऽस्मीति ब्रुवीत ब्रूयात् । तस्मादेतदाश्चर्यकारणमित्येवं जैवलिरवोचदित्यर्थः ॥

ततः श्वेतकेतुः किमकार्षीदित्यत्राह—

स हाऽऽयस्तः पितुरर्धमेयाय ॥

स हाऽऽयेति ॥ स श्वेतकेतु पा(आ)यस्तः जैवलिना आयासितो निराकृतः सन् पितुः स्वजनकस्यार्धं स्थानमेयायाजगाम ॥

ततः किमित्यत्राह—

तꣳहोवाचाननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाऽशिषमिति ॥ [४] ॥ पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत् । तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति ॥

तं होवाचेति ॥ गत्वा श्वेतकेतुस्तं पितरमेवमुवाच–मा मामन्वनुशिष्यैवानुशासनमकरवम् इत्यब्रवीत् । यस्मान्मा मां राजन्यबन्धुः राजन्या बान्धवो यस्य स राजन्यबन्धुः दुष्टाभिप्राय इत्यर्थः । पं[च संख्य]कान् प्रश्नान् प्रष्टुं योग्यानर्थान् अप्राक्षीत् । तेषां प्रश्नानां मध्ये एकंचन एकमपि प्रश्नं विवक्तुं विशेषेण वक्तुं विशेषेणार्थतो निर्णेतुमित्यर्थः । नाशकं न शक्तोऽभूवमित्युवाचेति संबन्धः ॥

पुत्रं प्रति वेद[1]—

स होवाच–यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाऽहमेषां नैकञ्चन वेद । यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ॥ [५] ॥

[**स होवाचेति** ॥] जैवलिं प्रति एषां प्रश्नानां मध्येनैकंचनाशकं वक्तुमिति उक्तवानसि तथा मां जानीहि । त्वदीयाज्ञानलिङ्गेन मदीयमप्यज्ञानं जानीहीत्यर्थः । वक्तुं शक्तोऽपि जानन्नपि अयं पिता न वक्तीति मय्यन्यथाभावस्त्वया न कर्तव्य इत्यर्थः । यस्माद्यद्यहमिमान् प्रश्नान् वेदिष्यं ज्ञातवानभविष्यं तर्हि कथं ते तुभ्यं प्रियाय श्रद्धालवे पुत्राय व्रतसमापनकाले नावक्ष्यं नोक्तवानभविष्यमिति । अहमपि म जानाम्येव । तस्मान्मयि विश्वासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥

---

१. पितुः प्रतिवचनं दर्शयति–म.

ततः किमित्यत्राह—

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय ॥

स हेति ॥ एवमुक्त्वा स गौतमगोत्रोत्पन्न आरुणिरर्धं राज्ञोऽर्धं जैवलेः स्थानमेयाय ह जगाम किल ॥

ततो जैवलिः किं कृतवानित्यत्राह—

तस्मै ह प्राप्तायार्हां चकार ॥

तस्मा इति ॥ स जैवलिस्त(स्मै) स्वसमीपं प्राप्ताय गौतमाय अर्हामतिथियोग्यां पूजां चकार ॥

ततो गौतमः किं कृतवानित्यत्राह—

स ह प्रातः सभाग उदेयाय ॥

स हेति ॥ स एव राजा कृतातिथ्यो गौतमस्तस्मिन्नहनि तूष्णीमुषित्वा अपरेद्युः प्रातःकाले सभागे राजनि सभां प्राप्ते सति यद्वा भागो भजनं वा भागेन सेवया सह वर्तमानः स्वीयैः शिष्यैः सेव्यमानः स्वयं गौतम उपेयाय राजानं प्राप्तवान् ॥

ततो राजा किमब्रवीदित्यत्राह—

तꣳ होवाच । मानुषस्य भगवन् गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति ॥

तं होवाचेति ॥ तमेव स्वसमीपं प्रातःकाले प्राप्तं गौतमं राजा जैवलिरुवाच—हे भगवन् गौतम मानुषस्य मनुष्यसंबन्धिनो वित्तस्य धनस्य ग्रामपश्वादिलक्षणस्य संबन्धिनं वरं वृणीतुं योग्यं कामं वृणीथाः प्रार्थयेथा इति ॥

ततो गौतमस्य प्रतिवचनं दर्शयति—

स होवाच—तवैव राजन्मानुषं वित्तम् । यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति ॥

स होवाचेति ॥ स एवं राजा(ज्ञा)प्रार्थितो गौतमः उवाच, ह एवं राजानमब्रवीत्—हे राजन् तवैव इदं मानुषं मनुष्यसंबन्धि ग्रामादिलक्षणं वित्तं तिष्ठत्विति शेषः । ममानेन किं प्रयोजनं स्यात् । कुमारस्य मम पुत्रस्य अन्ते समीपे यामेव यादृशीं पञ्चप्रश्नलक्षणामेव वाचमभाषथाः कथितवानसि तां वाचामेव मे मह्यं ब्रूहि वदेति विद्यैव ममापेक्षिता । अन्यद्वित्तं नापेक्षितमित्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह–

स ह कृच्छ्री बभूव ॥ [६] ॥

स हेति ॥ स एवं गौतमेनोक्तो राजा कृच्छ्री बभूव । अयं ब्राह्मणः, अहं राजा कथमस्मै विद्यां ब्रूयामिति चिन्ताविष्टो बभूवेत्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह–

तꣳह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार ॥

तं हेति ॥ स एवं कृच्छ्रीभूतो राजा विनयेनोपसम्पन्नो ब्राह्मणः प्रत्याख्येयो न भवति। न्यायेन च विद्या वक्तव्येति मन्वानस्तं गौतमं चिरं दीर्घकालं वस मत्समीपे निवासं कुर्वित्येव आज्ञापयांचकार आज्ञापनमकार्षीत् ॥

ततः किमित्यत्राह–

तँ होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं [न] प्राक् त्वत्तु[१] पुरा ब्राह्मणान् गच्छति । तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति ॥

तं हावाचेति ॥ पूर्व(र्वं) श्वेतकेतवे विद्यायाः अनुप्रदानकारणं पश्चादारुणिं चिरं वसेत्युक्तिकारणं च ज्ञापयितुं तं गौतमं राजैवमुवाच–हे गौतम ब्राह्मणोऽपि सन् त्वं मा मां राजानं यथा येन प्रकारेण तामेव पञ्चप्रश्नलक्षणं वाचं मे ब्रूहीत्यवदोक्तवानसि । तत्र मया किंचिद्वक्तव्यमस्ति । यथा येन प्रकारेणेयं विद्या तु त्वत्तः प्राक् ब्राह्मणान् न गच्छति । यतो ब्राह्मणा अनया विद्यया नानुशिष्टवन्तः इत्यर्थः । तस्मादुत एव पुरा पूर्वे सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव अनया वक्ष्यमाणया विद्यया प्रशासन[म]भूत् । क्षत्रियपरंपरयैवेयं विद्या एतावन्तं कालमागतेत्यर्थः । तुभ्यं विद्याप्रदानानन्तरं ब्राह्मणानपि गमिष्यति । अतो मया चिरं वसेति यदुक्तं तत्सोढुमर्हसीत्युवाच इति संबन्धः ॥

ततः किमित्यत्राह–

तस्मै होवाच ॥ [७] ॥

इति पञ्चमाध्यायस्य तृतीयखण्डः ॥

---

१. त्वत्तः–मुपा

तस्मै होयाचेति ॥ एवं क्षमापणं कृत्वा राजा तस्मै गौतमाय उवाच अभीष्टां विद्यामुक्तवान् किल ॥२६॥ [७]

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां[1] पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥

कथमित्याशंक्य विद्यां वक्तुमुपक्रमते–

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित् रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥ [१] तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥ [२]

“इति छान्दोग्ये पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥

असाविति ॥ यदि वेत्थ पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीत्येतस्य प्रश्नस्य परिहारे सति इतरेषां प्रश्नानां परिहरणं सुकरमिति पश्चादुपन्यस्तस्यापि प्रश्नस्यादौ परिहारोऽभिधीयते । ननूक्तः कार्यारम्भोऽग्निहोत्राहुत्योर्वाजसेनेके । तद्यथा– **उत्क्रान्तिराहुत्योर्गतिः प्रतिष्ठा तृप्तिः पुनरावृत्तिर्लोकं प्रत्युत्थाय च** इति । प्रश्नानुपन्यस्य तेषामुपाकरणार्थं ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्ततोऽन्तरिक्षमाविशंस्तेऽन्तरिक्षमाहवनीयं कुर्वाते । वायुं समिदित्यारभ्य पूर्ववद्दिवं तर्पयतस्तत आवर्तेत इमामाविश्य तर्पयित्वा पुरुषमाविशतस्तत्र[2] स्त्रियमाविश्य लोकं प्रत्युत्थायी भवतीति । सत्यं तथापि तत्राग्निहोत्राहुत्योः कार्यारम्भमात्रमेव प्रकारं भवतीत्याभिहितम् । अत्र तु तत्कार्यारम्भमग्निहोत्राहुतिपरिमाणलक्षणं[3] पञ्चविधा विभज्याग्नित्वेनोपासनमुत्तरमार्गप्रतिपत्यर्थमभिधीयत इति महानस्ति विशेषः । हे गौतम असौ वावायं प्रसिद्ध एव द्युलोकेऽग्निहोत्राधार आहवनीय तस्य द्युलोकाख्यस्याग्नेरादित्य एव समित् । यस्मादादित्येनेद्धोऽसौ लोको दीप्यते तस्मादीप्तिसाधनत्वसाम्यादादित्यः समिद्रश्मय आदित्यकिरणा एव । तस्याग्नेर्धूमः समिद्धेऽग्नौ यथा धूम उत्पद्यते तद्वत्समिद्धे सवितरि रश्मयो[4] जायन्त इत्युत्पत्तिसाम्याद्रश्मीनां धूमत्वम् । द्युलोकस्याग्नेरहरेवार्चिर्यथार्चिः प्रकाशते तद्वदहम(र)पि लोक[5]व्यवहारकारणतया

---

१. सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने–म.

२. ततः–म.;

३. परिणामलक्षणं–म.

४. 'रश्मयो' इति नास्ति–म.

५. लोके–म.

प्रकाशत इति प्रकाशसाधर्म्याद[१]हरर्चिरित्युच्यते। चन्द्रमाश्चन्द्र एव तस्याग्नेरङ्गाराः, यथार्चिषः प्रशमेऽङ्गाराणामभिव्यक्तिस्तथाहः प्रशमे सति चन्द्रमसोऽभिव्यक्तिरित्यङ्गारसाम्यादङ्गारता[२] चन्द्रमसः। नक्षत्राण्येव तस्याग्नेर्विस्फुलिङ्गाः। यथाग्नेरवयवाः[३] विस्फुलिङ्गा विप्रकीर्णास्तथा चन्द्रमसोऽवयवा विप्रकीर्णानीति विप्रकीर्णत्वसाधर्म्या(त्) नक्षत्राणां विस्फुलिङ्गता। तस्मिन्यथोक्तलक्षणे एतस्मिन् द्युलोकाख्येऽग्नौ देवाः प्राणाः अग्न्यादिरूपा यजमानाः सन्तः अग्निहोत्राहुतिपरिणामरूपाः सूक्ष्माः आपः श्रद्धारूपेण भाविता श्रद्धेत्युच्यन्ते। पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचषो भवन्तीति प्रश्ने तासां पञ्चरहोम्यत्वश्रवणात्। **'श्रद्धा वा आपः श्रद्धामेवारभ्य प्रणीय प्रचन्ति'** इति श्रुत्यन्तरातराच्च तस्मादब्रूपां श्रद्धां जुह्वति। तस्या अब्रूपायाः श्रद्धाख्याया आहुतेः सोमो राजा संभवति। श्रद्धाशब्दाभिहितानां द्युलोकाग्नौ हुतानामपां परिमाणत्वात्सोमस्य तस्याः संभवः॥

॥ इति दीपकाया[४] पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥

एवं प्रथमहोमं दर्शयित्वा द्वितीयहोमपर्यायं दर्शयति—

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः॥ [१] तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳराजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षꣳ संभवति [२]॥

॥ इति पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥

पर्जन्य इति॥ हे गौतम पर्जन्यो वाव वृष्ट्युपकरणाभिमानी देवः पर्जन्यः स एवाग्निराहवनीयस्थान[५]पर्जन्यस्याख्यस्याग्नेर्वायुरेव समित्। यथा वायुना मुख्योऽग्निः समिद्ध्यते तथा पुरोवातादिना वृष्टिसत्यद्यमाना दृश्यते तस्माद्वायुः समित्। अभ्रमेव[६] तस्याग्नेरर्चिः। यथाग्नेरर्चि र्दीप्तिमत्तद्वद्विद्युदपि दीप्तिमतीति दीप्तिसाम्यादर्चिरिति निर्दिश्यते। यथार्चिषः प्रशमे सत्यङ्गारास्तथा विद्युतः प्रशमे सत्यशनेरुत्पत्तिः। उत्पत्तिसाम्यादङ्गारत्वम्। ह्रादनयो वज्रनिर्घोषा एव विस्फुलिङ्गाः विप्रकीर्णत्वसाधर्म्यात्।

---

१. ०साम्याद०-म.

२. दस्याङ्गारता-म.

३. नक्षत्र्याण्येव तस्याग्नेः-म.

४. सामवेदप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने-म.

५. एवाहवनीयस्थानीयस्य-म.

६. अग्नेर्धूमः, धूमकार्यत्वात् अभ्रस्य धूमत्वेन निर्देशः विद्युद् सौदामिन्येव—अ. पा.-म.

तस्मिन् यथोक्ते एतस्मिन् पर्जन्याख्येऽग्नौ देवाः सोमं राजानं कुर्वन्ति । तस्या सोमरूपायाः आहुतेर्वर्षं संभवति । प्रथमपर्याये श्रद्धाख्यानामपां सोमरूपेण परिणतानां द्वितीये पर्याये पर्जन्याख्यमग्निं प्राप्य वृष्टिरूपेण परिणतत्वात् सोमाद्वर्षं संभवति ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद् व्याख्याने छान्दोग्यदीपिकायां पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

तृतीयहोमपर्यायं दर्शयति–

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥ [१] तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नꣳ संभवति ॥ [२] ॥

॥ इति पञ्चमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥

पृथिवीति ॥हे गौतम पृथिवी वाव पृथिव्येवाग्निराहवनीयस्थानीया । तस्या अग्नित्वेन भावितायाः पृथिव्याः संवत्सर एव समित् । यथा समिद्भिः समिद्धोऽग्निः पाकादिकार्यक्षमो भवति तथा संवत्सरेण कालेन समिद्धा पृथिवी व्रीह्यादिकार्यनिष्पत्तये प्रभवतीति संवत्सरः समित् । आकाश एव पृथिव्याख्यस्याग्नेर्धूमः । यथाग्नेर्धूम उत्थितो दृश्यते तथा पृथिव्या इवोत्थित आकाशो दृश्यते । तत आकाशो धूम इति निर्दिश्यते । रात्रिस्तस्याग्नेरर्चिः । यथा मुख्यस्याग्नेः प्रकाशात्मनः प्रकाशरूपमर्चिरनुरूपं भवति तथा पृथिव्या अप्यप्रकाशरूपायास्तमोरूपा रात्रिरनुरूपा ततोऽर्चिरित्युच्यते । दिश एव तस्याग्ने[1]रङ्गाराः । यथाऽङ्गारा उपशान्तास्तद्वद्दिशापीत्युपशान्तत्वसाधर्म्याद्दिशामङ्गारता । अवान्तरदिशा एव तस्याग्नेर्विस्फुलिङ्गाः क्षुद्रत्वसाधर्म्यात् । तस्मिन्नेतस्मिन्पृथिव्यात्मकेऽग्नौ देवा वर्षं जुह्वति । तस्या वृष्ट्यात्मिकाया आहुतेरन्नं व्रीह्यादिकं संभवति । वृष्टिकार्यत्वाद्व्रीह्यादेः ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां[2] पञ्चमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥

चतुर्थहोमपर्यायं दर्शयति–

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित् प्राणो धूमो जिह्वाऽर्चिश्चक्षुरङ्गाराच्छ्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ [१] तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति ॥ [२] ॥

॥ इति पञ्चमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥

---

[1] 'अग्नेः' नास्ति–म.

[2] सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने–म.

पुरुषो वावेति ॥ हे गौतम पुरुषो वाव पुरुष एवा[1]हवनीयस्थानीयाः स्तस्य पुरुषाख्यस्याग्नेर्वागेव समित् यथा । मुख्योऽग्निः समिद्भिः प्रगल्भो भवति तथा पुरुषोऽपि वाचा प्रगल्भः सन् प्रकाशते । तस्माद्वाक् समित् । प्राणः प्राण एव तस्याग्नेर्धूमः मुख्यत्व साधर्म्यात् । यथाग्ने[2]र्धूमो निर्गच्छति तथा मुखात्प्राणस्य निर्गमनमिति निर्गमनसाम्यात्प्राणस्य धूमता । जिह्वा जिह्वैव तस्याग्ने[3]रर्चिर्लोहितत्वसाधर्म्यात् । चक्षुरेव तस्याग्नेरङ्गारा उभयोस्तैजसत्वेन प्रकाशाश्रयत्वसाधर्म्यात् श्रोत्रमेव विष्फु(स्फु)लिङ्गः । यथा [विष्कु(स्फु)लिङ्गाः विप्रकीर्णास्तद्वच्छ्रोत्रमपि प्रतिपुरुषं विप्रकीर्णमिति विप्रकीर्णत्वसाम्याच्छ्रोत्रस्य विष्फ(स्फु)लिङ्गत्वम् । तस्मिन्नेतस्मिन् पुरुषाख्येऽग्नौ देवाः अन्नं व्रीह्यादिकं जुह्वति । तस्या व्रीह्यादिरूपाया आहुते रेतः संभवति अन्नकार्यत्वाद्रेतसः ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने छान्दोग्य-
दीपिकायां[4] पञ्चमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥

पञ्चमहोमपर्यायं दर्शयति–

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्युपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ [१] तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति । तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ॥ [२] ॥

योषा वावेति ॥ हे गौतम योषा वाव स्त्रिः एव अग्निराहवनीयस्थानीया । तस्या अग्नित्वेन भाविताया[5] उपस्थ एव समित् । समिद्भिर्मुख्योऽग्निः समिध्यते तद्वदुपस्थेनयोषा पुत्राद्युत्पादनाय समर्था भवति । तस्मादुपस्थः[5] समित् । यदिति क्रियाविशेषणम् । योषा यदुपमन्त्रयते संकेतं करोति तस्याग्नेः स धूमः । यथाग्नेर्धूमः संभवति तथा योषाया उपमन्त्रणस्य संभव इत्युत्पत्तिसाम्या(त्)उपमन्त्रणं धूमः । योनिरेव तस्याग्नेरर्चिर्लोहितत्व साम्यादन्तः करोति मैथुनं करोतीति यत् तस्याग्नेस्तेऽङ्गरा अग्निसंबन्धसाम्यात् । अभिनन्दाः सुखलेशा एव तस्याग्नेर्विस्फुलिङ्गाः क्षुद्रत्वसाम्यात्-

---

१. 'अग्निः'–अपा.–म.

२. 'मुख्यत्वसाधर्म्यात् । यथाग्नेः'–नास्ति–म.

३. प्रकाशवत्त्व०–म.

४. 'छान्दोग्यदीपिकायां'–नास्ति–म.

५. 'योषाया'–अपा–म.

तस्मिन् एतस्मिन् योषिद्रूपेऽग्नौ देवा रेतो जुह्वति । तस्या रेतोरूपाया आहुतेर्गर्भः संभवति इति ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां[1] पञ्चमाध्यायस्याष्टमः खण्डः ॥

एवं पञ्चाग्निविद्यामुपदिश्येदानीमुक्तमर्थं चरमप्रश्नोत्तरया योजयति–

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति ॥

इतीति ॥ इति तु एवं तु श्रद्धासोमवर्षान्नरेतोहोमपर्यायक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां सत्यामापोऽग्निहोत्राहुतिसमवादिन्यः आपोयोषाग्निं प्राप्य गर्भीभूताः सत्यः पुरुषवचसः पुरुषशब्दवाच्या भवन्ति । इतिशब्दश्चरमप्रश्नपरिहारसमाप्तिद्योतनार्थः । यद्यपि त्रिवृत्कृतानामेव भूतानां देहादिकार्यारम्भकत्वं तथापि समुदितान्येव भूतानि अप्बहुलानि कर्मसमवायीनि सन्ति । सोमवृष्ट्यन्नरेतोदेहकार्य(र्या)रंभकाणी[2]त्यपां बाहुल्ये न आपः पुरुषवचसो भवन्तीत्युच्यन्ते । दृश्यते चन्द्रादिषु द्रवबाहुल्यम् । यद्यपि शरीरं पार्थिवं तथापि पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां रेतोरूपा आपो गर्भीभूताः सत्यः शरीरमारभन्त इत्यापः पुरुषवचसो भवन्तीत्युच्यत इत्यविरोधः ॥

'वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयती(न्ती)ति' [छा. उप. ५-३-१] एतस्य प्रथमस्य प्रश्नस्य परिहारं दर्शयितुमुपक्रमते–

स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥ [१] ॥

स उल्वेति ॥ सोऽग्निहोत्राहुतिकर्मसमवेतानां श्रद्धाशब्दवाच्यानामपां[3] पञ्चमः परिणामरूपः गर्भ उल्बावृतः उल्वेण जरायुना परिवेष्टितः सन् नव वा दश वा दशसंख्यकान्वा नवसंख्यकान्वा मासान् यावद्वा ततोऽधिककालं न्यूनकालं वा अन्तर्मातुः कुक्षौ मूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्मादिपूर्णे शयित्वा अथानन्तरं जायते । योनिद्वारेण पीड्यमानः सन्नुत्पद्यते । क्षणमपि स्थातुमसह्येषु मूत्रपुरीषादिपरिपूर्णे स्थाने दीर्घकालावस्थानप्रदर्शनं प्राणिनां वैराग्योत्पादनायेति द्रष्टव्यम् ॥

ततः किमित्यत्राह–

स जातो यावदायुषं जीवति ॥

---

[1] सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने–म.

[2] ०देहारम्भकार्याणी०–म.

[3] श्रद्धासमवायाम्–म.

स जात इति ।। स एवमतिक्लेशेन जातः पुरुषो यावदायुषं स्वकीयेन सुकृतेन दुष्कृतेन कर्मणा यावदायुरुपात्तं तावज्जीवति घटीयन्त्रवत्पुनः पुनर्गमनागमनाय धर्माधर्मसाधनं[1] कर्म कुर्वन्प्राणान्धारयति ।।

ततः किमित्यत्राह–

तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति ।।

तं प्रेतमिति ।। तमेव क्षीणायुष्कं प्रेतं मृतं दिष्टं कर्मणा परलोकं प्रति निर्दिष्टं इतोऽस्मात्प्रसिद्धात् स्वीयाद् ग्रामादग्नये अग्न्यर्थं हरन्ति ऋत्विजः पुत्रा वा नयन्ति प्रेतकर्म कर्तुम् ।।

यत एवेतो यतः संभूतो भवति ।। [२] ।।

।। इति छान्दोग्ये पञ्चमाध्यायस्य नवमः खण्डः ।।

यत एवेति ।। यत एवाग्नेः सकाशाच्छ्रद्धाद्याहुतिक्रमेणेत आगतः ततश्च पञ्चभ्योऽग्निभ्यः संभूत उत्पन्नो भवति । तस्या एवाग्नये हरन्तीत्यनुषङ्गः स्वकीययोनिभूतमेवाग्निं प्रापयन्तीत्यर्थः ।।

।। इति छान्दोग्यदीपिकायां[2] पञ्चमाध्यायस्य नवमः खण्डः ।।

अस्त्येवं किं तदिइत्यत्राह–

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्ष[म्] आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान् ।। [१] मासेभ्यः संवत्सरꣳसंवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति ।।

तद्य इति ।। तत्तत्र[3] लोके प्रत्युत्थितानामधिकृतानां गृहमेधिनां मध्ये य इत्थं द्युलोकाद्यग्निभ्यो वयं क्रमेणोत्पन्ना अग्निस्वरूपाः पञ्चाग्न्यात्मान इत्येवं विदुः जानीयुः ।

ननु यच्छब्देन सर्वसाधारणेन ग्र(गृ)हमेधिनामेव कथमुपादानमितिचेत्, न अग्निहोत्राहुतिसंबन्धात् ये चेमेऽरण्य इत्यरण्योपलक्षितानां वैखानसानां[4] परिव्राजकानां च पृथगुपात्तत्वेन परिशेष्याच्च गृहमेधिनामेव यच्छब्देनोपादानस्य न्याय्यत्वात् ।

---

[1] धर्मसाधनम्–म.

[2] सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने–म.

[3] तत्र–म.

[4] 'वैखानसानां'–नास्ति–भ.

ननु ग्रामश्रुत्यारण्यश्रुत्या चानुपलक्षिताः सन्ति कथं पारिशेषत्वमिति चेत्, न पुराणेषु स्मृतिषु य ऊर्ध्वरेतसां नैष्ठिकब्रह्मचारिणामुत्तरमार्गस्य प्रसिद्धत्वात् उपकुर्वाणकां तु स्वाध्यायग्रहणार्थत्वेन विशेषनिर्देशनर्हत्वाच । यद्यप्यूर्ध्वरेतसां ग्र(गृ)हस्थानां च समानमाश्रमित्वं तथापि गृहस्थानां रागद्वेषहिंसाऽनृतवादमायाऽब्रह्मचर्यादिबह्वशुचिकारणैरपूतानामुत्तरेण यथा गमनं न संभवति । ऊर्ध्वरेतसां तु रागद्वेषहिंसाऽनृतवादमायाऽब्रह्मच्चर्याद्यशुचिकारणराहित्येन पूतात्मनामुत्तरेण पथा गमनं युक्तम् ।

तथाहुः पौराणिकाः–

ये प्रजामेषिरेऽधीरा[1]स्ते श्मशानानि भेजिरे ।
ये प्रजां नेषिरे धीरा[2]स्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे ॥[3]

ततो यच्छब्देन परि(शे)ष्याद्ग्र(गृ)हमेधिन एवोपादीयते । ये चेमे प्रसिद्धा अरण्ये वने प्रसिद्धा वानप्रस्थाः परिव्राजिकाश्च नैष्ठिकब्रह्मचारिभिः सह तप इत्येवमुपासते । श्रद्धादधानस्तपस्विनश्च सन्त इत्यर्थः । ये च सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यमुपासते ते सर्वेऽर्चिरभिमानिनीं देवतामभिसंभवन्ति प्रतिपद्यन्ते । अर्चिरभिमानिन्या देवतायाः अहरह[र]भिमानी(नि)नींदेवतामित्येवमन्यदपि व्याख्येयम् ।

प्रा[ग्]व्याख्यानं(तं ?) च प्रतिपादितं च मार्गं स्तौति–

एष वै देवयानः पन्था इति ॥ [२] ॥

इष एति ॥ एषः यथोक्तः पन्थाः मार्गो देवयानः देवैर्गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धः अतोऽतिशयेन प्रशस्त इत्यर्थः । अयं मार्गः सत्यलोकपर्यन्तो नाण्डाद्बहिरित्यवगम्यते । **'यदन्तरा पितरं मातरं च** इति मन्त्रवर्णनात् ॥

एवं पञ्चाग्निविदां ग्र(गृ)हस्थानाम् अरण्यवासिनां वैखानसानां परिव्राजकानां चोर्ध्वरेतसां नैष्ठिकब्रह्मचारिणां चार्चिरादिमार्गं दर्शयित्वेदानीं केवलकर्मिणां धूमादिमार्गं दर्शयति–

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳरात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड् दक्षिण इति[4] मासाꣳस्ताने (न्नै)ते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ [३] मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम् ॥

---

१. 'अधीराः'–नास्ति–भ.

२. 'धीराः'–नास्ति–भ.

३. द्र. छा. उप. शां भा. ५-१०-२

४. दक्षिगैति–मुपा.

अथेति ॥ अर्थार्चिरादिमार्गदर्शनानन्तरं केवलकर्मिणां धूमादिमार्गः प्रदर्श्यन् इमे प्रसिद्धाः गृहमेधिनो ग्रामे वर्तमानाः ग्राम इति विशेषणमरण्यवासिभ्यो वानप्रस्थादिभ्यो व्यावृत्तिप्रदर्शनार्थम् । इष्टापूर्ते इष्टमग्निहोत्रादि श्रुत्युक्तं कर्म. पूर्तं वापीकूपतटाकारामादिकरणं स्मृत्युक्तं कर्म । तदुभयं दत्तं नाम योऽभूतेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो यथाशक्तिः बहिर्वेदिद्रव्यसंविभागः, तत्कृतमित्येवंविधपरिचरणपरित्राणाद्युपासते ते केवलकर्मिणो गृहस्थाः धूमं धूमाभिमानिनीं देवतामभिसंभवन्ति प्राप्नुवन्ति । धूमाद्धूमाभिमानिन्या देवतायाः रात्रिं रात्र्यभिमानिनीं देवतां रात्रेः रात्रिदेवतायाः अपरपक्षं कृष्णपक्षाभिमानिनीं देवतामपरपक्षात् अपरपक्षदेवताया यान् षट्संख्यकान् मासान् दक्षिणां दिशं विभक्तिव्यत्ययः [छान्दसः] । एति सविता प्राप्नोति तान् मासान् दक्षिणायनमासाभिमानिनोदेवताः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । अत्र मासानिति बहुवचनप्रयोगः षण्मासदेवतानां संघवाचित्वविवक्षया । एते केवलकर्मिणः संवत्सरं संवत्सराभिमानिनीं देवतां प्राप्नुवन्ति । यथार्चिरादिमार्गवर्तिनो मासदेवताभ्यः संवत्सराभिमानिनीं देवतां प्रतिपद्यन्ते तद्वद् धूमादिमार्गवर्तिन संवत्सरदेवतां न प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । मासेभ्यो दक्षिणायनमासदेवताभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमभिसंविशन्तीति सर्वत्रानुषङ्गः ॥

कोऽसौ चन्द्रमास्तैः प्राप्यत इत्यत्राह—

एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥ [४] ॥

एष इति ॥ य एषोऽन्तरिक्ष(क्षे) दृश्यते सोमो यश्च ब्राह्मणानां राजा यस्य सोमस्य स्वरूपं देवानामिन्द्रादीनामन्नं शेषभूतम् । ननु देवानामदनीयं मन्त्रान्नशब्देनोच्यन्ते चन्द्रस्य देवभक्ष्यत्वाभावात् । तं यमन्नभूतं सोमं देवा इन्द्रादयो भक्षयन्ति शेषतां प्रापयन्ति स्वोपकरणं कुर्वन्तीत्यर्थः । उपकरणेष्वप्यन्नशब्दप्रयोगः बहुलं दृश्यते । स्त्रियोऽन्नं पशवोऽन्नं विशोऽन्नं राज्ञामित्यादिवाक्येषु । न तत्र तेषां भक्ष्यत्वं विवक्षितम् । तं चन्द्रमसं कर्मिणः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।

ननु यदि कर्मिणो धूमादिमार्गेण गताः देवशेषभावं प्रतिपद्येरन् तर्हि[1] तदर्थं कर्मकारणं न स्यात् । अपुरुषार्थत्वात् शेषभावस्येति चेत्—मैवम् । यद्यपि कर्मिणः शेषभावं भजन्ते तथापि देवैः सह क्रीडमानाः परलोके सुखिनो वर्तन्ते । तेषां सुखोपभोगयोग्यशरीरं[2] चन्द्रमण्डलात्मकमाप्यमकल्मषमा[3]रभ्यते । अतः शेषभावेऽपि पुरुषार्थतासंभवादर्थं कर्मकरणं युक्तमेव ॥

एवं कर्मिणा[4]मूर्ध्वगमनप्रकारं दर्शयित्वेदानीं पुनरावृत्तिप्रकारं दर्शयितुमुपक्रमते—

---

१. 'तर्हि'—नास्ति—म. २. ०योग्यं शरीरम्—न. ३. ०मकल्मषमा०—म. ४. कर्मिणः—म.

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते ॥

तस्मिन्निति ॥ प्रेतकर्मणि अन्त्यायां शरीराहुतावग्नौ हुतायां तेनाग्निना दह्यमाने शरीरे सति तदुत्था आपो[1] धूमेन सह यजमानमाविष्टोर्ध्वं[2] चन्द्रमण्डलं प्राप्य तत्र भोगाय[3] योग्यं शरीरमारभन्ते । तदारब्धेन शरीरेणेष्टापूर्ताद्युपासकाः कर्मफलमुपभुञ्जाना यावत्संपातं संपतन्त्यनेनेति संपातं स्वोपार्जितकर्मणां क्षयः यावत्कर्मणां क्षयस्तावत्तस्मिंश्चन्द्रमण्डले उषित्वा अथानन्तरमेतं वक्ष्यमाणमेवाध्वानं पन्थानं प्राप्य पुनर्निवर्तन्ते[4] । अत्र पुनरिति शब्दप्रयोगः पूर्वमपि बहुधा चन्द्रमण्डलं गता निवृत्ताश्चेति प्रदर्शनार्थम्[5] ॥

कोऽयं मार्गो यं प्राप्य पुनर्निवर्तन्त इत्युच्यत इत्यत्राह–

यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ॥ [५] अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति । त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते ॥

यथेतम् [इति] ॥ यथैतं यथाऽऽगतं तथा निवर्तन्त इत्यर्थः । यद्यप्याकाशमाकाशाद्वायुमित्यादिर्निवृत्तिक्रमः मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमिति गमनक्रममिति वैषम्यमस्ति । तथाप्याकाशप्राप्तेः पृथिवीप्राप्तेश्च तुल्यत्वाद्यथेतमित्युच्यते । न ह्यत्र यथेतं भवति नियम्यते । किन्तु पुनर्निवर्तन्त एवेति नियम्यते । अत उपलक्षणार्थं प्रकारान्तरस्यापि यथैतमिति आकाशं तावच्चन्द्रमण्डलान्निर्गत्येष्टापूर्ताद्युपासकाः प्रतिपद्यन्त इति शेषः । एतदुक्तं भवति–अन्त्यकर्मणि शरीराहुतावग्नौ हुतायां दह्यमानाच्छरीरादुत्थिता या आपः इष्टापूर्ताद्युपासकानां चन्द्रमण्डले भोगयोग्यं शरीरमारभन्ते । तास्तत्र तेषामुपभोगनिमित्तानां कर्मणां क्षये सति अग्निसंयोगाद्घृत[6]संस्थानमिव विलीना अन्तरिक्षस्था आकाशभूतो इव सूक्ष्मा भवन्तीति । ततः आकाशाद्वायुं प्रतिपद्यन्ते । ततः स इष्टापूर्ताद्युपासकः क्षीणकर्मा वायुर्भूत्वा वाय्वात्मकं प्रतिपद्य पश्चाद्धूमो भवति । ततो धूमो भूत्वा अभ्रं अभ्ररणमात्रात्मका भवति । तत अभ्रं भूत्वा पश्चान्मेघः सेचनसमर्थरूपो भवति । मेघो भूत्वाथ प्रवर्षति धारारूपेण प्रवर्षणकर्मा भवति । पश्चात् इष्टापूर्ताद्युपासकाः प्रक्षीणकर्माणः इह भूम्यां व्रीह्यवा व्रीहयः प्रसिद्धाः यवाः दीर्घशूका ओषधिवनस्पतयः ओषध्यः फलपाकान्ताः वनस्पतयः पनसादयस्तिलभाषाः, इत्येवं प्रकारा जायन्ते ॥

---

[1] तदुत्थाप्यापो–म. [2] यजमानावेष्टनोर्ध्वम्–म. [3] उपभोगाय–म.
[4] पुनरावर्तन्ते–म. [5] प्रदर्शनार्थः–म. [6] 'घृत'–नास्ति–म.

ततः किमित्यत्राह–

अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम् ॥

अतो वा इति ॥ [1]'अतोऽस्माद् व्रीहियवतिलमाषादि प्रादुर्भावा दुर्निष्प्रपतरः दुर्निष्प्रपत्तरम् । एकस्य तकारस्य लोपश्छान्दसः'[1] । व्रीहियवादिभावो दुर्निष्प्रपतः । ततोऽप्यतिशयेन दुष्प्रपतो दुर्निष्प्रपतरो रेतःसिग्देहसंवन्धः । तं दुर्निर्गमतरं रेतःसिग्देहसंबन्धं प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥

कथमित्यत्राह–

यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥ [६] ॥

यो य इति ॥ हि यस्माद्यो यः पुमानन्नं व्रीहियवादिम[2]नुशयिति संबन्धमत्ति भुक्ते तत्रापि यः पुमान् रेतः सिञ्चति ऋतुकालेषु योषिद्योनौ रेतो विमुञ्चति तद्भूय एव तदाकृतिरेव रेतोरूपेण योषिद्गर्भाशये प्रविष्टोऽनुशयी रेतःसिगाकृतिरेव भवति । तथा च श्रुत्यन्तरे पञ्य(ठ्य)ते–'**सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतम्**' [ऐ. उप. ४–१] इति । तस्माद्व्रीहियवादिभावमापनन्नस्य रेतःसिग्भावो युक्त इत्यर्थः ॥

ततः किमिन्यत्राह –

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा ॥

तदिति ॥ तत्तत्र तेष्वनुशयिषु ये पुनरहिलोके रमणीयचरणाः शोभनचरणशीलाः पुण्यरूपेणानुशयेन कर्मणोपलक्षिता इत्यर्थः । ते पुण्येनानुशयेन कर्मणा चन्द्रमण्डले भुक्तशेषेणाभ्याशो ह क्षिप्रमेव । यच्छब्दः क्रियां विशिनष्टि । रमणीयं क्रौर्यादिदोषरहितां योनिमापद्येरेन् प्राप्नुयुः । तस्या एव प्रदर्शनं ब्राह्मणयोनिमिति । आसां मध्ये स्वकर्मानुरूपामन्यां योनिं प्रपद्येरन्नित्यर्थः ॥

एवं पुण्यकृतामिह लोके विशिष्टदेहसंबन्धं दर्शयित्वा पापकृतामशुभदेहसंबन्धं दर्शयति–

यथ ह इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ [७] ॥

---

[1] १...१. 'अतो....च्छान्दसः'–नास्ति–म.

[2] २. ०वादिरूपमन्नं–म.

अथेति ।। अथेहलोके पुण्यकृतां देहसंबन्ध प्रदर्शनानन्तरं पापकृतां देहसंबन्ध उच्यत इत्यर्थः । ये पुनरिह[1] लोके कपूयच्चरणा अशुभचरणशीलाः अशुभानुशया इत्यर्थः । ते त्वभ्याशो ह क्षिप्रमेव कपूयां जुगुप्सितामशुभां योनिमापद्यरेन् । तस्या एव प्रदर्शनं श्वयोनिं शुनां योनिं सूकरयोनिं वराहयोनिं वा चण्डालयोनिमन्त्यजयोनिं वा स्वकर्मानुरूपामेकां योनिं प्रपद्येरन्नित्यर्थः ।।

एवं पञ्चाग्निविदां ग्र(गृ)हमेधिनाम् अरण्यवासिनां वानप्रस्थानां परिव्राजकानां चोर्ध्वरेतसां नैष्ठिकब्रह्मचारिणां चार्चिरादिमार्गं केवलेष्टापूर्तादिकारिणां गृहस्थानां धूमादिमार्गं च प्रतिपाद्येदानीं प्राणिनां वैराग्योत्पादनाय केवलसंसारिणां कष्टां तृतीयां गतिं दर्शयति–

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राणि भूतान्यसकृदावर्तीनि[2] भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳ स्थानम् ॥

अथैतयोरिति ।। अथार्चिरादिधूमादिलक्षणगतिद्वयप्रतिपादनानन्तरं तृतीयागतिः प्रतिपाद्यत इति शेषः । ये पुनर्ग्र(र्गृ)हस्था अपि सन्तो द्विजातयो न पञ्चाग्निविद्यां सेवन्ते नापीष्टापूर्तादिकं कर्म । त एतयोर्यथोक्तयोः पथोरर्चिरादिधूमादिलक्षणयोर्मार्गयोः कतरेण च न अन्यतरेणापि मार्गेण न यान्ति इति शेषः । किन्तु तानि प्रसिद्धानीमान्येतानि दुःखसागरे प्रविश्य परिदृश्यमानानि[3] क्षुद्राणि दंशमशकादिरूपाणि असकृदावर्तीनि[4] पुनः पुनर्गमनागमनवन्तिनी भूतानि प्राणिजातानि भवन्ति । अतः पुनर्जायन्ते म्रियन्ते च । जननमरणसंततेरनुकरणमिदं जायस्व म्रियस्वेति । यद्वा पुरुषादिव्यत्ययः । जननमरणाभ्यामेव तेषां कालो गच्छति न पुनरूपभोगेनेत्यर्थः । इत्येवमेतत् क्षुद्रजन्तुरूपं तृतीयं यथोक्तावर्चिरादिधूमादिमार्गावपेक्ष्य तृतीयं स्थानं स्थितिः संसारिणां गतिरित्यर्थ ।।

परिहर्तव्यतयोपस्थितानां पञ्चानां प्रश्नानां चतुरः प्रश्नान् परिहृत्येदानीं **‘वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत’** [छा. उप. ५-३-३] इत्येतस्य प्रश्नस्य परिहारं दर्शयति–

तेनासौ लोको न संपूर्यते ॥

तेनासाविति ॥ येन कारणेन दक्षिणमार्गगामिनोऽपि पुनरागच्छति ज्ञानकर्मणोरनधिकृताः केवलसंज्ञाधारिणो दक्षिणमार्गेणैव गच्छन्ति तेन कारणेनासौ पितृलोको न संपूर्यते । तदेवं पञ्चमः प्रश्नः पञ्चविद्याप्रदर्शनेनापाकृतः । प्रथमो दक्षिणोत्तरमार्गप्रदर्शनेन

---

१. ‘ये पुनरिह’–नास्ति–भ. २. क्षुद्रण्यसकृदावर्तीनि भूतानि–मुपा; क्षुद्राण्यसकृदावृत्तीनि भूतानि–म. ३. ‘परिदृश्यमानानि’–नास्ति–म. ४. असकृदावृत्तीनि–म.

द्वितीयस्तु क्षीणकर्मणां चन्द्रमण्डलादवरोहप्रतिपादनेन तृतीयस्तु दक्षिणोत्तरमार्गाभ्यां गच्छतां पुनः संयुज्य षण्मासदेवताः प्राप्तानां केषांचित् संवत्सर देवत[1]प्राप्तिरन्येषां पितृलोक प्राप्तिरित्युक्तया निराकृतः । चतुर्थस्तु तेनासौ लोको न संपूर्यत इति साक्षादभिधानेनापाकृत इति द्रष्टव्यम् ॥

एवं कष्टां तृतीयां संसारगतिं दर्शयित्वा तत्र जुगुप्सा कर्तव्येत्याह–

तस्माद् जुगुप्सेत ॥

तस्मायिति ॥ यस्मादेषा संसारगतिर्दुःखबहुलतया कष्टा तस्मादेतां संसारगतिं जुगुप्सेत बीभत्सेत । मा भून्मैवंविधे घोर[2]संसारसागरे निपात इति विरक्तो भवेदित्यर्थः ।

यथोक्तां पञ्चाग्निविद्यां स्तोतुं पञ्चमहापातकिनो मन्त्ररूपेण दर्शयितुमेवमाम्नायते–

तदेष श्लोकः ॥ [८]

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा च ।
एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्च सहाचरन्[3] स्तैरिति ॥ [९] ॥

तदेषश्श्लोक इति ॥ तदेतस्मिन् वक्ष्यमाणे[4] अर्थे एष श्लोको मन्त्रोऽस्ति । हिरण्यस्य सुवर्णस्य स्तेनो हर्ता ब्राह्मणः, सुरां पिबन् सुरायाः पाता च गुरोस्तल्पं गुरुदारानावसन् गच्छंश्च, ब्रह्मण ब्राह्मणस्य हर्ता (हन्ता ?) चेत्येते चत्वारः पतन्ति महापातकिनो भवन्ति । तैश्चतुर्भिः सहाचरन् संवत्सरं व्यवहरन् पञ्चमोऽपि महापातकी भवति ॥

एवं महापातकिनी दर्शयित्वेदानीं पञ्चाग्निविद्यां स्तौति–

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेद न सह तैरप्याचरन् पाप्मना लिप्यते । शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद एवं वेद ॥ [१०]

इति दशमः खण्डः ॥

अथ हेति ॥ अथशब्दो वाक्यालंकारार्थः । यः पुमानेतान् यथोक्तान्पञ्चाग्नीनेवं यथोक्तक्रमेण वेद जानाति स तैर्महापातकीभिः सहाचरन् संवत्सरं व्यवहरन्नपि पाप्मना एनसा न लिप्यते ह न संबध्येत एव । किन्तु शुद्ध एव पञ्चाग्निविद्यादर्शनेन अत एव पूतः पावितः यस्मात्पूतः, तस्मात्पुण्यलोकः पुण्यात्मकः प्राजापत्यादिर्लोको यस्यासौ पुण्य लोको भवति । यश्च पुमानेवं यथोक्तं पञ्चभिः प्रश्नैः पृष्टमर्थं वेद सोऽप्येवं शुद्धः पूतः पुण्यलोकश्च भवतीयर्थः । द्विरुक्तिः समस्तप्रश्ननिर्णयसमाप्तिद्योतनार्था ॥

---

१. देवतानाम्–म. २. घोरे–नास्ति म. ३. ०श्चाऽऽचरन्–मु. पा. ४. गुह्यमाणे–म.

अत्रापेक्षिता विचाराः तृतीयाध्यायस्य प्रथमपादे निर्णीताः । तद्यथा प्रथमाधिकरणमारचयति–

आवेष्टितो[1] वेष्टितो वा भूतसूक्ष्मैः पुमान् व्रजेत् ।
भूतानां सुलभत्वेन यात्यवेष्टित एव सः ॥
बीजानां दुर्लभत्वेन निराधारेन्द्रियागतेः ।
पञ्चमाहुतियुक्तेश्च जीवस्तैर्याति वेष्टितः ॥[2]

पूर्वपादप्रतिपादितप्राणोपाधिको जीवः शरीरान्तरप्राप्तिवेलायामितो निर्गच्छन् भाविशरीरैः बीजैः सूक्ष्मभूतैरावेष्टितो[3] गच्छति । पञ्चभूतानां सर्वत्र सुलभत्वेन इतो नयनस्य निरर्थकत्वादिति प्राप्ते ब्रूमः–भूतमात्रस्य सुलभत्वेऽपि देहबीजानि न सर्वत्र सुलभानि तस्मादितो नेतव्यानि । किं च बीजोपाधिभूतेन्द्रियाणां भूताधारमन्तरेण परलोके गमनं न संभवति जीव[4]दशायामदर्शनात् । श्रुतिश्चैवमाह–‘**पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसा[सो] भवन्ति** ।’ [छा.उप. ५–३–३] इति । अस्यायमर्थः–द्युलोकपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषितः पञ्चपदार्थाः उपासनायाग्नित्वेन परिकल्पिताः । तेष्वग्निषु स्वर्गाय गच्छन् पुनरागच्छंश्च जीवः आहुतिरूपेण[5] परिकल्पितः । इष्टापूर्तकारी जीवः स्वर्गमारुह्योपभोगेन कर्मणि क्षीणे पर्जन्ये पतित्वा वृष्टिरूपेण भूमिं प्राप्यान्नद्वारेण पुरुषं प्राप्य रेतोद्वारेण योषितं प्रविश्य शरीरं गृह्णाति । ततो पूशब्दलक्षितानि[6] देहबीजानि पञ्चभूतानि जीवेन सह द्युलोकादिपञ्चस्थानेषु गत्वा पञ्चमे स्थाने शरीरभावं प्राप्य पुरुषशब्दवाच्यानि भवन्तीति । तस्माद्बीजैर्वेष्टित एव परलोके गच्छति ॥

द्वितीयाधिकरणमारचयति–

स्वर्गावरोही क्षीणानुशयः सानुशयोऽथवा ।
यावत्संपातवचनात्क्षीणानुशय यि(इ)ष्यते ॥
जातमात्रस्य भोगित्वादैकभव्य[7]विरोधतः ॥
चरणश्रुतितः सा[नु]शयः कर्मान्तरैरयम् ॥[8]

---

[1] आविष्टितो–म.

[2] ब्रा. सू. न्या. पृ. ५९३

[3] आविष्टितो–म.

[4] जीवन०–म.

[5] आहुतित्वेन–म.

[6] प्राज्ञोपलक्षितानि–म.

[7] ०दैकभव्ये–मुपा. एकराध०–म.

[8] ब्र.सू.न्या. पृ. ६०३

स्वर्गमुपभोज्य ततोऽवरोहन् पुरुषो निरनुशय इहानुगच्छति । अनुशयो नाम कर्मशेषः । जीवमनुशेत इति व्युत्पत्तेः । न स्वर्गादवरोहतोऽनुशयः संभवति । अनुशयफलस्य सर्वस्य तत्रैवोपभुक्तत्वात् । अत एवावरोहश्रुतिः **'यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तंत(न्त)'** [छा. उप. ५-१०-५] इत्यत आह । संपतत्यनेन कर्मणा स्वर्गमिति संपातः कर्मसमूहः । संपातमनतिक्रम्य यावत्संपातः निःशेषं कर्मफलं भोक्तुं तत्रोषित्वेत्यर्थः । तस्मात्कर्मशेषरहितोऽवरोहतीति प्राप्ते ब्रूमः—स्वर्गार्थमनुष्ठितस्य कर्मणः साकल्येनोपभोगेऽप्यनुपभुक्तानि संचितानि पुण्यपापानि बहून्यस्य विद्यन्ते । अन्यथा सद्यः समुत्पन्नस्य बालस्य इह जन्मन्यनुष्ठितयोर्धर्माधर्मयोरभावात्सुखदुःखोपभोगो न स्यात् । यत्तत्र[1] कैश्चिदुच्यते एकस्मिन् जन्मन्यनुष्ठितः कर्मसमूहः उत्तरस्मिन्नेव जन्मन्युपभोगेन क्षप्यत[2]इति तदसत् । इन्द्रादिपर(द)प्रापकानामश्वमेधादीनां विडवराहादिदेहप्रापकाणां पापानां च युगपदुपभोगासंभवेनैकभाविकः कर्मानुशय इति मतस्य विरुद्धत्वात् । ततश्चैकस्मिन् जन्मनानुष्ठितानां मध्ये एकस्मिंश्चिज्ज्योतिष्टोमादिकर्मणि भुक्तेऽपि कुतो न कर्मान्तराण्यवशिष्येरन् । यावत्संपातशब्दश्च स्वर्गप्रद[3]कर्मविषयो न त्वितरकर्मविषयः । श्रुतिः च स्वर्गादवरुह्य पञ्चम्यामाहुतौ शरीरं गृह्णतां पुरुषाणां तद्धेत्वोः पुण्यपापयोः सद्भावं दर्शयति । **'य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा । अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ।'** [छा. उप. ५-१०-७] इति रमणीयचरणाः सुकृतकर्माणः कपूयचरणाः पापकर्माणः अभ्याशो हयदित्यव्ययसमुदायस्य क्षिप्रत्वमर्थः तदेवं सानुशयाः अवरोहन्तीति स्थितम् ॥

तृतीयाधिकरणमारचयति—

चन्द्रं याति न वा पापी ते सर्व इति वाक्यतः ।
पञ्चमाहुतिलाभार्थं भोगाभावेऽपि यात्यसौ ॥
भोगार्थमेव गमन[4]माहुतिर्व्यभिचारिणी ।
सर्वश्रुतिः सुकृती ति)नां याम्ये पापगतिः श्रुताः ॥[5]

---

[1] यत्तु–म.

[2] क्षीयत–म.

[3] स्वर्गफल०–म.

[4] ०मेवागमन०–मु.पा.

[5] ब्र.सू.न्या. पृ ६१०

'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' [कौषी. उप. १-२] इति श्रवणात्, चन्द्रलोकाख्ये स्वर्गे पापिनो गतिरस्ति । यद्यपि पापिनः तत्र भोगो न संभवति तथापि पुनरत्रागत्य शरीरग्रहणे पञ्चमाहुतिलाभाय गतिरभ्युपयेति(दिति)प्राप्ते ब्रूमः-भोगार्थमेव हि स्वर्गगमनं न पञ्चमाहुतिलाभार्थं पञ्चमाहुते[:] र्व्यभिचारित्वात् । द्रोणादीनां योषिदाहुत्यभावात्सीतादीनां पुरुषाहुतेरप्यभावात् **'ते सर्वे गच्छन्ति'** [कौषी. उप. १।२] इति श्रुतिस्तु सुकृतिविषया पापी(पि)नां तु यमलोके गतिः श्रुता । **'वैवस्वतं संगमनं जनानां हविषा दुवस्यत'**[1] इति पापिजनैर्गन्तव्यं यमं प्रीणयतेत्यर्थः । तस्मान्न पापिनां स्वर्गे गतिः ॥

चतुर्थाधिकरणमारचयति-

विपदादिस्वरूपत्वं तत्साम्यं वावरोहिणः ।
वायुर्भूत्वेत्यादिवाक्यात्तत्तद्भावं प्रपद्यते ॥
खवत्सूक्ष्मो वायुवशो युक्तौ धूमादिभिर्भवेत् ।
अन्यस्यान्यस्वरूपत्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥[2]

स्वर्गादवरोहप्रकार एवं श्रूयते-**'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वा अभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति'** [छा. उप. ५-१०-५] इति । यथेतं यथागतं तथेत्यर्थः । तत्र स्वर्गादवरोहतो जीवस्याकाशादिस्वरूपत्वं भवति । वायुभूत्वेत्यादितत्तद्भाविप्रतिपत्तेः श्रुतत्वादिति प्राप्ते ब्रूमः-अन्यथान्योन्यरूपत्वसंभवादाकाशप्राप्तिर्नामाकाशवत्सौक्ष्म्यं विवक्षितम् । वायुर्भावो वायुवशता धूमादिभावो धूमादिभिः संपर्क इति निर्णयः ॥

पञ्चमाधिकरणमारचयति-

व्रीह्यादेः प्राग्विलम्बेन त्वरया वाऽवरोहति ।
तत्रानियम एव स्यान्नियामकविवर्जनात् ॥
दुःखं व्रीह्यादिनिर्याणमिति तत्र विशेषितः ।
विलम्बस्तेन पूर्वत्र त्वरार्थादवसीयते ॥[3]

प्रवर्षणानन्तरं व्रीह्यादिभावमाम्नायते-**'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा'** [छा. उप. ५-१०-६] इति प्रागेतस्माद्व्रीह्यादिभावादाकाशादौ विलम्बत्वरयोः नियामकाभावादनियतिरिति प्राप्ते ब्रूमः-व्रीह्यादिभावमभिधायानन्तरम् **'अतो वै दुर्निष्प्रपतरम्'** [छा. उप. ५-१०-६] इति व्रीह्यादिभावन्निघ्नं दुशकमिति ब्रुवन्ती श्रुतिः व्रीह्यादौ विलम्बं विशेषयति तद्रोहणार्थात्पूर्वत्र[4] त्वरेत्यवसीयते ॥

---

[1] द्र.ब्र.सू. शां.भा. ३-३-१३
[2] ब्र.सू.न्या. पृ. ६१५
[3] ब्र. सू. पृ. ६१६
[4] पूर्ववत्-म.

षष्ठाधिकरणमारचयति-

व्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्संश्लेषो वा जनिर्भवेत्[1] ।
जायन्त इति मुख्यत्वात्पशुहिंसादिपापतः ॥
वैधं[2] न पापं संश्लेषः[3] कर्मव्यापृत्यनुक्तितः ।
श्वविप्रादौ मुख्यजनौ चरणव्यापृति[ः] श्रुता ॥[4]

आकाशादाविव व्रीह्यादौ न संश्लेषमात्रं किन्तु व्रीह्यादिरूपेण मुख्यं जन्म विवक्षितम् **'जायन्ते'** [छा. उप. ५-१०-६] इति श्रवणावत् । न च स्वर्गे सुकृत[5]-फलमनुभूयावरोहतः पापफलरूपस्य स्थावरजन्मनो संभवः । तद्धेतोः पशुहिंसादेर्विद्यमानत्वात् तस्मान्मुख्यं जन्मनि प्राप्ते ब्रूमः-वैधत्वान्न पशुहिंसादिकं पापम् । अतो **'जायन्ते'** [छा. उप्. ५-१०-६] इति श्रुत्यापि संश्लेषमात्रं विवक्षितं न तु मुख्यं-जन्म कर्मव्यापाराभिधानात् । यत्र तु मुख्यं जन्मविवक्षितं तत्र कर्मव्यापारमभिधत्ते । **'रमणीयचरणाः कपूयचरणाः'** [छा. उप. ५-१०-७] इति तस्मात्स्वर्गादवरोहतां व्रीह्यादौ संश्लेषमात्रमिति स्थितम् ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां[6] पञ्चमाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

इष्टापूर्तादिकारिणां दक्षिणमार्गगामिनां देवानां भावं[7] केवलसंसारिणां क्षुद्रजन्तुभावलक्षणां कष्टां गतिं प्रदर्श्य तदुभयदोषपरिहारायेदानीं वैश्वानरविद्यामुत्कृष्टफलां दर्शयितुमादौ सुखावबोधयाख्यायिकारूपेण विद्यादानग्रहणन्यायप्रदर्शनार्थमुपक्रमते-

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसाञ्चक्रुः । को न आत्मा, किं ब्रह्मेति ॥[१]॥

प्राचीनशाला इति ॥ प्राचीनशालः प्राचीनशालनामाऔपमन्यव उपमन्योरपत्यं सत्ययज्ञः सत्ययज्ञनाम च पौलुषिः पुलुषस्यापत्यं तथेन्द्रद्युम्नः इन्द्रद्युम्ननामा भाल्लवेयो

---

[1] भवे-मुपा. ब्र. सू. न्या. पृ. ६१७
[2] वैधान्-मुपा. ब्र. सू. न्या. पृ. ६१७
[3] पापसंश्लेषः-मुपा. ब्र. सू. न्या. पृ. ६१७
[4] ब्र. सू. न्या. पृ. ६१७
[5] पुण्यकर्म०-म.
[6] सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने-म.
[7] देवान्नः-म.

भल्लवेरपत्यं जननाम शार्कराक्ष्य शर्कराक्षस्यापत्य बुडिलः बुडिलनामा च आश्वतराश्वितरस्यापत्यम् । पञ्चापि ते प्रसिद्धा एते यथोक्ता महाशाला महाविस्तीर्णगृहाः संपन्ना इति यावत् । महाश्रोत्रिया अतिशयेन श्रुताध्ययनवृत्तसंपन्नाश्च सन्तः समेत्य क्वचिन्मिलित्वा मीमांसां चक्रुः एवं विचारं तमकार्षुः–नोऽस्माकमात्मा कः किं ब्रह्मेत्यध्यात्मापरिछिन्नमात्मानं निवर्तयति । आत्मेत्यात्मव्यतिरिक्तस्यादित्यादिब्रह्मण उपास्यत्वं[1] निवर्तयति । तेनात्मब्रह्म शब्द[2]स्योरितरेतरविशेषतविशेष्यभावादभेदेनात्मैव ब्रह्म ब्रह्मैवात्मेत्येवं सर्वात्मा वैश्वानरो ब्रह्म स आत्मेत्येतत् सिद्धं भवति[2] ॥

ततः किमित्यत्राह––

ते ह संपादयांचक्रुः ॥

ते हेति ॥ त एवं मीमांसां कुर्वाणः प्राचीनशालादयः पञ्चापि संपादयांचक्रुर्ह आत्मानमुपदेष्टारमसंपादयन् ॥

कं संपादितवन्तः किं वा[3] ततोऽकुर्वनित्यत्राह–

उद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति । तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति । तꣳहाभ्याजग्मुः ॥ [२] ॥

उद्दालक इति ॥ उदालक वै उद्दालकनामायं प्रसिद्ध आरुणिरु अणस्यापत्यं यः संप्रति परोक्षत्वभावमात्मानं सर्वगतं वैश्वानरं विश्वे नरहितमस्मदभिप्रेतमध्येति स्मरति। तं हन्तेत्युपदेष्टृलाभनिमित्तं हर्षं द्योतयति। भगवन्तः पूजावन्तः सर्वे वयमभिगछामेत्येवं निश्चित्य तं यथोक्तमुद्दालकमभ्याजग्मुर्ह अभ्यागच्छन् किल ॥

ततः किमित्यत्राह–

स ह संपादयांचकार । प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासनानीति ।[३]॥

सहेति ॥ ततः स उद्दालकस्तेषां समीपमागताकां दर्शनमात्रेणैव प्रयोजनं विदित्वा इमे पूर्वोक्ता महाशाला महाश्रोत्रियाश्च प्राचीनशालादयो मां वैश्वानरं प्रक्ष्यन्ति । तेभ्यः प्रष्टृभ्यो[4]ऽहं सर्वमिव परिदृश्यमानमिव न प्रतिपत्स्ये वक्तुं न शक्ष्यामीत्यर्थः ।

---

१. उपास्यत्वेन–म.

२...२ 'शब्द...भवति ।'–नास्ति–म.

३. तथा–म.

४. पृष्टेभ्यः–म.

तस्मादहं हन्तेति भये । अन्यं मद्व्यतिरिक्तं इदानीमभ्यनुशासनानि एषामुपदेष्टारं वक्ष्यामीत्येवं संपादयांचकार । वक्ष्यमाणं किंचिन्मनसि संपादितवान् ।

तत उद्दालकः किमवोचदित्यत्राह–

तान्होवाच । अश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति । तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति ॥

तान्होवाचेति ॥ एवमन्यदुपदेष्टारं संपाद्य तानागतान्प्राचीनशालादीन् उवाच ह एवमुद्दालकः कथितवान् किल । अश्वपतिर्वै अश्वपतिनाम कश्चिद्राजाऽयं प्रसिद्धः कैकेयः केकयस्यापत्य संप्रतीदानीमिममात्मानं वैश्वानरमध्येति सम्यक् स्मरति । तमश्वपतिं हन्तेऽत्यनुकंपे । भगवन्तः पूजावन्तः । सर्वे आ वयमभ्यागच्छामेत्युवाचेति पूर्वेण संबन्धः ॥

ततः किमित्यत्राह–

तꣳहाभ्याजग्मुः ॥ [४] ॥

तं हेति ॥ तमश्वपतिनामानं राजानमभ्याजग्मुः प्राचीनशालादयः सर्वे आगतवन्तः ॥

ततो राजा किमकार्षीदित्यत्राह–

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयांचकार ॥

तेभ्यो इति ॥ एवं प्राप्तेभ्यः स्वसमीपमागतेभ्यस्तेभ्यः प्राचीनशालादिभ्यः सर्वेभ्योऽपि पृथगर्हाणि पृथक् पृथक् अर्हणानि पूजायोग्याणि कर्माणि कारयांचकार । पुरोहितैर्भृत्यैश्च कारितवान् ॥

ततः किमित्यत्राह–

स ह प्रातः संजिहान उवाच– ॥

स ह प्रातरिति ॥ एवं तस्मिन्नहनि पृथगर्हणानि[1] तेभ्यः कारयित्वा सोऽश्वपतिराजा परेद्युः[2] प्रातः संजिहानः शय्यां परित्यजन्नोवाच ह । तेषां समीपं विनयेन गत्वेदं धनं मत्तः स्वीकुरुतेत्यब्रवीत किल ॥

ततोऽपि किमित्यत्राह–

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

---

१. पृथगर्हाणि–म.

२. 'परेद्युः'–नास्ति–म.

न मे स्तेन इति ॥ ततो नोऽस्माकं धनमपेक्षितमिदं धनं तवैव तिष्ठत्विति। तैः प्रत्याख्यातः सन् राजा मयि नूनमेते दोषं पश्यन्ति । अन्यथा मत्तो धनं कुतो न प्रतिगृह्णातीति मन्वान आत्मनो दोषा[शं]कानिवारय सद्वृत्ततां दर्शयितुमेवं वक्ति–मे मम जनपदे [दे]शे स्तेनः परस्वहर्ता न विद्यते । कदर्यो विभवे सत्यदातापि न विद्यते । मद्यपः द्विजोत्तमः सन्मद्यस्य पीतापि न विद्यते। अनाहिताग्निरपि सत्यधिकारे नास्ति । अविद्वान् निय[मेन] गृहीतवेदार्थोऽपि बोध[1]रहितोऽपि न विद्यते । स्वैरी परदाराभिगन्ता नास्ति । यतः स्वैरी नास्ति ततः स्वैरिणी दुष्टाचारणी कुतः संभवतीत्यर्थः ॥

पुनरपि न वयं धनार्थिन इति तैः प्रत्याख्यातस्य राज्ञो वचनं दर्शयति–

यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि । यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि । वसन्तु भगवन्त इति ॥ [५] ॥

यक्ष्यमाण इति ॥ पुनरपि तैः प्रत्याख्यातो राजा नूनमिदं धनमल्पमिति मत्वा एते न परि गृह्णान्ति, अन्यथा कथं ते निर्दुष्टादपि मत्तो धनमुपस्थितं न गृह्णातीति मन्वानः पुनस्तान् प्रत्येवमाह–हे भगवन्तोऽहं यक्ष्यमाणः याग कर्तुमुद्युक्तोऽस्मि। यागार्थं परिक्लृप्तं धनं एकैकस्मा ऋत्विजे प्रत्येकं यावद्धनं दास्यामि तावत् परिमितं धनं प्रत्येकं भगवद्भ्यः पूजार्हेभ्यो युष्मभ्यो दास्यामि। भगवन्तो यूयं वसन्तु मदीयं सम्यक् पश्यन्त्विति ॥

पुनः प्राचीनशालादीनां वचनं दर्शयति–

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तꣳ हैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरꣳ संप्रत्यध्येषि । तमेव नो ब्रूहीति ॥ [६] ॥

ते होचुरिति ॥ ते राज्ञैवमुक्ताः प्राचीनशालादय ऊचुर्ह राजानं प्रत्येवमुक्तवन्तः किल । येन हैव येनैवार्थेन प्रयोजनेन पुरुषश्चरेत् । ममागमनस्येदं प्रयोजनं वदेत् तं हैव तमेवार्थं तदेव प्रयोजनं वदेत् तं प्रतिब्रूयात् । ममागमनस्येदं मह्यं देहीति ब्रूयात् । अयमेव सतां न्यायमार्ग इत्यर्थः । वयं तु वैश्वानरज्ञानार्थिनः हे राजन् त्वम् इममेवात्मानं वैश्वानरं संप(प्र)त्य[धे]षि सम्यक् स्मरसि । अतस्तमेवेनांऽस्मभ्यं ब्रूहि उपदिशेति ॥

ततः किमित्यत्राह–

तान्होवाच–प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ॥

---

१. ०वेदार्थावबोध०–म.

तान्होवाचेति ।। एवं तैः प्रार्थितो राजा विधिनागतेभ्यो विद्या वक्तव्या नान्यथेति अभिसंधिना तान्वद्यार्थिनः प्राचीनशालादीनेवमुवाच–हे भगवन्तो वो युष्मभ्यं प्रातः परेद्युः प्रातकाले प्रतिवक्ताऽस्मि प्रतिवचनं दास्यामीति ॥

ततस्ते किमकार्षुरित्यत्राह–

ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे ।।

ते ह समिदिति ।। एवमुक्तास्ते राज्ञोऽभिप्रायं विदित्वा समित्पाणयः समित्पाणौ येषां ते समित्पाणयः समिद्धस्ताः सन्तः पूर्वाह्णे परेद्युः प्रातःकाले प्रतिचक्रमिरे राजानं प्रति गतवन्तः ।।

ततः किमित्यत्राह–

तान् हानुपनीयैवैतदुवाच ।।७।।

।। इति पञ्चमाध्यायस्य एकादशः खण्डः ।।

तान्हेति ॥ यस्मादेते महाशाला महाश्रोत्रिया ब्राह्मणाश्च संन्तोऽपि आढ्याद्यभिमानं परित्यज्य समिद्भारहस्ताः सन्तो जातितो हीनं मां प्रति विद्याग्रहणायागताः तस्मादेभ्योऽभीष्टा विद्या मया दातव्या अन्यथा महान मम प्रत्यवाय इति मन्वानो राजा विद्यां विवक्षुस्तान् प्राचीनशालादीन् अनुपनीयैव उपनयनमकृत्वैव विद्यायोग्यान् मत्वा[1] एतद्वैश्वानरदर्शनमुवाच ह वक्ष्यमाणप्रकारेणाब्रवीदित्यर्थः । आख्यायिकाप्रयोजनं तु अनेनैव न्यायेनान्यैरपि विशेषेभ्यो विद्या दातव्या शिष्टैरपि श्रद्धानतया गुरोर्विद्या गृहीतव्येति प्रदर्शनम् ।।

।। इति छान्दोग्यदीपिकायां[2] पञ्चमाध्यायस्य एकादशः खण्डः ।।११।।

विद्यादान ग्रहणप्रकारं[3] दर्शयित्वेदानीं विद्यां दर्शयितुमुपक्रमे–

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्से इति ।।

औपमन्येति ॥ परिज्ञातांशं परित्याज्यापरिज्ञातांशप्रदर्शनाया[4]न्यथाप्रतिपत्तिनिरासाय वा प्रथमं तावदौपमन्यवं राजा पृच्छति–हे औपमन्यव त्वं कमात्मानं वैश्वानरमुपास्से नैरन्तर्येण चिन्तयसि ।।

---

१. विद्यायोग्यात्मत्वात्–म.

२. सामवेदार्थ प्रकाशः उपनिषद्व्याख्याने–म.

३. एवंविद्याग्रहणप्रकारम्–म.

४ परिज्ञानाया०–म.

औपमन्यस्य वचनं दर्शयति–

दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच ॥

दिवमवेति ॥ भगवः भगवन् पूज्यराजन्नहं दिवमेव द्युलोकमेव वैश्वानरमुपास्से द्युलोके वैश्वानरबुद्धिं करोमीत्यर्थः । इत्येवमुवाच ह ॥

ततो राज्ञो वचनं दर्शयति–

एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ [१] अस्त्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ [२] ॥

॥ इति छान्दोग्ये पञ्चमाध्यास्य द्वादशः खण्डः ॥ चिन्तयसि स

एष वा इति हे औपमन्यव त्वं यमात्मानम् आत्मैकदेशमुपास्से[1] वैश्वानर
एष सोऽयं सुतेजाः शोभनं तेजो यस्य स सुतेजाः प्रसिद्धो वैश्वानरः आत्मा वैश्वानर एकदेश आत्मा तस्मात्सुतेजसो आत्मनोऽवयवभूत एव न तु समस्त आत्मा । यत एकदेश आत्मा तस्मात्सुतेजसो वैश्वानरस्योपासनात् तव कुले सुतमभिषुतं सोमरूपं एकाहनिर्वर्त्यैर्ज्योतिष्टोमादौ कर्मणि तथा प्रसुतं प्रकर्षेण सुतं चाहर्गणादिषु दृश्यते । त्वकुलीनाः सर्वेऽपि कर्मनिष्ठा[2] इत्यर्थः । किञ्च त्वं दीप्ताग्निः सन् अन्नमत्सि भोक्ष्यसि तथा प्रियं पुत्रपौत्रादिलक्षणं पश्यसि तथा यः कश्चिदेतं यथोक्तमेवमुक्तप्रकारेणात्मात्मैकदेशभूतं वैश्वानरमुपास्ते सोऽप्यन्नमत्ति । प्रियं पुत्रादिलक्षणमभीष्टं पश्यति । अस्य कुले ब्रह्मवर्चसं सुतमभिषुतमासुतमित्याद्युपलक्षितं कर्मित्वं भवति । एष द्युलोकात्मा वैश्वानर आत्मानो वैश्वानरस्यमूर्धा तु उत्तमाङ्गमेव न समस्तो वैश्वानरः । तस्माद्वैश्वानरैकदेशस्य समस्तवैश्वानरबुद्ध्योपासनात् ते तव विपरितग्रहणो मूर्धा शिरो व्यपतिष्यति पतितमभविष्यत् यद्यदि मां नागमिष्यो नागतम-
इत्येवं राजौपमन्यवमुवाच हेति संबन्धः ॥
भविष्यः, तस्मादागत्य साधु कृतवानसीत्यभिप्रायः ।

॥ इति[3] पञ्चमाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥

पोलुषिं प्रति राज्ञो वचनं दर्शयति–

अथ होवाच सत्ययज्ञं पोलुषिं–प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति ॥

---

[1] आत्मैकदेशभूतम्–म.

[2] 'कर्मनिष्ठा'–नास्ति–म.

[3] 'सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने'–अपा.–म.

अथ हेति ॥ अथ उपमन्यवं पृष्ट्वा पश्चात्सत्ययज्ञं पौलुषिं पौलुषिनामानमुवाच ह । एवमुक्तवान् किल–हे प्राचीनयोग्य पौलुषे त्वं कमात्मानं वैश्वानरमुपास्स इति ॥

पौलुषेः प्रतिवचनं दर्शयति–

आदित्यमेव भगवो राजन्निति होवाच ॥

आदित्यमिति ॥ भगवो हे भगवन् राजन् आदित्यमेव वैश्वानरमहमुपास्स इत्युवाच ह, पौलुषी राजा तं प्रत्यब्रवीत्किल ॥

ततो राजा किमुक्तवानित्यत्राह–

एष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहुविश्वरूपं कुले दृश्यते ॥ [१] प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यो यन्मां नाऽऽगमिष्य इति ॥ [२] ॥

॥ इति त्रयोदशः खण्डः ॥

एषोऽयमिति ॥] एषोऽयं विश्वरूपः विश्वानि सर्वाणि रूपाणि त्वाष्ट्राणि यस्यासौ विश्वरूपस्तथा च श्रुत्यन्तरम्–'**त्वाष्ट्र वै रूपाणामीशः**' इति । प्रसिद्धो वैश्वानरस्य आत्मा आत्मनो अवयवभूतः त्वं यमात्मानमात्मैकदेशमुपास्से । यस्मादयं विश्वरूपस्तस्माद्विश्वरूपोपासनात् तव कुले बह्वधिकं विश्वरूपं नानारूपमिहामुत्रार्थमुपाकरणं दृश्यते प्रत्यक्षेण । अपि च भवन्तमनुश्रुत्य अश्वतरीरथोऽश्वतरीभ्यां युक्तो रथः प्रवृत्तः तथा दासीनिष्क; दासीभिर्युक्तो निष्कः कंठयो हारः प्रवृत्तः । किञ्चित्त्वमन्नोऽत्सि अन्नादनशक्तो भवसि । तथा प्रियं पुत्रपोत्रादिरूपमिष्टं पश्यसि । किञ्चान्योऽपि यः कश्चिदेतं विश्वरूपमादित्यं वैश्वानरमुपास्ते सोऽप्यन्नमत्ति प्रियं पश्यति । अस्य कुले ब्रह्मवर्चसं वेत्ताध्ययनसंपत्तिश्च भवति । एतदादित्यस्यरूपं आत्मनो वैश्वानरस्य चक्षूर्वै चक्षुरेव न तु समस्तं रूपम् । तस्मादेकदेशस्यादित्यस्य समस्तबुद्ध्योपासनादन्धश्चक्षूहीनोऽभविष्यः यद्यदि मां नागमिष्यः नागतोऽभविष्यः । साध्वकार्षीर्यन्मामागतोऽसीत्यर्थः । इत्येवमुवाच हेति संबन्धः ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने छान्दोग्यदीपिकायां[१] पञ्चमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥

---

१. 'छान्दोग्यदीपिकायाम् '–नास्ति–म.

इन्द्रद्युम्नं प्रति राज्ञो वचनं दर्शयति–

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयम्–वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति ॥

अथ हेति ॥ अथ पौलुषिं पृष्ट्वानन्तरं भाल्लवेयमिन्द्रद्युम्नमेवमुवाच ह–हे वैयाघ्रपद्येन्द्रद्युम्न त्वं कमात्मानं वैश्वानरमुपास्य इति ॥

इन्द्रद्युम्नस्य प्रतिवचनं दर्शयति–

वायुमेव भगवो राजन्निति होवाच ॥

वायुमेवेति ॥ भगवो राजन्नहं वायुमेव वैश्वानरमुपास्स इत्युवाच ह ॥

अथ राज्ञो वचनं दर्शयति–

एष वै पृथग्वर्त्माऽऽत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥ [१] अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवात्मानं वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच । प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नाऽऽगमिष्य इति ॥ [२] ॥

॥ इति चतुर्दशः खण्डः ॥

एष वा इति ॥ एष पृथग्वर्त्मा पृथक्प्रभेदेन नाना वा वर्त्मानि यस्य वायोरावहोद्वहादिभिर्भेदैर्वर्तमानस्य पृथग्वर्त्मा प्रसिद्धो वैश्वानर आत्मा आत्मनोऽवयवभूतस्त्वं यमात्मानमात्मैकदेशमुपास्से तस्य नानावर्त्मनो वैश्वानरस्योपासनात्पृथक् नानादिक्कान्न (?) लयो[1] वस्त्राभरणधान्यादिलक्षणा उपहारास्त्वामायान्ति प्रतिपद्यन्ते । किं च पृथक् रथश्रेणयो नानाप्रकारा रथपङ्क्तयस्त्वामनुयन्ति । अत्स्यन्नमित्यादि पूर्ववत् । एष वायुरात्मा (त्म)नो वैश्वानरस्य प्राणः न तु समस्तो वैश्वानरः । अतस्ते तवात्मैकदेशवायूपासकस्य प्राण उदक्रमिष्यत्[2] यद्यदि मां नागमिष्य इत्युवाच हेति संबन्धः ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने छान्दोग्यदीपिकायां[3] पञ्चमाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ॥

---

[1] दिक्कावधयो (?)–म.

[2] ‘ उत्क्रान्तोऽभविष्यत् ’–अपा.–म.

[3] ‘ छान्दोग्यदीपिकायाम् ’ नास्ति–म.

जनं प्रति राज्ञो वचनं दर्शयति–

अथ होवाच जनं शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मान मुपास्स इति ॥

अथ होवाचेति ॥ अथ होवाच जनमित्यादि पूर्ववत् समानम् ।

आकाशमेव भगवो राजन्निति होवाच ॥

आकाशमिति ॥ हे भगवो राजन्नहं आकाशमेव आत्मानं वैश्वानरमुपास्स इति ॥

बुडिलं प्रति राज्ञः प्रतिवचनं दर्शयति–

एष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया धनेन च ॥ [१] अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नाऽऽगमिष्य इति ॥ [२]

॥ इति पञ्चमाध्यस्य पञ्चदशः खण्डः ॥

एष वा इति ॥ एष आकाशो बहुलः सर्वगतो वैश्वानर आत्मन एकदेशस्त्वमात्मैकदेशमुपास्से तस्माद्यद्बहुलस्य सर्वगतस्य वैश्वानरस्योपासनात् त्वं पजया पुत्रपौत्रादि रूपया धनेन हिरण्यादिना च बहुलोऽसि । अत्स्यन्नमित्यादि पूर्ववत् । एष आकाश आत्मनो वैश्वानरस्य तु संदेहो मध्यमशरीरं दिहेर्धातोरुपचयित्वा[2]न्मांसरुधिरास्थ्यादिभिः बहुलं यन्मध्यमं शरीरं तत्संदेहः न तु समस्तो वैश्वानरः अत एकदेशस्य समस्तबुध्योपासनात्ते तव संदेहः शरीरं व्यशीर्यत् शीर्णमभविष्यत् यद्यदि मां नाऽऽगमिष्य इत्युवाच ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने छान्दोग्यदीपिकायां[3] पञ्चमाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ॥

बुडिलं प्रति राज्ञो वचनं दर्शयति–

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विम्–वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति ॥

---

[1] 'ह'–अपा.–म.

[2] द्र. दिह उपचये–धा. पा. १०१५.

[3] 'छान्दोग्यदीपिकायाम्' नास्ति–म.

अथ होवाचेति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

बुडिलस्य प्रतिवचनं दर्शयति–

अप एव भगवो राजन्निति होवाच ॥

अप एवेति ॥ एतदपि पूर्ववत् ॥

राज्ञो वचनं दर्शयति–

एष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं रयिमान् पुष्टिमानसि ॥ [१] अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानमुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच बस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नाऽऽगमिष्य इति ॥ [२] ॥

एष वा इति एषोऽब्रूपो रयिर्धनरूपो अद्भ्योऽन्नं ततो धनमित्युदकमूलत्वाद्धनस्य वैश्वानर आत्मा आत्मन एकदेशस्त्वं यमब्रूपमात्मानं वैश्वानरमुपास्से तस्माद्धनरूपस्य वैश्वानरस्योपासनात्त्वं धनवान् शरीरेण पुष्टिमाँश्चासि । अत्स्यन्नमित्यादि पूर्ववत् । एषोऽब्रूपो वैश्वानर आत्मनस्तु समस्तस्य वैश्वानरस्य विस्तरेव[1] न तु कृच्छ्रो वैश्वानरः । अत एकदेशस्य कृत्स्नवैश्वानरबुद्ध्योपासनात्ते तव वस्तिका भेत्स्यत् भिन्नोऽभविष्यत् यदि मां नऽऽगमिष्य इत्युवाच ह ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां[2] पञ्चमाध्यायस्य षोडशः खण्डः॥

उद्दालकं प्रति राज्ञो वचनं दर्शयति–

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं–गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति ॥

अथ होवाचेति ॥ तदपि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

उद्दालकस्य वचनं दर्शयति–

पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाच ॥

पृथिवीमिति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

राज्ञो वचनं दर्शयति–

एष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं प्रति-

---

[1] वस्तिरेव–म.

[2] सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने–म.

ष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥ [१] अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मा नागमिष्य इति ॥ २ ॥

॥ इति पञ्चामाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ॥

एष वा इति एष पृथिव्यात्मकः प्रतिष्ठां पृथिवीनिमित्तत्वात्प्रतिष्ठायाः वैश्वानर आत्मा आत्मन एकदेशः त्वं यं पृथिवीरूपमात्मानं वैश्वानरमुपास्से तस्मात्प्रतिष्ठारूपस्य वैश्वानरस्योपासनात्त्वं प्रजया पुत्रपौत्रादिरूपया पशुभिर्यवादिभिश्च प्रतिष्ठित आढ्योऽसि । अत्स्यन्नमित्यादि पूर्ववत् । आत्मनः समस्तरस्य वैश्वानस्य प्रतिष्ठारूपो वैश्वानर एतौ पादौ न तु समस्तो वैश्वानरः । अत एकदेशस्य समस्तबुध्योपासनात् ते पादौ व्यम्लस्येतां विम्लानावभविष्यतां यद्यदि मां नाऽऽगमिष्य इत्युवाच ह ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने पञ्चमाध्यायस्य सप्तद खण्डः ॥

एवमेकैकं प्रति राज्ञो वचनं दर्शयित्वेदानीं सर्वान् प्रति तस्य वचनं दर्शयति–

तान् होवाच–एते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वांसोऽन्नमत्थ ॥

तान्होवाचेति ॥ तान् यथोक्तवैश्वानरैकदेशदर्ष्रि(र्शि)न औपमन्यवादीनुवाच ह राजैवमुक्तवान् किल । पृथगिव अपृथक् सन्तमिममेकमात्मानं वैश्वानरं विद्वांसो जानन्तोऽन्नमत्थ इहलोक एव केवलमन्नं भक्षयथ । न सर्वत्र यतो मिथ्यादर्शनवन्तो यूयमित्यमिप्रायः ॥

एवं वैश्वानरैकदेशदर्शनवातामल्पं फलं दर्शदित्वाकृत्स्वैश्वारदर्शनवतां महत्फलं[१] दर्शयति—

यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ [१] ॥

यस्त्वेवमिति ॥ यः पुनरेतमेव यथोक्तावयवैर्मूर्धादिभिर्युक्तमेकं प्रादेशमात्रं प्रादेशैर्द्युमूर्धादिभिः पृथिवीपादान्तैरध्यात्मं मीयत इति प्रादेशमात्रः । यद्वा प्रकर्षेणाशास्त्रेण

---

१. अक्षयफलम्-म.

दिश्यन्त इति प्रदेशा द्युलोकादयस्तावत्परिमाणः प्रादेशमात्रः । अथवा मुखादिषु अत्तृत्वेन मीयत इति प्रादेशमात्रस्तं अभिविर्मानं प्रत्यगात्मतया अभिप्रमीयत इत्यविभिविमानस्तमात्मानं वैश्वानरं विश्वान्नरान्पुण्यपापानुरूपां गतिं नयतीति वैश्वानरः । यद्वा विश्वैर्नरैः प्रत्यगात्मतया प्रविभज्यमानयत इति । यद्वा विश्वानर एव वैश्वानरः सर्वात्मकत्वात् । तथा च यास्कः **‘वैश्वानरः कस्मात् ? विश्वान्नरान्नयति...विश्वे एनं नरा नयन्तीति वा । अपि वा विश्वानर एव स्यात्’** [नि॰ ७-६-११] इति । उपास्ते स सर्वेषु लोकेषु द्युलोकादिषु सर्वेषु भूतेषु स्थावरजङ्गमात्मकेषु सर्वेष्वात्मसु शरीरन्द्रियमनोबुद्धिषु तेषु प्राणिनामात्मकल्पतयात्मव्यपदेशः । अन्नमत्ति सर्वात्मा सन् वैश्वानरवत्सर्वमन्नमत्तीत्यर्थः ॥

एवं कृत्स्नवैश्वानस्योत्पत्तेः फलं दर्शयित्वा तस्योपास्तिं विधत्ते—

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानस्य मुर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्माऽऽत्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ ॥

तस्य ह वा इति ॥ तस्य ह वै प्रकृतस्यैव तस्यात्मनो वैश्वानस्य मूर्धैवोत्तमाङ्गमेव सुनेजाः शोभनतेजस्को द्युलोकश्चक्षुरेव विश्वरूपो बहुरूपः आदित्यः प्राणः एव पृथग्वर्त्मा नाना मार्गात्मा वायुः संदेहो मध्यमं शरीरमेव बहुलः सर्वगत आकाशः बस्तिरेवघनरूपा आपः पृथिव्येव पादामूर्धादिभिः सवैरवयवैर्विशिष्टमेवमात्मानं वैश्वारनमुपासीतेत्यर्थः ॥

एव समस्तवैश्वानरोपास्तिं दर्शयित्वेदानीं वैश्वानरोपासकस्य भाजनेऽग्निहोत्रसंपादयिषयैवमाम्नायते—

उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ [२] ॥

उर एवेति ॥ एतस्य वैश्वानरविदो भोक्तुरेव वेदिः उभयोराकारसादृश्यत्वात् तादात्म्यारोपः । लोभानि याज्युरसिलोमानि त्या(ता)न्येव बहिर्वेद्यामिव लोम्नामुरस्यास्तीर्णतया दृश्यमानत्वाद् हृदयमेव गार्हपत्योऽग्निः । हृदयाद्धि मनः प्रणीतमिव व्यापारहेतुर्भवति । अतो मन एवान्वहार्यवचनो दक्षिणाग्निः । अस्य मुखमेवाहवनीयः । यथाहवनीये हविर्हूयते तद्वदास्ये अन्नमाहूयत इत्यास्याहवनीयोः साम्य(म्यं) दृश्यम् ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां पञ्चमाध्यायस्य अष्टादशः खण्ड, ॥

एवं वेद्यादिकं[1] संपाद्य होतव्यं हविः संपादयति—

यद्यन्तद्भक्तं[2] तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयमिति ॥

यद्यमिति ॥ तत्तत्र यद्भक्तं भोजनार्थमन्नं भोजनकाल आगच्छेद् पात्रे परिविष्टं भवेत् तद्धोमीयं होतव्यमिति । अत्र समस्ताग्निहोत्रेति कर्तव्यता नायाति ।

अग्निहोत्रे कथं होतव्यमित्यत्राह—

स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात् प्राणाय स्वाहेति ॥

स यामिति ॥ स होता यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात् तां प्राणाय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण जुहुयात्प्रथमं प्राणाय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण होतव्यमित्यर्थः । आहुतिशब्दश्रवणात् अवदानप्रमाणमन्नं प्रतिक्षिपेन्न न्यूनमधिकं वेत्यत्रगम्यते ॥

प्रथमामाहुतिं प्रशंसन्ति—

प्राणस्तृप्यति [१] ॥ प्राणे तृप्यति चक्षुस्तुप्यति चक्षुषु तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवितृप्यन्त्यांयत्किञ्च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति । तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ [२] ॥

॥इति पञ्चमाध्यायस्यैकोनविंशः खण्डः ॥

प्राणस्तृप्यतीति ॥ प्राणोद्देशेनाहुतिप्रक्षेपेण प्राणस्तृप्यति प्रीणाति । तस्मिन्प्राणे तृप्यति सति चक्षुस्तृप्यति प्राणाप्यायननिमित्तत्वाच्चक्षुराप्यायनस्य तस्मिंश्चक्षुषि तृप्यति सति आदित्यस्तृप्यति । चक्षुरभिमानित्वा[दा]दित्यस्य । तस्मिन् आदित्ये तृप्यति द्यौर्द्युलोकोऽपि तृप्यति आदित्याश्रयत्वात् द्युलोकस्य । दिवि तृप्यन्त्यां द्यौश्चादित्यश्चो-भावपि यत्किञ्च वस्व(स्त्व ?)धितिष्ठतः स्वामित्वेनाभिमानं कुरुतस्तदपि तृप्यति । तस्य तृप्तिमनुतृप्यति भुञ्जानोऽपि स्वयं प्रीणाति । प्रत्यक्षमेव किञ्चाऽसौ[3] प्रजया पुत्रपौत्रादिकया पशुभिर्गवादिभिश्चान्नाद्येनान्नपानादिना च तेजसा शारीरकान्त्या च ब्रह्मवर्चसेन वृत्तस्वाध्यायनिमित्तेन तेजसा च संपन्नो भवतीत्यर्थः ॥

॥ छान्दोग्यदीपिकायां[4] पञ्चमाध्यायस्य एकोनविंशः खण्डः ॥

---

१. विद्यादिकम्—म.

२. 'यद्यन्तद्भक्तम्'—नास्ति—मुपा. म.

३. किं वाऽसौ—म.

४. सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने—म.

[1]द्वितीयाहुतिहोमप्रकारं दर्शयति—

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्व्यानाय स्वाहा[2] ॥

अथेति ॥ व्यानाय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण द्वितीयामाहुतिं जुहुयादित्यर्थः ॥

तां स्तौति —

व्यानस्तृप्यति ॥ [१] व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किञ्च दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति । तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ [२] ॥

॥ इति [पञ्चमाध्यायस्य] विंशः खण्डः ॥

व्यानस्तृप्यतीति । अति[3]रोहितार्थमेतत् ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां[4] पञ्चमाध्यायस्य विंशः खण्डः ॥

तृतीयाहुतिहोमप्रकारं दर्शयति—

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहा ॥[5]

अथेति ॥ अपानाय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण तृतीयाहुतिं जुहुयादित्यर्थः ॥

तां प्रशंसति—

अपानस्तृप्यति ॥ [१] अपाने तृप्यति वाक् तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्नितृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति । पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किञ्च पृथिवी चाग्निश्चाधिष्ठितस्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मावर्चसेनेति ॥ [२] ॥

॥ इति [पञ्चमाध्यायस्य] एकविंशः खण्डः ॥

---

१. ‘श्रीनञ्जुण्ऽसदाशिवाय नमः’ अपा–म.

२. स्वाहेति–मुपा.

३. अभि०–म.

४. सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने–म.

५. स्वाहेति–मुपा.

अपानस्तृप्यतीति ॥ एतदपि[1] पूर्ववद्व्याख्येयम्[2] ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां[3] पञ्चमाध्यायस्यैकविंशः खण्डः ॥

[4]चतुर्थाहुतिहोमप्रकारं दर्शयति—

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात्समानाय स्वाहेति ॥

अथेति ॥ समानाय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण चतुर्थीमाहुतिं जुहुयादित्यर्थः ॥

तां प्रशंसति—

समानस्तृप्यति ॥ [१] समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यतृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्या यत्किञ्चिद्विद्युच्च[5] पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ [२] ॥

इति [पञ्चमाध्यायस्य] द्वाविंशः खण्डः ॥

समानस्तृप्यतीति ॥ व्याख्यानं पूर्ववत् ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने छान्दोग्यदीपिकायां[6]
पञ्चमाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ॥

[7]पञ्चमाहुतिहोमप्रकारं दर्शयति--

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेति ॥

अथेति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम्[8] ॥

---

१. तदपि-म.

२. ‘अभिरोहितार्थमेतत्’ -अपा.-म.

३. सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने-म.

४. श्रीरस्तु-अ.पा. -म.

५. यत्किञ्च विद्युत्-मु.पा.

६. छान्दोग्यदीपिकायाम्-नास्ति-म.

७. श्रीः -अपा. -म.

८. अभिरोहितार्थमेतत्-अपा.-म.

तां प्रशंसति-

उदानस्तृप्यत्युदाने तृप्यति वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किञ्च वायुश्चाऽऽकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ [२] ॥

॥ इति पञ्चमाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः ॥

उदानस्तृप्यतीति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां[2]पञ्चमाध्यायस्यत्रयोविंशः खण्डः ॥

[2]वैश्वानरविद्यारहितस्य प्रसिद्धाग्निहोत्रनिंदया वैश्वानरविदः प्राणाग्निहोत्रं प्रशंसन्ति—

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् त[त्] स्यात् ॥ [१]

स य इदमिति ॥ स यः कश्चिदिदं वैश्वानरदर्शनं यथोक्तमविद्वान् [अ]जानन् जुहुयात् अग्निहोत्रं प्रसिद्धं जुहोति तस्य तत्प्रसिद्धं अग्निहोत्रं[3] यथाङ्गारानाहुतियोग्यानपोह्यानाहुतिस्थाने भस्मनि जुहुयात्तादृक् स्यात् तत्तुल्यं भवेत् । वैश्वानरविदोऽग्निहोत्रमपेक्ष्यन्तेत्यर्थः ॥

एवं प्रसिद्धाग्निहोत्रनिन्दया वैश्वानरविद्याग्निहोत्रं प्रशस्य पुनर्नानाप्रकारेण तत्प्रशंसति-

अथ यदेवं[4] विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥ [२] तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं ह्यस्य सर्वे पाप्मनः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं

---

[1] सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने—म.

[2] श्रीगुरुभ्यो नमः —अ.पा. —म.

[3] अग्निः —म.

[4] य एतदेवम्—मु.पा.;म.

जुहोति ॥ [३] तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चाण्डालायो[1]च्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳ स्यात्[2] ॥

अथेति ॥ अथशब्दो वाक्यालंकारार्थः । यः पुमानेतद्वैश्वानरदर्शनमेवं यथोक्तप्रकारेण विद्वान् जानन्नग्निहोत्रं जुहोति तस्य वैश्वानरदर्शनवतः सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति । सर्वात्मकतया अन्नमत्तीत्यर्थः । किं च यद्ययेषो[3]कातूलं ईषिकायाम्[4] अग्रं अग्नौ प्रोतं प्रक्षिप्तं प्रदूयेत एवं तद्वदस्य वैश्वानरदर्शनवतः सर्वात्म[5]भूतस्य सर्वान्नभक्षकस्य सर्वे पाप्मानो धर्मा प्रदूयन्ते दह्येरन्नपि च[6] यः कश्चिदेनं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति यद्यपि तस्मा उ ततः कारणादेवैवंविद्यद्यपि भुञ्जानश्चाण्डालयोच्छिष्टानहार्योच्छिष्टं प्रयच्छेत् । प्रतिषिद्धमुच्छिष्टदानं यद्यपि कुर्यादित्यर्थः । तथापि अस्य[7] चाण्डालायोच्छिष्टप्रदानं आत्मनि हैव चाण्डालदेहस्थे वैश्वानर एव हुतं स्यात् । नाधर्मकारणमित्यर्थः ॥

उक्ते प्रशंसारूपेऽर्थे प्रतिज्ञापुरःसरं मन्त्रं दर्शयति–

तदेष श्लोकः ॥ [४]–

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते ।

एवꣳसर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ [५] ॥

॥ इति [पञ्चमाध्यायस्य] चतुर्विंशः खण्डः ॥२८॥

॥ इति छान्दोग्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥

तदेष श्लोक इति ॥ तत्तस्मिन् प्रशंसारूपेऽर्थे एष श्लोको मन्त्रोऽप्यस्ति । यथेह लोके क्षुधिता बाला शिशवो मातरं पर्युपासते कदास्माकं मातान्नं प्रयच्छतीति

---

[1] चण्डाल० –मुपा.

[2] स्यादिति–मुपा.

[3] यथेषी० –म.

[4] इषिकाया–म.

[5] सर्वान्न० –म.

[6] चैव–म.

[7] तस्य –म.

एवं सर्वाणि भूतानि एवंविदोऽग्निहोममन्नभोजनमुपासन्ते कदानुभोज्यत इति । विद्वद्भोजनेन सर्वं[1] जगत्प्रीणातीत्यर्थः । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिद्योतनार्था ॥

अत्र वैश्वानरशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे सप्तमाधिकरणे निर्णितम् ।

तद्यथा–

वैश्वानरः कौक्षभूतदेवजीवेश्वरेषु कः ।
वैश्वानरात्मशब्दाभ्यामीशा[2]दन्येषु कश्चन ॥

द्युमूर्धत्वादितो ब्रह्मशब्दाच्चेश्वर इष्यते ।
वैश्वानरात्मशब्दौ तावीश्वरस्यापि वाचकौ ॥[3]

छान्दोग्यस्य पञ्चमाध्याये वैश्वानरविद्यायामाम्नायते–**'आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते'** [छा. उप. ५-१८-१] इति । किमयं वैश्वानरः कुक्षिस्थोऽग्निः उत बाह्योऽग्निः, आहोस्विद्वादित्यदेवता किं वा जीवात्मा, अथवा परमात्मेति संशयः । तत्र वैश्वानरशब्दवशादयं पक्षत्रयं प्राप्तम् । **'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषः'** [बृ. आ. उप. ५-९-१; मैत्री उप. २-३] इति श्रुतौ वैश्वानरशब्दो जाठराग्नौ प्रयुक्तः । **'विश्वास्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरम्'** [ऋ. वे. १०-८८-१२] इति बाह्याग्नौ प्रयुक्तः । **'वैश्वानरस्य सुमतो स्याम'** [ऋ. वे. १-९८-१] इति देवतायां प्रयुक्तः । अतः पक्षत्रयप्राप्तिः । आत्मशब्दस्य जीवे रूढत्वात् जीवो वैश्वानरः स्यात्, न त्वीश्वरः, तद्गमकाभावादिति प्राप्ते ब्रूमः–वैश्वानरो ब्रह्म भवितुमर्हति मूर्धैवेत्यादिश्रवणात् । **'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव** [छा. उप. ५-१८-२] इत्यादिना द्युलोकाद्यशेषजगतो वैश्वानरावयवत्वं श्रूयते । न चैतदीश्वरादन्यत्र संभवति । किं च **'को न आत्मा किं ब्रह्म'** [छा. उप. ५-११-१] इति ब्रह्मशब्दश्चेश्वरे मुख्यः । वैश्वानरशब्दस्तु योगवृत्त्या ब्रह्मणि वर्तते । विश्वश्चासौ नरश्च विश्वानरः सर्वात्मकः पुरुष इत्यर्थः । विश्वनर एव वैश्वानरः । आत्मशब्दश्च जीव(व)द्ब्रह्मण्यपि वर्तते । तस्माद्वैश्वानरः परमेश्वरः ।

वैश्वानरविद्यायां समस्तस्योपासनस्य श्रैष्ठ्यं तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे द्वात्रिंशाधिकरणे निर्णितम् । तद्यथा—

---

१. 'विद्वद्भाजनेन सर्वम्' –नास्ति –म.

२. ०मीश्वरा० –मुपा. ब्र.सू.न्या. पृ. १९३

३. ब्र.सू.न्या. पृ. १९३

ध्येयो वैश्वानरांशोऽपि ध्यातव्यः कृत्स्न एव वा ।
अंशेषूपास्तिफलयोरुक्तेरस्त्यंशधीरपि ॥

उपक्रमावसानाभ्यां समस्तस्यैव चिन्तनम् ।
अंशोपास्तिफले स्तुत्यै प्रत्येकोपास्तिनिन्दनात् ॥[1]

वैश्वानरविद्यायां विराड्रूपस्य वैश्वानरस्य द्युलोकसूर्यवाय्वाकाशोदकपृथिव्यो मूर्धश्चक्षुः प्राणमध्यशरीरमूत्रस्थानपादरूपेण ध्यातव्यांशा निरूपिताः । तेषामंशानामपि प्रत्येकं स्वातन्त्र्येणोपासनं विद्यते । उपास्तिशब्दस्य फलकथनस्य च प्रत्येकमुपलभ्यमानत्वात् । तथा हि **'औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स'** [छा. उप. ५-१२-१] इति **'दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच'** [छा. उप. ५-१२-१] इति प्रश्नोत्तराभ्यां द्युलोकमात्रोपास्तिरवगम्यते[2] **'तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते'** [छा. उप. ५-१२-१] इति सुतादिशब्दवाच्यानां सोमयागविशेषाणां संपत्तिः फलत्वेनावगम्यते । एवमंशान्तरेष्वूदाहर्तव्यम् । सर्वावयवसमष्ट्युपासनं तु **'तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य'** [छा. उप. ५-१८-२] इति वाक्यशेषे विस्पष्टं प्रतीयते । तस्माद्व्यस्तोपासनं समस्तोपासनं चोभयं विवक्षितमिति प्राप्ते ब्रूमः-समस्तोपासनमेव विवक्षितं न तु व्यस्तोपासनम् । कुतः, उपक्रमोपसंहाराभ्याम् एकवाक्यत्वावगमात् , उपक्रमे तावत् **'को न आत्मा किं ब्रह्म'** [छा. उप. ५-११-१] इति कृत्स्नमेव किं ब्रह्मोपास्यत्वेन विचारयितुं प्रक्रान्तम् । उपसंहारेऽपि **'तस्य ह वा'** [छा. उप. ५-१८-२] इत्यादिना समस्तोपासनं विस्पष्टमभिधीयते । तथा च सत्यंशोपास्तिषु पृथगभ्युपगम्यमानासु वाक्यभेदः प्रसज्येत । पृथगुपास्तिफलकथनं त कैमुतिकन्यायेन स्तुत्यै भविष्यति । अथ बहूपास्तिलाभाय वाक्यभेदोऽभ्युपगम्येत तदा प्रत्येकोपास्तिनिन्दावचनानि कथं समर्थयेथाः, । निन्द्यन्ते हि प्रत्येकोपास्तयः । **'मूर्धा ते व्यपतिष्यद्'** [छा. उप. ५-१२-२] इति शिरोमात्रोपासनं निन्द्यते । तस्मात्समस्तोपासनमेव विवक्षितम् ।

वैश्वानरोपासकस्य भोजनलोपे प्राणाग्निहोत्रलोपस्तत्रैव षड्विंशाधिकरणे निर्णितम् । तद्यथा—

न लुप्यते लुप्यते वा प्राणाहुतिरभोजने ।
न लुप्यतेऽतिथेः पूर्वं भुञ्जीतेत्यादरोक्तितः ॥

---

१. ब्र. सू. न्या. पृ. ७७१

२. ०स्तिरिह गम्यते-म.

भुज्यार्थान्तोपजीवित्वात्तल्लोपे लोप इष्यते ।
भुक्तिपक्षे पूर्वभुक्तावादरोऽप्युपपद्यते ॥[1]

वैश्वानरविद्यावाक्यशेषे **'यां प्रथमाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात् प्राणाय स्वाहा'** [छा. उप. ५-१९-१] इति पाणाहुतयः पठयन्ते । तत्र केचिन्निमित्तेन भोजन[2]लोपे ऽप्युपासकस्य प्राणाहुतिर्न लुप्यते **'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयाद्**[3] इति अतिथिभोजना-त्पूर्वमुपासकस्य यजमानस्य भोजनं प्रतिपादयन्त्या श्रुतेः प्राणाहुतावादरदर्शनात् तमादरं प्रख्यापयितुमेवातिथिभोजनस्य प्राथम्यं निन्दति । **'यथा ह वै स्वयमहुत्वाग्निहोत्रं परस्य जुहुयात्तादृक् तत्स्याद् ।'**[4] इति तस्मात्प्राणाहुतेरलोप इति प्राप्ते ब्रूमः— **'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्'** [छा. उप. ५-१९-१] इति भोजनार्थान्नस्य होमद्रव्यत्वश्रवणात् । भोजनलोपे द्रव्याभावादाहुतिः लुप्यते । आदरस्तु भाजनपक्षे प्राथम्युविधानाय भविष्यति । तस्माद्भाजनलोपे प्राणाहुतिर्लुप्यते ॥[5]

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देया(द्) विद्यातीर्थमहेश्वरः ।

॥ इति श्रीमद्राजाधिराजराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक श्रीवीरबुकभूपालसाम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने[6] पञ्चमस्याध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः ॥

समाप्तश्चाध्यायः ॥ ५ ॥

---

१. ब्र. सू. न्या. पृ. ७४६

२. भोजनेन-म.

३. जावालश्रुतिवचनम्-द्र. ब्र. सू. शा. भा. ३-३-४०

४. जाबालश्रुतिवचनम्-द्र. ब्र. सू. शा. भा. ३-३-४०

५. इति वेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने पञ्चमाध्यायस्य चतृर्विंशः खण्डः ।-अ. पा.-म.

६. ०व्याख्ज्ञाने पञ्चमाध्यायः समाप्तः ।

श्रीसायणार्यविरचितायां छान्दोग्यदीपिकायां

षष्ठोऽध्यायः

॥ श्री वरद ॥

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम् ॥

प्राक् '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्**' [छा. उप. ३-१४-१] इत्यत्र ब्रह्मणो[1] जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणत्वमभिहितं समनन्तरं च '**एकस्मिन् विदुषि भुंक्ते सर्वं जगत्तृप्यति**' इति यदुक्तं तदात्मन एत्वेन सर्वभूतात्मकत्वे[2] घटते नान्यथेति ब्रह्मणो जगदुपत्तिस्थितिलयकारणत्वेनात्मैकत्वं चेदानीं षष्ठाध्याये प्रतिपाद्यते । तत्र प्रथमं तावदाख्यायिकयेतरविद्याभ्यो ब्रह्मविद्याया उत्कृष्टतमत्वं[3] दर्शयितुमुपक्रमते--

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस ॥

श्वेतकेतुरिति ॥ श्वेतकेतुनामा ह इत्येति[ह्य ?]द्योतनार्थः । आरुणेयः अरुणस्य पौत्रः आरुणेः पुत्रः आस बभूव ॥

ततः किमित्यत्राह--

तꣳह पितोवाच—श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम् । न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥ [१] ॥

तं हेति ॥ तं श्वेतकेतुनामानं पुत्रं विद्यायोग्यं[4] मत्वा पितारुणिः[5] स्व[य]मरण्यं गन्तुकामस्तस्योपननं कृत्वा[6] उपनयनकालातिक्रमं च पश्यन्नेवमुवाच—हे श्वेतकेतो त्वं अस्मत् कुलस्यानुरूपं गुरुं गत्वा ब्रह्मचर्यं नियमपूर्वकस्वाध्यायग्रहणमुद्दिश्य वस निवासं कुरु गुरुकुले । हे सोम्य, न चै[7]तद्युक्तं यदस्मत्कुलीनोऽननूच्य(च्या)नधीत्य ब्रह्मबन्धुरिव यो ब्राह्मणान् बंधूनुपदिशति केवलं न स्वयं ब्राह्मणविहितकर्माणि कुरुते स ब्रह्मबन्धुस्तद्भवतीति ॥

---

१. ब्रह्मणे—म. २. ०त्मत्वे—म. ३. उत्तमत्वम्—म.
४. अनुपनीतम्—म. ५. अपि आरुणिः—म. ६. अकृत्वा—म. ७. वै—म.

ततः किमित्यत्राह—

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विꣳशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय ॥

स हेति ॥ स[1] एवं पित्रानुज्ञातः श्वेतकेतुः द्वादशवर्षः सन् आचार्यमुपेत्य स्वशाखापुरःचतुर्विंशतिवर्षः यावच्चतुर्विंशतिवर्षो बभूव तावत्सर्वान् चतुरो[2] वेदानधीत्य अनुसरं गृहीत्वा तदर्थं च बुद्ध्वा महामनाः महद्गभीरं मनो यस्य स महामनाः, अप्रणतचानमानी अनूचानमात्मानं मन्यते यः सोऽनूचानमानी स्तब्धः स्वस्याधिकबुद्ध्याप्रणतस्वभावः एयाय, स्वगृहान्पुनराजगाम ॥

ततः पितुर्वचनं दर्शयति—

तꣳह पितोवाच ॥ [२] श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनुचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतꣳश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञानं विज्ञातमिति ॥

तं हेति ॥ तमागतमनूचानमानिनं स्तब्धं पुत्रं दृष्ट्वा पितारुणिरुवाच, सन्मार्गतारूप[3]चिकीर्षयैवमुक्तवान्—हे सोम्य श्वेतकेतो यदिति क्रियाविशेषणं नु वितर्के । यदिदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽसि अयं तवातिशयः कुतः, आचार्यात्तत्रासः[4] उत अपि च तमादेशं, आदिश्यत इत्यादेशः केवलशास्त्राचार्योपदेशगम्यः । यद्वा येन परं ब्रह्मोपदिश्यते स आदेशस्तमप्राक्ष्यः पृष्टवानसि का क्वैनदवगम्यते नो वेति येनादेशेन श्रुतेनाश्रुतमपि श्रुतं भवति, अमतमतर्कितं मतं तर्कितं भवति, अविज्ञातम् अनिश्चितमपि विज्ञातं[5] निश्चितं भवतीति । यावदद्वितीयसच्चिदानंदात्मतत्त्वं न जानाति तावत् सर्वानपि वेदानधीत्य सर्वं चान्यद् वेद्यमधिगम्याप्यकृतार्थ एव । प्रत्युत मदमात्सर्यादिहेतुत्वादन्यत्सर्वमनर्थायैव भवतीत्याशयः ॥

ततः पुत्रस्य प्रश्नं दर्शयति—

कथं नु भगवः स आदेशो भवति ॥ [३]

कथमिति ॥ तदेतद्विचित्रं श्रुत्वा जिज्ञासुः पुत्रः[6] कथं नु केन प्रकारेण भगवो हे भगवन् स आदेशो भवतीति पितरं पृच्छति ॥

---

[1] नास्ति—म. [2] चतुरोऽपि

[3] ०र्गवताचरण०—म. [4] आचार्यात् प्राह——[5] ज्ञातम्—म.

[6] 'जिज्ञासुः पुत्रः'—नास्ति—म.

पितुरुत्तरं दर्शयति--

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातꣳस्यात् , वाचारम्मणं विकारो ना[म]धेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ [४] यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् । [५] यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात् , वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्यमेव सत्मेवꣳसोम्य स आदेशो भवति ॥ [६] ॥

यथेति ॥ यथा स आदेशो भवति तथा वक्ष्यामि । हे सोम्य त्वमवहितचित्तः सन् तच्छृण्विति पितोवाच–यथा लोके एकेन मृत्पिण्डेन घटशरावादिकारणभूतेन विज्ञातेन सर्वमन्यं मृण्मयविकारजातं विज्ञातं स्यात् , कारणादनन्यत्वात् कार्यस्य । यदि कारणात्कार्यं न भिद्यते तर्हीदं कारणमस्य कार्यमिति पृथक्व्यवहार इति मनुषे मैवं मंस्थाः वाचारम्भणं वागावलम्बनमेतत् । कोऽयं विकारो नामयेयं नाधेव केवलं, विकारो नाम परमार्थतः कारणादन्यं नास्ति । मृत्तिकेन(व) तु सत्यम् । किं च[1] हे सोम्य शृणु । यथा लोके एकेन लोहमणिना सुवर्णपिण्डेन सर्वमन्यं लोहमयं तद्विकारजातं कटकमुकुट[2]केयूरादिकं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणमित्यादि पूर्ववत् । अपि च हे सोम्य एकेन नखनिकृन्तेन कृष्णायसपिण्ड उपलक्ष्यते तेन[3] विज्ञानेन सर्वं कृष्णायसं कृष्णायसविकारजातं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणमित्यादि पूर्ववत् । एवं हे सोम्य स मयोक्त आदेशो भवतीति । अनेकदृष्टान्तोपादनं दार्ष्टान्तिकेऽप्यनेकभेदानुगम प्रतिपत्त्यर्थं दृढं प्रतिपत्त्यर्थं वा ॥

पुनः श्वेतकेतोर्वचनं दर्शयति—

न वै नूनं भगवन्तस्त्र एतदवेदिषुर्यद्धैँ[4]तदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣳस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति[5] ॥

---

१. ‘ किं च ’–नास्ति–म.

२. ०मकुट०–म.

३. उपलक्ष्य तेन–म.

४. ०यद्धये०–मुपा.

५. मे ब्रवीत्विति ।–मुपा.

न वै नूनमिति ॥ भगवन्तः: पूजावन्तो मे मम गुरवः ते नूनं[1] प्रायेणैतद्भवद्भिरुक्तं वस्तु न अवेदिषुः वि[2]ज्ञातवन्त एव । यद्ध यदि ह्यवेदिष्यन् ज्ञातवन्तः कथं ते रागादिरहिताः गुरवो मे गुणवते भक्ताय मह्यं नावय(क्ष्य)न् नोक्तवन्तः । ततोऽहमेवं मन्ये सर्वातमा(त्म ?)ना त्वदुक्तं[3] वस्तु न विजानन्तीति । एतदवक्तव्यमपि गुरुविषयं न्यक्कारवचनं पुनर्गुरुकुलं प्रति प्रेषणभयात् श्वेतकेतुरुक्तवानिति द्रष्टव्यम् । अतो भगवान् पूज्य एव पिता मे मह्यं येन ज्ञातेन सर्वज्ञत्वं स्यात्तद्वस्तु ब्रवीतु कथ(य)तु इति श्वेतकेतुरब्रवीदित्यर्थः ॥

पुनः पितुर्वचनं दर्शयति–

तथा सोम्येति होवाच [७] ॥

तथेति ॥ हे सोम्य तथास्त्विति पितोवाच ह ॥

इति छान्दोग्यदीपिकायां षष्ठाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥

कथमुक्तवानित्यत्राह–

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥

सदेवेति ॥ हे सोम्य श्वेतकेतो शृणु । अग्रे जगदुत्पत्तेः पूर्वम् इदं नामरूपक्रियाभिर्विकृतमुपलभ्यमानं जगत्सन्मात्रं यद्वस्तु सूक्ष्मं निर्विशेषं सर्वगतं निरञ्जनं नित्यं निरतिशयं च सर्वोपनिषद्वेद्यं तदेवासीत् ।

ननु किमिदानीमिदं जगदसत् येनाग्रे[4] सदासीदिति विशेष्यते । मैवम् । इदानीमपि सदेव । कथं हि तर्हीदं विशेषणमग्र इति, न ह्यग्र इत्यनेन विशेषणेन इदानींतनं सत्त्वं निवर्त्यते । किं तु यज्जगत् इदानीं नामरूपक्रियाभिर्विकृतत्वम् इदंशब्दबुद्धिविषयत्वं च तदुत्पत्तेः प्राग् नास्ति । किन्तु केवलमविकृतं सच्छब्दबुद्धिमात्रमवगम्यते एवेत्यवधार्यते । सदेवेदमग्र आसीदिति ।

नन्विदानीं नामरूपक्रियाभिः विकृततया परिदृश्यमानस्य जगतस्तदानींतनं सत्तामात्रं कथमवगम्यत इति चेत्–मैवम् । यथा कश्चिल्लोके प्रातः कुलालेन घटादिसिसृक्षुणा मृत्पिण्डं प्रसारितमुपलभ्य ग्रामान्तरं गत्वा पुनः प्रत्यागतस्तत्रैव सायं काले घटशरा-

---

[1] ‘नूतम्’–नास्ति–म.

[2] अवि०–म.

[3] तदुक्तम्–भा.

[4] जगत् असदात्मनाग्रे–म

वाद्यनेकं कार्यं दृष्ट्वा मृदेवेदं घटशरावादिकं प्रातःकालेऽभूदित्यवधारयति । तद्वन्निर्धारयितुं शक्यत्वात् ।

ननु तर्हि यथा लोके तन्त्वादीनि कारणानि स्वगतभेदवन्त्येव कार्यं पटादिलक्षणं जनयन्ति तद्वत्किं सदपि जगज्जनयति—नेत्याह एवमिति । यथाकाशं स्वगतभेदरहितं शब्दादिकार्यमुत्पादयति तद्वदिदमपीत्यर्थः ।

ननु तर्हि यथाकाशं सजातीयद्रव्यान्तरव[1]द्भिद्यते तद्वदिदमपि किं सजातीयभेदवान्[2] नेत्याह एवेति । ननु तथापि यथा मृदादिकं विजातीयकुलालादिकमपेक्ष्य घटादिकमुत्पादयति तद्वदिदमपि किं स्वव्यतिरिक्तं कारणमपेक्षते—नेत्याह अद्वितीयमिति । यथा मृदादिकं कुलालादिनिमित्तकारणमपेक्षते तथा सत्स्वव्यतिरिक्तं सहकारिणं नापेक्षते । किन्तु यथा जलधिस्तरङ्गबुद्बुदाद्यनेकभेदात्मना विकृतो भवति तद्वज्जगदात्मना[3]स्वयमेव विवर्तत इत्यर्थः ।

ननु जगतः सत्सामानाधिकरण्यमुत्पत्तेः प्राक्कारणस्य सत्त्वं च वैशेषिका अप्यङ्गीकुर्वन्ति । तन्मतादस्य पक्षस्य को भेद इति चेत्—सत्यम् सद्द्रव्यं सन् गुणः सत्कर्मेत्येवं द्रव्यादिरूपस्य जगतः सत्सामानाधिकरण्यं तैरङ्गीक्रियते तथापि न ते जगतः प्रागुत्पत्तेः सदात्मकत्वमङ्गीकुर्वन्ति कार्यकारणयोरत्यन्तभेदाभ्युपगमात् कार्यस्य च प्रागुत्पत्तेः (तेर) सत्वाङ्गीकाराच्च । किंच न तेषां मते कारणमेवाद्वितीयं परमाणूनामदृष्टेश्वरादिनिमित्तकारणापेक्षायां परस्परसंयोगसमवायिकारणसापेक्षाणामेव कार्योत्पादकत्वमित्यस्ति महान् विशेषस्तन्मतादस्य पक्षस्य विमृश्य प्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इति ॥

निर्णयलक्षणत्वात्[4] परपक्षनिरासमन्तरेण वस्तुनिश्चयाभावात् महावैनाशिकपक्षं दूषयितुमुपस्थापयति—

तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायतेति[5] ॥ [१] ॥

तद्धैकेति ॥ तत्तत्र प्रागुत्पत्तेर्वस्तुनिरूपण एके महावैनाशिका वस्तुनिरूपयतः आहुः—उत्पत्तेः प्रागिदं जगदसदेवासन्मात्रमेकमेवाद्वितीय[6]मासीत्तस्मादसतः सज्जायतोत्पन्नमिति ।

---

१. 'द्रव्यान्तरवद्–नास्ति'–म, २. ०दवत्–म.

३. तदा सदात्मना–म.

४. लक्षणात्–म

५. ०जायत–मुपा.

६. 'मात्र......यमा'–नास्ति–म.

ननु यदि प्रागुत्पत्तेरभावमात्रं तत्त्वं तर्हि तस्य कथमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयेमिति । कालसंबन्धः संख्यासंबन्धोऽद्वितीयत्वं चोपपद्यते । तदनुपपत्तौ चेदं वाक्यप्रमाणं प्रसज्येत, नैष दोषः सत्प्रतिपत्तिनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य । तथा हि–सदित्ययं शब्दः सदाकृतिवाचकः । एकमेवाद्वितीयमित्येतौ च सच्छब्दःसमानाधिकारणौ तदथेदमासीदिति च तत्र प्रयुक्तो नञ् सद्वाक्यमेवावलम्ब्य सद्वाक्यार्थगोचरां प्रतिपत्तिं सदेकमेवाद्वितीयमिदमासीदियेवंरूपां सद्वाक्यार्थां[1] निवर्तयति । यथा गजारूढः पुमान् गजावलम्बनो गजं तदभिमुखाद्विषयान्निवर्तयति तद्वन्न पुनः सदभावमे[2]वाभिधत्ते ॥

अतः पुरुषस्य विपरीतप्रतिपत्तिनिवृत्तिपरत्वादसदेवेदमग्र आसीदित्येतस्य वाक्यस्य प्रामाण्यं सिद्धं[3] दर्शयित्वा विपरीतप्रतिपत्तिं ततः पुरुषं निवर्तयितुं शक्यत इति विपरीतग्रहणं महावैनाशिकपक्षं दर्शयित्वेदानीं तन्निराचष्टे–

कुतस्तु खलु सोम्यैवꣳस्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायतेति ॥

कुतस्त्विति ॥ हे सोम्य, कुतस्तु कस्मात्प्रमाणात्खलु एवमसतः सज्जायेत इति स्याद् भवेत् । कस्मादपि प्रमाणादेवं न संभवति । अतो सतः सज्जायनेत्ययं पक्षः कथं[4] न कथंचिदुपपद्यत इत्यारुणिरुवाचेत्यर्थः ।

ननु कथं प्रमाणाभावतः[5] बीजोपमर्देनाङ्कुरोत्पत्तेर्दृष्टत्वात् व्याप्तिग्रहणसंभवेनानुमानादेवासतः सउ(दु)त्पत्तेरवगमात् । तथा हि[6]–यज्जायते तदसतः[7] यथाङ्कुरस्तथा चेदं जगज्जायत इति । तदसत्, अभ्युपगमविरोधात्तेषाम् । तथा हि–किमङ्कुरजन्मनि बीजावयवानामुपमर्दः आहोस्विद्बीजाकारसंस्थानस्य, नाद्यः ये बीजसंस्थानविशिष्टा बीजावयवास्तेऽङ्कुरेऽप्यनुवर्तत एव[8] न तेषामुपमर्दोऽस्त्यङ्कुरजन्मनि तद् उपमर्दनवत्य[9] भावप्रसङ्गात् । न द्वितीयः बीजाकारसंस्थानस्य बीजावयवव्यतिरेकेण वस्तुत्वाभावात् ।

---

[1] एवंरूपाद्वाक्यार्थात्–म

[2] 'सद्भावम्'–नास्ति–म.

[3] ०ण्यसिद्धिम्–म.

[4] 'कथम्'–नास्ति–म.

[5] ०भाववतः–म.

[6] 'तथा हि'–नास्ति–म.

[7] असतः सज्जायते सदसतः–म.

[8] इव–म.

[9] ०मर्देन वृत्य०–म

अथ बीजाकारसंस्थानमवयवव्यतिरिक्तं किञ्चिद्वस्तुभूतं भवेत् । तथा च सत्यभ्युपगमविरोधः ।

ननु सत्यवृत्या[1]भ्युपगतं बीजाङ्कुरसंस्थानमङ्कुरजन्मन्युपमृद्यत इति चेत् केऽयं संवृत्तिर्नाम किमसावभावरूपा दु(उ)त भावात्मिका । नाद्यः[2]दृष्टान्ताभावात् । न द्वितीयः सातीसंवृत्तिश्चेति विप्रतिषेधात् । भवतु यथा कथंचित्सा तथापि नाभावादङ्कुरोत्पत्तिः किन्तु बीजावयवेभ्यः ।

ननु तेऽप्युपमृद्यन्त इत्युच्चत इति चेत्, न तेषामप्यवयवित्वेन स्वा[व]यवव्यतिरिक्तानामभावात्। यथा बीजसंस्थानरूपोऽप्यवयवी नास्ति तथावयवसंस्थानरूपोऽप्यवयवी स्थानव्यतिरिक्तः कश्चिन्नास्त्येव ।

नन्ववयवानामप्यवयवा उपमृद्यन्त इति चेत्, एवं तर्हि तेषामप्यवयवान्तरसद्भावात् तेषामप्युपमर्देन अ[न][3]वस्थाप्रसङ्गेन मूलहानेर्दृष्टान्ताभावः प्रसज्येत । तस्माद्व्याप्तिग्रहणाभावादसतः सज्जायत इत्यत्र नानुमानं प्रवर्तेत । प्रमाणा[4]न्तरस्य चाऽनङ्गीकारादसत[ः]सज्जायत इत्यत्र प्रमाणाभावसिद्धः[5] । सिद्धादीनां तु सतो मृत्पिण्डात् घटाद्युत्पत्तेर्दृष्टत्वात् व्याप्तिग्रहणसंभवेन प्रागुत्पत्तेः कारणस्य सत्वमनुमातं शक्यमेव ।

ननु यदि सतः सदुत्पत्ति[7]स्तर्हि मृद्बुद्धिघटबुद्धेर्निमित्तम् इति कथमद्वैतवादिभिरुच्यते इति चेत्सत्यम् । तस्यायमभिप्रायः–मृद्बुद्धेर्घटबुद्धि[8]रुत्पद्यते न तु परमार्थतो मृद्घटो[9] वाप्यस्तीति तत्रापि मृद्बुद्धिर्विद्यमानैव[10] घटबुद्धेः कारणमिति नासतः सदुत्पत्तिस्तैरङ्गीक्रियते ॥

एवमसतः सदुत्पत्तिं प्रमाणाभावेन निराकृत्योपसंहरति––

सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ [२] ॥

---

१. 'सत्यवृत्या'–नास्ति मा.

२. अत्यन्ताभावरूपा संवृत्तिश्चेति प्रतिषेधात्–म.

३. 'तेषा....न०'–नास्ति–म.

४. प्रा(प्रभा ?) णा०–मा.

५. ०भावः सिद्धः–म.

६. सद्वादीनां तु–म.

७. स (त् ?) त्पत्ति–मा.

८. ०बुद्धिः–म.

९. ०सत्प...मृद्घटो–नास्ति–म.

१०. ०दिनैव–म.

सत्वेवेति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ।

ननु सद्वादिनोऽपि तव सतः सउ(दु)त्पत्तिर्विद्यत इति व्याप्तिर्नास्ति, घटात् घटान्तरोत्पत्तेरदर्शनादिति चेत्. सत्यमेवं न सतः सदन्तरमुत्पद्यते । किं तर्हि तदेव संस्थानान्तरेणावतिष्ठते । यथा सर्पः कुण्डलीभवति यथा वा मृत्पिण्डो घटकपाला[1]दिप्रकारै[2]स्त द्वत्सदेकमेव[व]स्तु जगदात्म[2]ना विवर्तत इति ब्रूमः ।

ननु निरवयवं '**निष्क्रियं शान्तं निरवद्यम्**' [श्वे. उप–६–१९] इत्यादि श्रुतिभिर्निरवयत्वेनावगम्यमानस्य तस्य कथं विकारसंस्थानमुत्पद्यत इति चेत् नैव दोषः । रज्वावयवेभ्यः सर्पादिसंस्थान[3]बुद्धिकल्पितेभ्योऽवयवेभ्यो विकारसंस्थानोऽत्पत्तेः । किमित्येवं कल्पनेति चेत् , '**मृत्तिकेत्येव सत्यम्**' [छा.उप ६–१–४] सदेव सत्यमिति श्रुतिबलादिति ब्रूमः ॥

एवं प्रागुत्पत्तेः सदेकमेवाद्वितीयं कारणं ब्रह्मेति प्रतिपाद्येदानीं जगदुत्पत्तिप्रकारं दर्शयितुमुपक्रमते–

तदैक्षत ॥

तदैक्षतेति ॥ तत्स दैक्षत इक्षां चक्रे दर्शनं कुरुतेत्यर्थः ।[4] एतदुक्तं भवति–यथा सांख्यपरिकल्पितं प्रधानमन्यैः परिकल्पितं परमाण्वादिकं वाचेतनमेव जगत्कारणं तथेदं न भवति । किन्तु चेतनमेव सत्कारणम् , ईक्षितृत्वादिति ॥

कथमैक्षतेत्यत्राह—

बहु स्यां प्रजायेयेति ॥

बहु स्यामिति ॥ बहु प्रभूतं स्यां भवेयं प्रजायेय प्रकर्षेणोत्पद्ये[5] । यथा मृद्घटाद्याकारेण यथा वा रज्वादि सर्पाद्याकारेण विक्रियते तद्वज्जगदात्मनाहं विक्रियेतयर्थः[6] !

ननु तर्हि गृह्यमाणस्य जगतो रज्वादौ सर्पादे[7]रिवासा(स ?)त्वं प्रसज्येत[8] इति

---

१. ०करका०–अपा.–म.

२–२ ०रै...त्मना'–तुटितपाठः–म

३. ०नवद०–म

४. ०नमकरोत् उतेत्यर्थः–म

५. ०पद्ययेम्–म.

६. ०येयेत्यर्थः–म.

७. सर्पादि–म

८. प्रसज्यत–म.

चेत्, न[1] । सत एव द्वैतप्रपञ्चात्मनान्यथा[2] गृह्यमाणत्वात् न कस्यचिदसत्वमिति ब्रूमः । यथा नैयायिकादयः सतोऽन्यद्वस्त्वन्तरं परिकल्प्य तस्यैव प्रागुत्पत्तेः प्रध्वंसाच्चोर्ध्वमसत्वं वर्धयन्ति, न तथा वयं कदाचिदपि[3] सतोऽन्यदभिधानमभिधेयं वा वस्तु परिकल्पयामः । सदेव तु सर्वमिदमभिधानाभिधेयभेदेन प्रतीयते[4] । सद्विवेकदर्शनरहितानां पुंसां विवेकदर्शिनां तु यथा रज्ज्वादौ सर्पादिबुद्धिर्निवर्तते तद्वदियमभिधानाभिधेयरूपः जगदध्यासो निवर्तते । तथा च श्रूयते **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** (तै. उप. २--४) **'अनिरुक्तेऽनिलयने'** (तै. उप. २-७) इति च ॥

ततः किमित्यत्राह-

तत्तेजोऽसृजत ॥

तत्तेज इति ॥ तत्सदात्मकं ब्रह्म यत्र (तत्र ?)मीक्षणानन्तरं[5] तेजोऽसृजत तेजः[5] ससर्ज ।

ननु श्रुत्यन्तरे **'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः'** [तै. उप. २-१] इति सृष्टिक्रमोऽन्यथा पठ्यते । तस्मात् विरोधः स्यादिति चेत्, नैष दोषः । आकाशवायू सृष्ट्वा पश्चात्त[6]त्तेजोऽसृजतेत्यविरोधेनार्थवर्णनोपपत्तेः, यद्वा नात्र सृष्टिक्रमो विवक्षितः । किन्तु सत एवेदं सर्वं जगदुत्पद्यत इत्येतावन्मात्रस्य विवक्षितत्वात् मृदादिदृष्टान्तेभ्यः, यद्वा त्रिवृत्करणस्य विवक्षितत्वादाकाशवाय्वोरनुपादानमित्यविरोधः । तेजश्चोष्णस्पर्शं शुक्लभास्वररूपवद्रूपादिवस्तुप्रकाशकं लोकप्रसिद्धम् ।

ततः किमित्यत्राह-

तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति ॥

तत्तेज इति ॥ तदेवं प्रसिद्धं सता सृष्टं तेज ऐक्षत सदेव तेजोरूपमुत्पन्नमेवमीक्षण[7]मकुरुत बहु प्रभूतं स्यां[7] प्रजायेय प्रकर्षेणोत्पद्येयेति ॥

---

१. मैवम्-म.

२. ०ना नान्यथा-म.

३. क्वचिदपि-म.

४. ०नाप्रतीयते-म.

५...५ रं... तेजः -नास्ति-म.

६. तदनन्तरम् -अपा. -म.

७...७ ०म ..स्याम् -नास्ति -म.

ततः किमित्यत्राह–

तदपोऽसृजत ॥

तदप इति ॥ तत्सदात्मकं चेतनं तेजो या ह सांसिद्धिकद्रवा[1]स्यंदिनः शुक्लगुणाश्चापो लोके प्रसिद्धाः, ता आपोऽसृजन्त ॥

कथमपां तेजःकार्यत्वमित्यत्राह[2]–

तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥ [३]

तस्मादिति ॥ यस्मादापस्तेजस उत्पन्ना[3]स्तस्माद्यत्र क्व च देशे काले वा पुरुषः शोचति संतप्यते स्वेदते प्रस्विद्यते वा तत्तदा तेजस एवापोऽधिजायन्ते । अनुभवसिद्धमपां तेजःकार्यत्वमित्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह–

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ॥

ता आप इति ॥ पूर्ववदक्षरार्थः । तेजोद्वारा वाकारसंस्थितं सदैक्षतेत्यभिप्रायः ॥

ततः किमित्यत्राह–

ता अन्नमसृजन्त ॥

ता अन्नमिति ॥ तास्तेजसा सृष्टा आपोऽन्नं गुरुः स्थिरःस्वभावं कृष्णाद्यनेकरूपत्वचयतरार्थिवं(?)व्रीहियवादिरूपं[4] तदसृजन्त उत्पादयामासुः ॥

कथमप्कार्यत्वमन्नस्येत्यत्राह–

तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति । अद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ [४] ॥

॥ इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥[5]

---

[1] द्रवाः...स्य–त्रुटितपाठ–म.

[2] कथमसृजतेत्यत्राह–म.

[3] उत्तमा; (?) –म.

[4] प्रसिद्धम् –अपा –म

[5] 'इति....खण्डः' –नास्ति–म.

तस्मादिति ॥ यस्माददृभ्योऽन्नं जायते तस्माद्यत्र क्व च देशे वर्षति पर्जन्यस्तत्रैव भूयिष्ठं प्रभूतमन्नं भवति । अतोऽद्भ्य एव तदन्नाद्यम् अन्नं च तदाद्यं चेत्यन्नाद्यमधिजायते । अन्वयव्यतिरेकसिद्धमुदककार्यत्वमन्नस्येत्यर्थः ।

ननु तेजःप्रभृतीनामचेतनानां कथमीक्षितृत्वम्, अचेतनत्वं च तेषां चेतनाधितिष्ठत्वमन्तरेण हिताहितप्राप्त्यप्राप्तिहेतुप्रवृत्तिनिवृत्त्योरनुपलम्भात् चेतनाधिष्ठितानां[1] तदनुपलंभादनुमीयत इति चेत्, नैष दोषः। तेजः प्रभृतीनां सदैक्षितृकारणजन्यामीक्षितृत्वोपचारेण मुख्येक्षितृत्वानङ्गीकारात् ।

ननु सतोऽपीक्षितृत्वमुपचरितमिति चेत्, न । सदीक्षणस्य केवलशब्दगम्यत्वेनोपचारकल्पनानुपपत्तेः तेजःप्रभृतीनां त्वनुमानविरोदी(धी)क्षितृत्वोपचारकल्पना युक्ता ।

ननु सतोऽप्यचेतनत्वं मृदादिवत्कारणत्वेनानुमातुं शक्यमिति चेत्, न । तस्याचेतनत्वे नियतकालक्रमविशिष्टकार्योत्पादकत्वानुपपत्तेः ।

ननु प्रधानवदचेतनस्यैव चेतनार्थत्वेन नियतकालक्रम[1]विशिष्टकार्योत्पादकत्वेन मुख्येक्षितृत्वा[2]भावादुपचरितमे[3]वेक्षितृत्वं दृष्टं लोके च कूलं पिपतिष्यतीत्यादावचेतनेष्वपि चेतनत्वोपचार इति चेत्, मैवम् । **'तत्सत्यं स आत्मा'** (छा. उप. ६–८–७; ६–९–४; ६–१०–३; ६–११–३; ६–१२–३; ६–१३–३; ६–१४–४; ६–१५–३; ६–१६–३) इत्यत्र सत आत्मत्वोपदेशात् ।

ननु सोप्युपचरित एव **'यथा ममात्मा तद्रसेन**[4] [?] इति सर्वव्यवहारकारिण्यात्मनि । तद्रसेन[5] इ[ति] आत्मोपचारस्तद्वदिति चेत्, न । सदस्मीति सत्तादात्म्यापरोक्षानुभववत्[6] । जीवन्मुक्तस्य **'तस्य तावदेव [चिरं] यावन्न विमोक्ष'** [छा. उप. ६–१४–२] इति मोक्षोपदेशात् । ननु यथा ग्रामं गन्तुकामः प्रस्थितः सन् स्वकीयत्वरापेक्षया ग्रामं प्राप्तोऽस्म्यहमित्युपचाराद् ब्रवीति तद्वन्मोक्षोपदेशो[7]ऽप्युपचरित एवेति चेत्, मैवम् । **'येन विज्ञातेन [अविज्ञातम्] विज्ञातं भवति**[8]

---

१. ० घिष्ठिता–म.

२. ० तकालिक०–म०

३. ० त्वाभावे०–म.

४. भद्रसेन–म.

५. भद्रसेने–म.

६. ०भवतो–म.

७. मोक्षोऽपिप्यु०–म.

८. येन विज्ञातं विज्ञातेनाविज्ञातम् भवति–म.

[द्र. छा. उप. ६–१–३] इत्युपक्रम्य सत्येकस्मिम् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीति श्रुत्या सत्तादात्म्यापारोक्षविज्ञानवतः सर्वज्ञ[1]त्वप्रतिपादने नावशिष्टस्य ज्ञातव्यस्य[2] श्रुत्या लिङ्गतोऽनुमेयस्य वा कस्यचिदभावेन[3] मोक्षोपदेशोपदेशोपचारकल्पनानुपपत्तेः । किं च न्यायानुगृहीतया श्रुत्या समधिगतस्यार्थस्य केवलतर्केण निराकर्तुमशक्यत्वात् । सर्वस्य प्रपाटकार्थस्योपचारकल्पनानुपपत्तिः । तथा च श्रुतिः-'**नैषा तर्केण मतिरापनेया**' [कठ उप. २–९] इति । तथा चाहुः-**धीधनबाधनायास्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छय क्षेप्तुंश्चिन्तामणिं प्राणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ**' इति ॥ तस्मात् सतो मुखमेवेक्षितृत्वमिति । सच्चेतनमेव जगतः कारणमिति सिद्धम् ।

'**तदैक्षत**' [छा. उप. ६–२–३] इत्यत्र ब्रह्मपरत्वं प्रथमाध्यायस्य प्रथमापादे पञ्चमाधिकरणे निर्णितम् । तद्यथा--

तदैक्षतेति वाक्येन प्रधानं ब्रह्म वोच्यते[4] ।
ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात्प्रधानं सर्वकारणम् ॥
ईक्षणाच्चेतनं ब्रह्म क्रियाज्ञाने तु मायया ।
आत्मशब्दात्मतादात्म्ये प्रधानस्य विरोधिनी ॥[5]

छान्दोग्यषष्ठाध्याये '**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**' [छा. उप- ६–२–१] इति प्रस्तुत्य '**तदे (दै)क्षत बहु स्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत**' [छा. उप. ६–२–३] इति श्रूयते । तत्र सांख्यो मन्यते–तच्छाब्दवाच्यं सर्व[6]जगत्कारणं प्रधानम् । प्रधानं तु ब्रह्म प्रधानस्य सत्त्वगुणयुक्ततया परिणामितया च ज्ञानशक्ति–क्रियाशक्ति–संभवान्निर्गुणस्य कुटस्थस्य ब्रह्मणस्तदसंभवादिति ॥

अत्रोच्यते–ईक्षितृत्वश्रवणाच्चेतनं ब्रह्म तच्छब्दवाच्यम्, अचेतनस्य प्रधानस्येक्षितृत्वायोगात् । ज्ञानक्रियाशक्ती तु ब्रह्मणि मायया संभविष्यतः । किं च '**अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**' [छा. उप ६–३–२] इति नामरूपव्याकर्त्री जगत्कारणदेवता स्ववाचकेनात्मशब्देन चेतनं जीवं व्यपदिशति । तथा—

---

[1] ०वतः सर्वज्ञ०—नास्ति–म.

[2] ज्ञातकस्य–म

[3] वाक्यस्याभावेन–म.

[4] चोच्यते–भा.

[5] ब्र. सू. न्या. पृ. १०२,

[6] सर्वम्–म.

'तत्त्वमसि।' [छा. उप. ६-१४-३] इति चेतनस्य श्वेतकेतोर्जगत्कारणतादात्म्यं गुरुरुपदिशति। त उभयमप्यचेतनस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वेन[1] विरुध्यते। तस्माच्चेतनं ब्रह्म तच्छब्देनोच्यते।

तस्य च ब्रह्मण उभयविधकारणत्वं तस्यैवाध्यास्य चतुर्थपादे सप्तमाधिकरणे वर्णितम्। तद्यथा—

निमित्तमेव ब्रह्म स्यादुपादानं च वै(वी)क्ष[2]णात्।
कुलालवन्निमित्तं [तन्] नोपादानं मृदादिवत्॥
बहु स्यामित्युपादानभावोऽपि श्रुत ईक्षितुः।
एकबुद्ध्या सर्वधीश्च तस्माद् ब्रह्मोभयात्मकम्॥[3]

जगत्कारणप्रतिपादकानि [स]र्वाणि वाक्यानि विषयः। तत्र किं ब्रह्म निमित्तकारणमेव उतोपादानकारणमपीति संदेहे निमित्तकारणमेवेति तावत्प्राप्तम्। कुतः **'तदैक्षत'** [छा. उप. ६-२-३] इतिं सृज्य[4]कार्यविषयपर्यालोचनश्रवणात्। पर्यालोचनं च निमित्तभूते कुलाल एव दृष्टं नोपादानभूतायां मृदि। तस्मान्निमित्तकारणमेवेति प्राप्ते ब्रूमः-**'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'** [छा. उप. ६-२-३] इतीक्षितुरेव प्रकर्षेणोत्पत्या बहुभावः श्रूयते। तत उपादानत्वमस्ति। किं च **'येनाश्रुतं श्रुतं भवति'** [छा. उप. ६-१-३] इत्यादिना ब्रह्मण्येकस्मिन्नश्रुते सत्यश्रुतमपि जगच्छ्रुतमेव भवतीति प्रतिपाद्यते। तदेतदेकविज्ञानेन सर्वमिदं[5] तच्च ब्रह्मणः सर्वोपादनत्वे सति ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्याणामभावादुपपादयितुं सुशकम्। केवलनिमित्तत्वे तु सर्वेषु कार्येषु सत्सु कथमेक[6]विज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिपाद्येत। तस्मादुभयविधकरणं ब्रह्म।

अत्रोक्तायाः सद्विद्यायाः काण्वशाखोक्तविद्यायाश्च भेदस्तृतीयाध्याये तृतीयपादेऽष्टमाधिकरणस्य द्वितीयवर्णके निवारितः। तद्यथा—

---

[1] ०कारणत्वम्-म.

[2] तयेक्ष-०म.

[3] ब्र. सू. न्या. पृ. ३३७

[4] सूक्ष्म०-म.

[5] सर्वविज्ञानम्-म.

[6] तामैक्षत-म.

द्वयोर्वस्त्वन्यद(दे)कं वा काण्वछान्दोग्यषष्ठयोः ।
उभयत्र पृथग्वस्तु सदात्मभ्यामुपक्रमात्[1] ॥

साधारणोऽयं सच्छब्द, स आत्मा तत्त्वमित्यतः ।
वाक्यशेषा[2]दात्मवाची तस्माद्वस्त्वेकमेतयोः ॥ [3]

काण्वषष्ठाध्याये **'कतम आत्मा'** [बृ. उप. ४-३-७] इत्यादि आत्मा प्रपञ्चितः । छान्दोग्यषष्ठे तु **'सदेव सोम्य इदमग्र आसीद्'** [छा. उपः ६-२-१] इति उपक्रम्य सद्वस्तु प्रपञ्चितम् । नहि सच्छब्दात्मशब्दौ पर्यायौ । तस्माद्वस्तुभेदे प्राप्ते ब्रूमः-सच्छब्दोऽयमात्मा नात्मसाधारणत्वात्संदिग्धः[4] । स च वाक्यशेषे स आत्मा **'तत्त्वमसि'** [छा. उप. ६-८-७] इति श्रवणात् आत्मवाची भवविष्यति । तस्मादेकमेवोभयत्र वस्तु । सदेवेत्युक्तस्य सद्वस्तुन उत्पत्तिर्द्वितीयाध्यास्य तृतीयपादे तृतीयाधिकरणे निवारिता । तद्यथा--

सद् ब्रह्म जायते नो नाकारणत्वेन[5] जायते ।
यत्कारणं जायते तद्वियद्वाय्वादयो यथा ॥

असतो कारणत्वेन खादीनां सत उद्भवात् ।
व्याप्तेरजादिवाक्येन बाधात्सन्नैव जायते ॥[6]

छान्दोग्ये **'सदेव सोम्येदमग्र आसीद्'** [छा. उप. ६-३-१] इति श्रूयते । तत्र सद्रूपं ब्रह्म जन्मवद्भवितुमर्हति । कारणत्वाद्वियदादिवदिति प्राप्ते ब्रूमः-सद्रूपं ब्रह्म न जायते । कुतः, तज्जनकस्य कारणस्य दुर्निरूपत्वात् । तथा हि-न तावदसत्कारणं, कथसमः सज्जायतेति निषेधात् । नापि सदेव सतः कारणं आत्माश्रयोपत्तेः ।[7] नापि वियदादिकं सतः कारणं वियदादीनां ततः सतो जायमानत्वात् । या तु व्याप्तिः यद्यत्कारणं तत्तज्जायत इति **'स एष महाजन आत्मा'** [बृ. आ. उप ४-४-२५] इत्यादि श्रुतिबाधात् । तस्मात् ब्रह्म नैव जायते ।

---

[1] ०त्मभ्यासयोस्तयोः-म.

[2] वाक्यशब्दा०-भा.

[3] ब्र. सू. न्या. पृ. ६९५

[4] न वा आत्मत्वात् सन्दिग्धम्-म.

[5] वा कारणत्वेन-मुपा. ब्र. सू. न्या ५१३;

[6] बृ. सू. न्या. पृ. ५१३ कारणत्वेन जायते-म

[7] ०जन्माश्रयोपपत्तेः-म.

तत्रैव चतुर्थपञ्चमाधिकरणैस्तेजोऽबन्नानि[1] विचारितानि। तेषु चतुर्थाधिकरणमारचयति-

ब्रह्मणो जायते वह्निर्वायोर्वा ब्रह्मसंयुतात् ।
तत्तेजोऽसृजतेत्युक्तेर्ब्रह्मणो जायतेऽनलः ॥

वायोरग्निरिति श्रुत्या पूर्वश्रुत्यैकवाक्यतः ।
ब्रह्मणो वायुरूपत्वमापन्नादग्निसंभवः ॥[2]

छान्दोग्ये '**तत्तेजोऽसृजत**' [छा. उप. ६-२-३] इति तेजसो ब्रह्मजननं[3] श्रूयते। तैत्तिरीयके '**वायोरग्निः**' [तै. उप. २-१] इति वायुजत्वम् । तत्र वायु(यो)रिति पञ्चम्या आनन्तर्यार्थस्यापि संभवात् । केवलब्रह्मजन्यं तेज इति प्राप्ते ब्रूमः-अनुवर्तमानेन संभूतशब्देनान्वितया वायोरिति पञ्चम्या उपादानार्थत्वस्यैव मुख्यत्वात् । उभयोः श्रुत्योरेक वाक्यत्वे सति वायुरूपादन्नाद् ब्रह्मणस्तेजो जायत इति लभ्यते ।

पञ्चमाधिकरणमारचयति--

ब्रह्मणोऽपां जन्म किं वा वह्नेर्नाग्नेर्जलोद्भवः ।
विरुद्धत्वान्नीरजन्म ब्रह्मणः सर्वकारणात् ॥

अग्नेराप इति श्रुत्या ब्रह्मणो वह्न्युपाधिकात् ।
अपां जन्म[4]विरोधस्तु सूक्ष्मयोर्नाग्निनीरयोः ॥[5]

यद्यपि '**तदपोऽसृजत**' [छा. उप. ६-२-३] '**अग्नेरापः** [तै. उप. २-१] इत्युभयोच्छान्दोग्यतैत्तिरीययोः तेज[ज]न्यत्वमेवपां श्रूयते तथापि न [त]द्युक्तं निर्वत्यनिवर्तकयोरग्निजलयो(यो)र्विरुद्धयोर्न हि हेतुहेतुमु(म)द्भाव इति पूर्वपक्षः । पञ्चीकृतयोर्दृश्यमानयोर्विरोधेऽप्यपञ्चीकृतयोः[6] श्रुतिद्वयानुसारेण तेजोरूपापन्नाद्ब्रह्मणोऽपां जनिरिति सिद्धान्तः ।

ता अन्नमसृजन्तेति श्रुतमन्नं यवादिकम् ।
पृथिवी वा यवाद्येव लोकेऽन्नत्वप्रसिद्धितः ॥

---

१. तेजावर्थानि (?)-म.

२. ब्र. सू. न्या. पृ. ५१४

३. ब्रह्मजत्वम्-म.

४. जनिर्०-मु. पा.; ब्र. सू. न्या. पृ. ५१७

५. ब्र. सू. न्या. पृ ५१७

६. 'विरोधे...वयोः-नास्ति-म.

भूताधिकारात् कृष्णस्य रूपस्य श्रवणादपि ।
तथाद्भ्यः पृथिवीत्युक्तेरन्नं पृथ्व्यन्नहेतुतः ॥[1]

छान्दोग्ये **'ता अन्नमसृजन्त'** [छा. उप. ६-२-४] इति अद्भ्योऽन्नस्य जन्म श्रूयते । तत्रान्नशब्दस्य लोके प्रसिद्धा व्रीहियवादिकमर्थ इति प्राप्ने ब्रमः–पृथिव्यनं[2]-शदार्थः । कुतः पञ्चमहाभूतसृष्टेरधिकृतत्वात् । किं च **'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य'** [छा. उप. ६-४-१] इति श्रुतम् । पृथिव्यां बहुलमुत्पद्यते । न तु व्रीह्यवादौ तथा **'अद्भ्यः पृथिवी'** [तै. उप. २-१] इति तैत्तिरीयश्रुत्यैकवाक्यताबलाद् अत्रान्नं पृथिवी । न चान्नशब्दस्य तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तिः कार्यकारणयोरन्नपृथिव्योरभेदविवक्षया तदुपपत्तेः, तस्मादन्नं पृथिवी ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां[3] षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

एवं तेजो[ऽबन्ना]नां त्रयाणां भूतानां सत उत्पत्तिमभिधाय तेषां त्रिवृत्करणस्य विवक्षितत्वादिदानीं पक्ष्यादीनां भूतानां बीजानि नियतानि दर्शयति––

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति ॥

तेषां खल्विति ॥ तेषां जीवाविष्टानामेषां प्रत्यक्षेण परिदृश्यमानानां[4] भूताना[5] पक्षिपशुस्थावरादीनां बीजानि त्रीण्येव भवन्ति न न्यूनानि नातिरिक्तानि चेत्यर्थ ॥

कानि तानीत्यत्राह––

आण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥ [१] ॥

आण्डजमिति ॥ अण्डाज्जातं अण्डजं अण्डजमेवाण्डजं पक्षिसरीसृपादि । यथा पक्ष्यादिभ्यः सजातीया पक्ष्यादयो जायन्ते नान्यद्विजातीयं तथान्यदप्याण्डजं सजातीयानामेव कारणमित्यर्थः ।

---

[1] ब्र. सू. न्या. पृ. ५१७

[2] ०न्यत्रान्नशब्दार्थः–म.

[3] सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने–म.

[4] 'तेषां...त्रिवृत्क०'–नास्ति–भ.

[5] 'परिदृश्यमानानाम्'–नास्ति–म.

[6] 'भूतानाम्'–नास्ति –म

ननु आण्डजाज्जातमण्डजमित्यण्डमेव बीजम् । ततः कथमण्डजं बीजमित्युच्यत इति चेत्-भवेदेवं यद्यस्वतन्त्रा श्रुतिः । [1]स्वतन्त्रात्सा(न्त्रा सा) । अतः[1] श्रुतिबलादण्डजमेव बीजमिति निश्चिनुमः । किञ्च अण्डजादीनामभावे सजातीयस्याण्डजादेव अभावो[2] दृश्यते । तत्सद्भावे च भाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामण्डजादीनामेव बीजत्वमङ्गीकुर्मः । तथा जीवाज्जातं जीवजम् । जीवशब्देन जरायूपलक्ष्यते पुरुषपश्वादि । तथो[3]द्भिनत्ति इत्युद्भित् तज्जमुद्भिज्जम् । उद्भिच्छब्देन व्रीह्यवादिकमभिधीयते । ततो जातं स्थावरमुद्भिज्जम् । सजातीयस्य स्थावरान्तरस्य कारणमित्यर्थः । स्वेदजादीनां[4] यथा संभवमण्डजादिष्वन्तर्भावो द्रष्टव्यः । अतस्त्रीण्येव बीजानीत्यवधार्यते । भवन्तु त्रीण्येव बीजानि ॥

ततः किमित्यत्राह—

सेयं देवतैक्षत ॥

सेयमिति ॥ सेयं प्रकृता सच्छब्दवाच्या तेजोबन्नानां भूतानां निदानभूता देवतैक्षत । यद्बहुभवनमुद्दिश्य प्रागीक्षणमहमकरवम् । तदिदानीमप्यनिष्पन्नमित्येवं[5] पुनरीक्षणमकुरुत ॥

कथमैक्षतेत्यत्राह—

हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥ [२] ॥

हन्ताहमिति ॥ हन्तेदानीमहमिमा[6] यथोक्तास्तेजोबन्नरूपास्तिस्रो देवता अनेन पूर्वसृष्टावनुभूतेन जीवेन प्राणधारणकर्तात्मना[7] चेतनरूपया विशिष्टेनानुप्रविश्य तेजोऽबन्नभूत[8]मात्राणां संसर्गेण प्राप्तविशेषविज्ञाना सति नामरूपे नाम च रूपं च नामरूपे व्याकरवाणि । एत[9]न्नामायमिदं रूपमिति विस्पष्टं व्याकुर्यामिति ।

१....१ स्वतन्त्रा तु...स्वतः—म.

२. भावो—भा.

३. ततो०—म.

४. स्वेदजानाम्—म.

५. एव—म.

६. कथं हन्तेदानीं इमाः—म.

७. ०रणकर्त्री आत्मना—म.

८. तेजोन्नभूत०—म.

९. एवम्—म.

नन्वसंसारिण्याः सर्वज्ञाया देवताया अनेकानर्थालयं देहं बुद्धिपूर्वकमनुप्रविश्य दुःखमनुभविष्यामीति संकल्पो न युक्तः । किञ्च स्वतन्त्राया देवताया अनुप्रवेशोऽपि कथमिति चेत्, भवेदेवं यद्यनिराकृतेन रूपेण स्वेनैव दुःखमनुभविष्यामीति संकल्पः स्यात् ।

नन्वेवं[1] कथं तर्हि **'अनेनजीवेनात्मानुप्रविश्य'** [छा. उप. ६-३-२.] इति वचनात् जैवेन[2] रूपेण देहमनुप्रविशामीति संकल्पः । जीवश्च देवताया बुद्ध्यादिभूतमात्रसंबन्धजनितमाभासमात्रं तथा च सत्याभासमात्रेण जीवरूपेणानुप्रविष्टा देवता न दैहिकैः[3] सुखदुःखादिभिः संबध्यते । यथादर्शे छायामात्रेणानुप्रविष्टः पुरुषो यथा वा जलादिषु छायामात्रेणानुप्रविष्टाः सूर्यादयः आदर्शोदकादिदोषैर्न संबध्यते । तथा च श्रुत्यान्तरे पटयते **'ध्यायतीव लेलायतीव'** [बृ. उप. ४-३-७] इति ।

ननु यदि छायामात्रो जीवस्तर्हि मिथ्या स्यात् । तथा च सति तस्य परलोकेहलोकादिचिन्ता न स्यादिति चेत्, मैवम् । सदात्मना तस्य सत्यत्वाभ्युपगमात् सर्वस्यापि नामरूपप्रपञ्चस्य सदात्मनैय सत्यत्वं, न तु स्वैनरूपेण **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'** [छा. उप. ६-१-४, ५, ६,] इत्युक्तत्वात् ॥

ततः किमित्यत्राह—

तासां त्रिवृतं त्रिवृत्तमेकैकां करवाणीति ॥

तासामिति ॥ एवं त्रिस्रो देवता अनुप्रविश्य स्वात्मन्यवस्थिते बीजभूते नामरूपे अव्याकृते व्याकरवाणीति ईक्षित्वा[4] तासां तिसृणां देवतानां मध्ये एकैकां देवतां त्रिवृतं त्रिवृत्तं करवाणीति पुनरैक्षतेत्यर्थः । अत्रैकैकस्या[5]स्त्रिवृत्करण एकैकस्याः प्राधान्यं द्वयोर्द्वयोर्गुणभाव इत्यवगन्तव्यम् । अन्यथा रज्वा इवैकमेव त्रिवृत्करणं भवेत् । तिसृणां पृथक्‌ पृथक् त्रिवृत्करणं न स्याद् । तथा च सति तेजा न[6] इदं तेज इमा अपोन्नमिदमिति पृथक् [7]नामप्रत्ययौ न स्याताम् । ततश्च तासां देवतानां संव्यवहारो न स्यात्[7] । तस्मात्पृथङ्नामप्रत्ययसिद्धे संव्यवहार[8]सिद्ध्यर्थमेकैकस्याः प्राधान्यं [इ]तर-

---

१. न केवलम्-म.

२. जीवेन-म.

३. देहकृतैः-म.

४. ईक्षितत्वात्-म.

५. अत्र एकस्याः-म.

६. तेजोवन्नानाम्-म.

७...७. समप्रत्ययसिद्धया तासां देवतानामव्यवहारो न स्यात्-म.

८. सव्यवहार०-म.

योर्गुणभावः । अस्तेवम् ॥

किं तत इत्यत्राह—

सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ [३] तासां त्रिवृतमेकैकामकरोत् ।।

सेयमिति ।। सेयं प्रकृत्य सदाख्या देवतेमास्तेजआद्यातिस्रो देवता अननैव पूर्वोक्तेनैव जीवेनात्मना जीवरूपेण प्रथमं वैराजं पिण्डं[1] पश्चाद्देवतानां च पिण्डाननुप्रविश्य स्वयं कल्पानुसारेणैव नामरूपे व्याकरोत् । असौ नामायमिदं रूपमति । ततस्तासां देवतानां गुणप्रधानभावेन त्रिवृतं त्रिवृतमे[2]कैकामकरोत् कृतवती ।।

कथमेकैकस्यास्त्रिवृत्करणमित्याशंक्य बुद्धिसमाधानाय[3]वक्ष्यमाणार्थं प्रतिजानीते–

यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेका भवति तन्मे विजानिहीति ।। [४] ।।

यथेति ॥ हे सोम्य श्वेतकेतो यथा खलु येनैव प्रकारेण पिण्डेभ्यो बाहिरिमा स्तेज आद्यास्तिस्रो देवता एकैका त्रिवृत् त्रिवृद्भवति । तन्मे ममोदाहरणेन निगदतो विजानीहि विस्पष्टमवधारय । अत्र जीवस्य नामरूपव्याकर्तृत्वं द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादे नवमाधिकरणे निवारितम् । तद्यथा–

नामरूपव्याकरणे जीवः कर्ताथवेश्वरः ।
अनेन जीवेनेत्युक्तेर्व्याकर्ता जीव यि(इ)ष्यते ॥

जीवान्वयः प्रवेशेन सन्निधेः सर्वसर्जने ।
जीवोऽशक्तः शक्त ईश उत्तमोक्तिस्तथेक्षितुः ॥[4]

ईश्वरेण पञ्चभूतेषु सृष्टेषु भौतिकयोर्दृश्यमानयोर्महीधरादि नामरूपयोर्जीव एव स्रष्टा स्यात् । कुतः, **'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य व्याकरवाणि'** [छा. उप. ६-३-३] इति जीवरूपस्यैव सृष्टावन्वश्रवणादिति प्राप्ते ब्रूमः–जीवेनानुप्रविश्येति प्रविशे-

---

१. वैराजपिण्डम्-म.

२. त्रिवृत्त्रिवृतमे०-म.

३. बुद्धिं समाधाय-म.

४. ब्र. सू. न्या. पृ. ५८८

नैव जीवेनऽन्वेति सन्नि[1]हितत्वात् । जीवेन व्याकरणवाणीत्युक्तो व्यवहितान्वयः स्यात् । न हि जीवस्य गिरिनदीनिर्माणे शक्तिरस्ति । ईश्वरस्तु सर्वशक्तियुक्तः **'पराऽस्य शक्तिर्विविधा'** [श्वे. उप. ६–८] इति श्रवणात् । किं च **'व्याकरवाणि'** [छा. उप. ६–३–२] इत्युत्तमः पुरुषोऽपि ईश्वरपक्षे समञ्जसः । तस्मादीश्वर एव नामरूपयोः स्रष्टा । कथं तर्हि घटपटादौ कुलालादेर्निर्मातृत्वम् ईश्वरप्रेरणादिति ब्रूमः । तस्मादीश्वर एव सर्वकर्तेति सिद्धम् ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने षष्ठाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥

उक्तस्य देवतानां त्रिवृत्करणस्योदाहरणमाह–

यदग्ने रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रि(त्री)णि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ [१] ॥

यदग्नेरिति ॥ अग्नेस्त्रिवृत्कृतस्य यद्रोहितं रूपं लोके प्रसिद्धं तदत्रिवृत्कृतस्य तेजसो रूपमिति जानीहि । तथा च यत्त्रिवृत्कृतस्याग्नेः शुक्लं रूपं तदपामत्रिवृत्कृतानां[2] रूपं विजानीहि । तथाग्नेस्त्रिवृत्कृतस्यैव यत्कृष्णं रूपं तदन्नस्य पृथिव्या अत्रिवृत्कृताया रूपमिति जानीहि । तथा च सति रूपत्रयव्यतिरेकेणाग्निरिति । हे श्वेतकेतो त्वं यत्मन्यसे तस्याग्नेरग्नित्वमिदानीमपागात् । अपगतं प्राग्रूपत्रयविवेकविज्ञानात्त्तया[3]ग्निबुद्धिरासीत् । सेदानीं रूपत्रयविवेकविज्ञानादूर्ध्वमपगतो यश्चाग्निशब्दस्तत्र सोऽप्यपगतो यथा रक्तोपधानसंयुक्तः स्फटिकः[4] प्रागुपाधानस्फटिकयोर्विवेकविज्ञानात्पद्मरागोऽयमिति शब्दबुद्धयाः[5] प्रयोजको भवति । उत्पन्ने तु तद्विवेकज्ञाने पद्मरागशब्दबुद्धिर्निवर्तते तद्वदित्यर्थः ।

नन्वत्र यथा तन्वपकर्षेण पटाभावस्तद्वत्प्राग्रूपत्रयविवेकविज्ञानाद्यदग्नेरग्नित्वमासीत् तदेव विवेकविज्ञानादूर्ध्वं निवर्तयत[6]इत्युच्यतां किं शब्दबुद्धिकल्पनयेत्यत उक्तं वाचारम्भण-

---

१. 'सन्नि'–नास्ति–म.

२. ०नामपाम्–म.

३. ०तव य ग्नि०–म.

४. ०स्फाटिकः–म.

५. ०बुद्धयोः–म.

६. निवर्तत–म.

मग्निर्नाम[1]विकारो नामधेयं नामत्रयमित्यर्थादग्निबुद्धिरपि मिथ्यैव किं तर्हि तत्र सत्यमित्येतदुक्तम्[2] । त्रीणि रूपाण्येव सत्यं रूपत्रयव्यतिरेकेण किञ्चिदपि सत्यमत्र नास्तीत्यर्थः ॥

उदाहरणान्तराण्याह—

यदादित्यस्य रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ [२] यच्चन्द्रमसो रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणो विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ [३] यद्विद्युतो रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाविद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ [४] ॥

स यदादित्यस्येति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् । अनेकोदाहरणप्रदर्शनं दृढप्रतिप्रत्युत्पादनार्थम् ।

ननु **'यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहि'** [छा. उप. ६–३–४] इति प्रतिज्ञाय[3]चतुर्भिरप्युदाहरणैरग्न्यादिभिः प्रकारैस्तेजस एव त्रिवृत्करणं प्रदर्शितम् । अबन्नयोस्त्रिवृत्करणेनोदाहरणं दर्शितमिति चेत्, मैवम् । तेजसोदाहरणस्योपलक्षणार्थत्वात् अन्नं न विषया[4]ण्यप्यूदाहरणान्येवमेव द्रष्टव्यानीत्यर्थः । अत्र गंधरसयोरनुदाहरणं तेजसि गंधरसयोरभावेन त्रयाणामसंभवात् । स्पर्शशब्दयोरपि विभागेन दर्शयितुमशक्यत्वात् ।

नन्वेवं वाय्वाकाशवत्त्रिवृत्कृतावशिष्येते । तयोस्तेजःप्रभृतिष्वनन्तर्भावात् तथा[5] गन्धरसशब्दस्पर्शा अपि इति कथं सता[6] विज्ञानेन सर्वस्यान्यस्या[7]विज्ञातस्य विज्ञातत्वं

---

[1] ०णमग्निम० -म.

[2] मित्यत उक्तम्–म.

[3] विप्रतिज्ञाय–मा.

[4] अबन्नविषया०–म.

[5] तथा च–म.

[6] श्रुतावेकेन-म.

[7] ०स्यान्नस्य–म.

भवेदिति चेत्. मैवम् । रूपवत् द्रव्ये सर्वस्य दृश्यत्वात् । तथा हि तेजसि तावद्रूपवति स्पर्शशब्दयोरूपालम्भात् । स्पर्शशब्दगुणवतोस्तयोस्तेजसि सद्भावोऽनुमीयते । एवमनयो रूपवतोः रसगंधान्तभाव इति तेजो(ब)न्नानां रूपवतां त्रयाणां त्रिवृत्करणप्रदर्शनेन सर्वं तदन्तर्भूतं सविकारत्वात् सताविज्ञानेन विज्ञातं भवति । यद्वा रूपवतामपि त्रिवृत्करणमुपलक्षणार्थ[म्] । यथा त्रिवृत् कृतेत्रीणि रूपाणीत्येव सत्यं तथा पञ्चीकरणमपि[1]समानमिति सर्वस्य सद्विकारत्वात्[2]सताविज्ञातत्वेन[3]सर्वमिदं विज्ञातं भविष्यति । सदेकमेवाद्वितीयं सत्यमिति सिद्धम् ॥

यथोक्तविवेकविज्ञानं प्रशंसति—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वांꣳस आहुः पूर्वे महाशला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदांचक्रुः ॥[५]

तद्ध स्मेति ॥ [4]वस्तुतत्त्वमुक्तं तदेतद्विद्वांसो ज्ञातवन्तः । पूर्वे अतिक्रान्ता महाशाला महाश्रोत्रिया आहुर्ह स्म वै एवमुक्तवन्तः किल । नोऽस्माकं कुले अद्य संप्रति कश्चन कश्चिदपि अश्रुतममतमतर्कितमविज्ञातं नोदाहरिष्यति सर्वं विज्ञातमेवास्म[5]त्कुलीनैः सद्विज्ञानवद्भिरित्यर्थः । ते कथं विज्ञातवन्त इत्यत उक्तम्–एभ्यस्त्रिभ्यो[6] रोहितशुक्लकृष्णरूपेभ्यस्त्रिवृत्कृतेभ्यः । यद्वा एभ्योऽग्न्यादिभ्यो दृष्टान्तेभ्यो विज्ञातेभ्यः सर्वमन्यदवशिष्टमेवेति विदांचक्रुर्विज्ञातवन्तः हि यस्मादेवं सर्वमन्यद्विदांचक्रुस्तस्मात् सद्विज्ञातवन्तो[7]ऽस्मत्कुलीनाः सर्वज्ञा बभुवुरित्यर्थः ॥

कथं विदांचक्रुरित्यत उक्तम्–

[यदु] रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपाꣳरूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदांचक्रुः॥[६]यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानांꣳ समास इति तद्विदांचक्रुः ॥

---

१. ०करणेऽपि–म.
२. विकारत्वात्–म.
३. विज्ञातेन–म.
४. 'यद्'एकस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति'–अपा. –म.
५. ०वास्माकम्–म.
६. 'त्रिभ्यः'–नास्ति–म.
७. सद्विज्ञानात्–म.

यदु इति ॥ य[द्]उ[1] यदेवान्यसंदिह्यमानं मेचकादिरूपेण रोहितमिव गृह्यमाणमभूत्तत्तेजसोरूपमिति विदांचक्रुस्तथा यच्छुक्लमिवाभूद् गृह्यमाणंरूपं विदांचक्रुस्तथा यदेव कृष्णमिवाभूद्[3]गृह्यमाणं तदन्नस्य रूपमिति विदांचक्रुस्तथा यउ(दु) यदेवाविज्ञातं विशेषेणागृह्यमाणमभूत्तदप्येतासामेव तेजः प्रभृतीनां देवतानां तिसृणां समासः समुदाय इति विदांचक्रुः ॥

एवं तावद्ग्राह्यस्याग्न्यादिरूपस्य त्रिवृत्कृतस्य सद्विज्ञानेन विज्ञातत्वं दर्शयित्वेदानीमन्तरस्यापि तस्य वस्तुनस्त्रिवृत्कृतस्य [4]सद्विज्ञानेन विज्ञातत्वं[4] दर्शयितुं प्रतिजानीते—

यथा तु[5] खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका[6] भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ७ ॥

॥ इति षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥

यथात्विति ॥ हे सोम्य यथा तु खलु येनैव प्रकारेणेमा[7] यथोक्तस्तेज आद्यास्तिस्रो देवताः पुरुषं शिरःपाण्याद्यवयवविशिष्टं कार्यकारणसंघातं प्राप्य पुरुषेणोपयुज्यमानास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति । तन्मे ममोदाहरणेन निगदतो विजानीहि ।

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां[8] षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥

प्रतिज्ञातमर्थं दर्शयितुमुपक्रमते—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो य मध्यमस्तन्मा ऽँसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ [१] ॥

अन्नमशितमिति ॥ अशितं भुक्तमन्नं जाठरेणग्निना पच्यमानं त्रेधा विधीयते विभज्यते । तस्य त्रेधा विभक्तस्यान्नस्य यः स्थविष्ठः स्थूलतमो धातुरंशस्तत्पुरिषं भवति । यो मध्यमो धातुरंशोऽन्नस्य तद्रसादिक्रमेण परिणतं सन्मांसं भवति । योऽणिष्ठोऽणुतमो

---

१. यद्रूपम्—म.
२. यच्लुद्ध०—म.
३. ०भूदिति—म.
४...४. सविज्ञातत्वम्—म.
५. नु—मु. पा.
६. त्रिवृदेकैका—म.
७. प्रकारेण—म.
८. सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने—म.

धातुरन्नस्य यदूर्ध्वं हृदयं[1] प्राप्य सूक्ष्मासु नाडीष्वनुप्रविश्य वागादि[2]करणस्य स्थितिं जनयन् तन्मनो भवति मनोरूपेण विपरिणम्य मनस उपचयं करोतीत्यर्थः । तस्मादन्नोप[3]चितत्वान्मनसो भौतिकत्वमवगन्तव्यम् । अत एव सावयवत्वादनित्यत्वमपि यदप्युच्यते **'मनोऽस्य दैवं चक्षुः'** इति तदपि नित्यत्वाभिप्रायेण । किं तु सूक्ष्मव्य[4]वहितविप्रकृष्टाद्यखिलेन्द्रियविषयव्यापकायेक्षया । एवं च यत्र यत्र मनसो नित्यत्वव्यवहारः सोऽप्यापेक्षिकनित्यत्वाभिप्रायेण न तु वास्तवाभिप्रायेण । **'सदेकमेवाद्वितीयम्** '[द्र. छा. उप. ६-३-१' इत्यादि श्रुतेरिति द्रष्टव्यम् ॥

एवमन्नस्य त्रेधा विभागमुक्त्वेदानीमपां त्रेधा[5] विभागं दर्शयति—

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति । यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥ [२] ॥

आप इति ॥ पुरुषेण[6] पीता आपो जाठरेणाग्निना पच्यमानास्त्रेधा विधीयन्ते विभज्यन्ते । [7]तासां यः स्थविरो धातुरंश[7]स्तन्मूत्रं भवति । यो मध्यमोंऽशस्तल्लोहितं भवति । योऽणिष्ठोंऽशः स प्राणो भवति । तथा च वक्ष्यति **'आपोमयः प्राणो नापिबतो विच्छेत्स्यत'** [छा. उप. ६-७-१] इति ॥

अथ तेजसो विभागं[8] दर्शयति—

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ [३] ॥

तेजोऽशितमिति ॥ तेजो घृतादिकम् । तथा च श्रुतिः **'तेजो घृतम्'** इति । अशितं पुरुषेण भक्षितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुरंशस्तदस्थि भवति । यो मध्यमोंऽशः स मज्जा, अस्थ्यन्तर्गतस्नेहो[9] भवति । योऽणिष्ठः सा वाग् भवति ।

---

[1] ऊर्ध्वहृदयम्-म.

[2] वागादि०-नास्ति-म.

[3] तस्मान्मनसोप०-म.

[4] 'सूक्ष्मव्यवहित'-नास्ति-म.

[5] 'त्रेधा'-नास्ति-म.

[6] 'पुरुषेण'-नास्ति-म.

[7-7] 'तासां...रंशः' नास्ति-मा.

[8] भावम्-म.

[9] तेजो-म.

घृतादिभक्षणेन विशदा सती वाक् भाषणसमर्था भवतीति लोकप्रसिद्धमेव ।

कथं मन आदीनां मनप्रभृत्यात्मना परिणाम इत्यत आह—

अन्नमयꣳहि सोम्य मनः । आपोमयः प्राणः । तेजोमयी वागिति ॥

अन्नमयमिति ॥ हे सोम्य हि यस्माद्वक्ष्यमाणप्रकारान्मनोऽन्नमयमन्नविकारः । प्राण आपोमयो वाक्तेजोमयी । तस्मादन्नादीनां तद्धेतुत्वमित्यर्थः ॥

ननु केवलादि[1] भक्षणामाखुमीनादीनामपि वाग्मित्वादिकं दृश्यते । कथमन्नादीनामन्नआदिकारणत्वमिति चेत्, मैवम् । सर्वस्यापि त्रिवृत्कृतत्वेन सर्वत्रापि सर्वस्य विद्यमानत्वात् ।

मनः प्रभृतीनामन्नादिमयत्वं प्रश्नपूर्वकं प्रतिपादयितुं श्वेतकेतोः प्रश्नं दर्शयति—

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति ॥

भूय एवेति ॥ भूय एव पुनरपि मा मां भगवन् पूज्यः विज्ञापयतु मनः प्रभृतीनामन्नमयत्वादिकं दृष्टान्तेनावगमयतु । अन्यथा[2] ममास्मिन्ननर्थे निश्चयो न जायते[3] दुर्लक्ष[4]त्वादस्यार्थस्येत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

पितुरुत्तरमाह—

तथा सोम्येति होवाच ॥ [४] ॥

॥ इति षष्ठाध्यायस्य पञ्चम, खण्डः ॥

तथेति ॥ तथास्तु हे सोम्य त्वं यत्पृच्छसि तद्यथोपपद्यते तथा वक्ष्योम्यविहितः सन् शुण्विति । पितोवाच उक्तवान् किल[5] ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे षष्ठाध्यायस्य पञ्चम खण्डः ॥

यथोक्तमर्थं दृष्टान्तेनोपपादयति—

---

[1] केवलान्नादि०–म.

[2] ०ममयितुमथ–म.

[3] ज्ञायते–म.

[4] दुर्लभ०–म.

[5] 'किल'–नास्ति–म.

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य[1] योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥ [१] एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ॥ [२] अपाꣳ सोम्य पीयमानस्य योऽणिमा । स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥ [३] तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग् भवति ॥ [४] ॥

दध्न इति ॥ हे सोम्य यथा दध्नो मथ्यमानस्य योऽणिमा सूक्ष्मभागः स ऊर्ध्वः समुदीषति संभूयोर्ध्वं नवनीतरूपेण[2] गच्छति ततस्तत्पाकेन सर्पिर्घृतं भवति। एवमेव खलु सोम्यान्नस्योदनादेरश्यमानस्य भुज्यमानस्य जाठरेणाग्निना वायुसहितेन पच्यमानस्य योऽणिम(मा)णुभावः स ऊर्ध्वं समुदीषति ऊर्ध्वं हृदयं प्राप्य नाडीष्वनुप्रविशति । ततस्तन्मनो भवति । मनोऽवयवैः सह संभूय मनस उपचयं करोतीत्यर्थः । तथैव हे सोम्यापां पीयमानानां योऽणिमा सूक्ष्मभागः[3] स ऊर्ध्वः समुदीषति । ततः स प्राणो भवति । तथैव हे सोम्य अस्य(श्य)मानस्य तेजसो घृतादेर्योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदिषति । ततः स वाग्भवति ॥

दृष्टान्तेनोपपादितमर्थमुपसंहरति—

अन्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाग् [इति] ॥

अन्नमयमिति ॥ हि यस्मादेवं तस्मादन्यत्समानं यथोक्तं तत्सर्वं युक्तमित्यभिप्रायः ।

एवमन्नप्रभृतीनां त्रयाणामन्नादिमयत्वं व्युत्पाद्येदानीं मनसोन्नमयत्वव्युत्पादनं नालमिति मत्वा पुनस्तस्यान्नमयत्वं प्रश्नपूर्वकं व्युत्पादयितुं श्वेतकेतोः प्रश्नं दर्शयति–

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति ॥

भूय एवेति ॥ वाक्प्राणयोरस्तु यथोक्तं सर्वं मनसस्तु कथमन्नमयत्वमिति ममाकांक्षा न निवृत्ता । अतस्तत्र निश्चयो न जायत इति[4] । श्वेतकेतु[5]र्भूय एव पुनरपि

---

१. पीयमानस्य–.

२. ०तशब्देन–म.

३. सूक्ष्मभावः -भा.

४. जनयति–म.

५. श्वेतकेतोः–म.

या मां भगवान् विज्ञापयतु । मनसोऽन्नमयत्वं दृष्टान्तेनावगमयत्विति पितरं दृ(पृ)ष्टवानित्यर्थः ॥

पितुरुत्तरं दर्शयति—

तथा सोम्येति होवाच ॥ [५] ॥

॥ इति षष्ठः खण्ड ॥

तथेति ॥ हे सोम्य तव यत्र संशयोऽस्ति तद्दृष्टान्तेनावगमयिष्यामि । अवहितचित्तः सन् शृण्विति तथास्त्विति[1] पितोवाच ॥ (५) ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
षष्ठाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥

मनसोऽन्नमयत्वं व्युत्पादयितुमुपक्रमते—

षोडशकलः सोम्य पुरुषः ॥

षोडशकल इति ॥ हे सोम्य पुरुषः[2] कार्य[3]कारणसंघातरूपो जीवविशिष्टः पुरुषः षोडशः कलः भुक्तमन्नमणुभावेन मनसि काञ्चिच्छक्तिमाधाति[4] । साऽन्नोपचिता मनसः शक्तिः षोडशधा प्रविभज्य पुरुषस्य कलात्वेन निर्दिष्टावगान्नोपचितया[5] षोडशधा ॰वभक्तया[6] मानस्याशक्तया युक्तः षोडशकल उच्यते ॥

कथमित्येतदाह—

पञ्चदशाहानि माऽऽशी काममपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥ [१] ॥

पञ्चदशाहानीति ॥ यदि यथोक्तपुरुषस्य षोडशकलत्वं प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छसि तर्हि पञ्चदशसंख्याकान्यहानि माशीः भोजनं मा कार्षीः । काममिच्छतोऽपः पिब । यस्मादपः पिबतस्तव प्राणो न विच्छेत्स्यते न विच्छेदमापत्स्यते । यतः प्राण

---

[1] 'तथास्त्विति'—नास्ति—म.

[2] 'पुरुषः'—नास्ति—म.

[3] 'कार्य'—नास्ति—म.

[4] ०मादधति—म.

[5] निर्दिष्टा तयान्नमयया—म

[6] प्रविभक्तया—म.

आपोमयो विकारः इत्यवादी(दि) म तस्मात् कार्यत्वात्प्राणस्यान्नभोजनाभावेऽपि अप्पानमात्रेणापि विच्छेदो नास्तीत्यभिप्रायः ॥

ततः किमित्यत्राह–

स ह पञ्चदशाहानि नाऽऽश ॥

स हेति ॥ स एवं पितुर्वचनं श्रुत्वा श्वेतकेतुर्मनसोऽन्नमयत्वं प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छन् पञ्चदशाहानि नाऽऽश भोजनं न चकार ॥

ततः किमित्यात्राह–

अथहै नमुपससाद किं ब्रवीमि भो इति ॥ [२] ॥

अथ हैनमिति ॥ अथ पञ्चदशाहान्यन्नमभुक्त्वा अनन्तरं षोऽशेऽहनि एनं पितरमुपससाद आगत्य च भो पितः किं ब्रवीमीत्युवाच ।

पितुर्वचनं दर्शयति–

ऋचः सोम्य यजूंषि सामानीति ॥

ऋच इति ॥ तत्र पिता एवमुवाच–हे सोम्य ऋच यजूंषि सामानि चाधीष्वेति।

ततः पुत्रस्य वचनं दर्शयति–

स होवाच–न वै मा प्रतिभाति भो इति ॥

स होवाचेति ॥ स श्वेतकेतुर्भो सम(भग)वन् मा मां ऋगादीनि न वै प्रतिभाति, मम मनसि न स्फुरन्तीत्युक्तवानित्यर्थः ॥

ततः पितुर्वचनं दर्शयति–

तꣳ होवाच–यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवꣳ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कल्प(लाऽ)तिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशान(ना)थ मे विज्ञास्यसीति ॥ [३] ॥

तं होवाचेति ॥ एवं पुत्रेणोक्तः पिता तं श्वेतकेतुमेवमुवाच ह–हे सोम्य' ऋगादीनि तव चेतसि न प्रतिभान्ति तत्र कारणं वक्ष्यामि । यथा लोके महतो महत्परिमाणस्य अभ्याहितस्येन्धनैरुपचितस्य शान्तस्य अग्नेरेकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः खद्योतपरिमाणः परिशिष्टोऽवशिष्ट स्याद्भवेत् तेनाङ्गारेण ततोऽपि तत्परिमाणादीषदपि

---

१. मे न(?)–म

बह्वधिकं न दहेत् न भस्मीकुर्यात् । एवमेव हे सोम्य ते तव षोडशानाम् अन्नोपचितानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात्तया खद्योतमात्राङ्गारतुल्यया[1] एतर्हीदानीं वेदानृग्वेदादीन्नानुभवसि न प्रतिपद्यसे । मे मम निगदतः श्रुत्वाथ शेषं[2] विशेषं[3] विज्ञास्यसि । अशान भुंक्ष्व तावदिति ॥

ततः किमित्यत्राह–

स हऽऽशाथ[4] हैनमुपससाद तꣳह यत्किंच पप्रच्छ सर्वꣳह प्रतिपेदे ॥ [४] ॥

स हेति ॥ स पित्रैवमुक्तः श्वेतकेतुस्तथैवाऽऽशः भुक्तवानेव । अथ भुक्त्वानन्तरमेनं पितरं शुश्रूषुः सन्नुपससादोपगतवान् । तमुपागतं पुत्रं पिता यत्किंच ऋग्वेदादिकं[5] पप्रच्छ ह । तत्सर्वं श्वेतकेतुः प्रतिपेदे, अर्थतो ग्रंथतश्च ज्ञातवान् ॥

ततः किमित्यत्राह–

तꣳ होवाच । यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्र(प्रा)ज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥ [५] एवꣳ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाऽभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वाली तयैतर्हि वेदाननुभवसि ॥

तं होवाचेति ॥ ततः पुनः पिता तं ऋग्वेदादिक(म्) अर्थतो ग्रन्थतश्च प्रतिपद्यमानं श्वेतकेतुमेवमुवाच–हे सोम्य यथा महतोऽभ्याहितस्याग्नेः शान्तस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं[6] तृणैरुपसमाधाय प्रज्वालयेत् वर्धयेत्तेन प्रवृद्धेनाङ्गारेण ततोऽपि तत्परिमाणाद्बह्वधिकं दहेदेवमेव हे सोम्य तव षोडशानामन्नकलानामन्नसामर्थ्यरूपाणामेका कलाऽतिशिष्टा अवशिष्टा[7]ऽभूदासीत् सावशिष्टा कलाऽन्नेन भुक्तेनोपसमाहितोपचिता

---

१. ०रमात्रया–म.
२. दोषम्–म.
३. 'विशेष'–नास्ति–म.
४. ०हऽऽश–म.
५. ऋग्वेदादि–म.
६. तत्–म.
७. 'अवशिष्टा'–नास्ति–म.

प्राज्वाली[1] दीर्घः छान्दसः प्रवर्धिता । यद्वाप्राज्वालीदिति पाठः, तदानीमन्नेनोपसमाहिता सती स्वयं प्रज्वलितवतीत्यर्थः । तया प्रवृद्धया एतर्हि संप्रति वेदाननुभवसि प्रतिपद्यसे ॥

एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां मनसोऽन्नमयत्वं प्रतिपाद्येदानीमुपसंहरति–

अन्नमयꣳ हि सोम्य मनः । आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति ॥

अन्नमयमिति ॥ हि यस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां हे सोम्य मनोमयं हि यथा मनसोऽन्नमयत्वं सिद्धं तथैवापोमयः प्राणस्तेजोमयी वागित्येतदपि सिद्धमेवेत्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह–

तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ [६] ॥

॥ इति षष्ठाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥

तद्धेति ॥ ततोऽस्य पितुरुक्तं पित्रा प्रतिपादितं तन्मनआदीनामन्नादिमयत्वं विजिज्ञौ ह श्वेतकेतुर्विज्ञातवानेव । द्विरुक्तिस्त्रिवृत्करणपरिसमाप्तिद्योतनार्था ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद् व्याख्याने
षष्ठाधाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥

एवं तावदध्यारोपं दर्शयित्वेदानीं तदपवादेनात्मतत्त्वं बोधयितुं प्रथमं तावत् स्वप्नान्तं दर्शयितुमुपक्रमते–

उद्दालको हाऽऽरुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति ॥

उद्दालक इति ॥ आरुणिररुणस्य पुत्र उद्दालक उद्दालकनामा श्वेतकेतुं श्वेतकेतुनामानं स्वस्य पुत्रमुवाच ह एवमुक्तवान् किल । हे सोम्य मे मम निगदतः स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं[2] सुषुप्तमिति यावद्विजानीहि विस्पष्टमवधारय ॥

कदा स्वप्नान्तो भवतीत्यत्राह–

यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम ॥

यत्रैतदिति ॥ यत्र यस्मिन् काले स्वपतः पुरुषस्यैतन्नाम भवति ।

पुरुषः स्वपितीति गौणं चेदन्नामेत्याह–

सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनꣳ स्वपितीत्याचक्षते स्वꣳह्यपीतो भवति ॥ [१] ॥

---

१. 'प्रज्वालि'–अपा–म.

२. स्वप्नमयाम्–म.

सतेति ॥ यदा पुरुषः स्वपिति इत्युच्यते तदा तस्मिन् काले हे सोम्य सता सच्छब्दवाच्यया प्रकृतया[1] देवतया संपन्नः संगतः एकीभूतो भवति । ततो मनआदि संसर्गकृतं जीवरूपं परित्यज्य सं[2]यत्परमार्थतः सद्रूपं तदपीतो गतो भवति । तस्मादेनं सदात्म्यमापन्नं स्वपितीत्याचक्षते लौकिकाः । हि यस्मात्स्वमात्मानमपीतो भवति गुण[3]नामप्रसिद्धितोऽपि स्वात्मप्राप्तिः सुषुप्तस्य गम्यत इत्यभिप्रायः ।

ननु लौकिकानां प्रसिद्धा[4] यत्र[5] स्वात्मसंपत्तिरिति चेत्, न जागच्छ्रमनिमित्तोद्भवत्वात् स्वापस्य । तथा हि जागरिते पुण्यापुण्यनिमित्तसुखदुःखानुभवात् श्रान्तो भवति । ततश्चानेकव्यापारनिमित्तमायस्तानां कारणानां[6] स्वव्यापारेभ्य उपरमो[6] भवति । तथा च श्रूयते–'**स श्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः** [बृ. उप. १–५–२१] इत्येवमादिप्राणस्त्वेक एव श्रान्तः सन् देहस्यान्तर्जागर्ति । तथा च जीवश्रमापनोदाय स्वं देवतारूपमात्मानं प्रतिपद्यते । आत्मप्राप्तिमन्तरेण जीवस्य श्रमापनोदनासंभवात् । ततश्च लौकिकानां स्वं ह्यपीतो भवतीति प्रसिद्धर्युक्ता । किं च लोके[7]ऽपि रागग्रस्तानां[8] पुंसां तं निर्मोक्ते स्वात्मस्थानां विश्रमणं परिदृश्यते[9] तद्वदिहापि भविष्यतीति युक्तम् । तथान्यत्रापि श्रूयते । तद्यथा–'**श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः**' [बृ. उप. ४–३–१९] इत्यादि ॥

यथोक्तमर्थं दृष्टान्तेनोपपादयति—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबन्धो(द्धो) दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति ॥ [२] ॥

---

१. प्रकृष्टया–म.
२. स्वम्–म.
३. प्राण०–म.
४. प्रसिद्धया–म.
५. तत्र–म.
६.–३. करणानां व्यापारेण श्रमो–म.
७. लौकिके–म.
८. जरायस्तानाम्–म.
९. दृश्यते–म.

स यथेति ॥ यथा लोके प्रसिद्धः[1] शकुनि पक्षी सूत्रेण शकुनिघातकस्य हस्तगतेन सूत्रेण प्रबद्धो बन्धनमोक्षणाय दिशं दिशं प्रतिदिशं पतित्वा अन्यत्र बन्धनमन्तरेणायतनमाश्रयं विश्रामार्थ[2]मलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते विश्रामा[3]र्थं प्राप्नोति एवमेव । यथा[4] दृष्टान्तस्तथैव खलु हे सोम्य तत्प्रकृतं मनः षोडशकलमन्नोपचितं मन इत्युक्तं तत्प्रविष्टो जीवस्तन्मन इत्युच्यते । लक्षणया स मन आख्यो जीवो विद्याकार्मोपटिष्टां दिशं दिशं सुखदुःखादिरूपां जाग्रत्स्वप्नयोः पतित्वा अनुभूयेत्यर्थः। अन्यत्र स्वात्मानमन्तरेणायतनं विश्राम[5]स्थानमलब्ध्वा अप्राप्य प्राणमेव सदाख्यपरदेवतैव प्राणेन सर्वकार्यकरणाश्रयणोपलक्षिता सती प्राण इत्युच्यते । **'प्राणस्य प्राणः'** (केन उप. १-२) **'प्राणशरीरः'** (छा. उप. ३-१४-२) इत्यादि श्रुतेः । ततः प्राणाख्यां परदेवतामेवोपाश्रयते विश्रामा[6]र्थम् । हि यस्माद्धे सोम्य मनः प्राणबन्धनं प्राणो बन्धनं यस्य तत्प्राणबन्धनं तस्मात् प्राणमेवोपाश्रयत इति युक्तमित्यर्थः ॥

एवं स्वपिति नाम प्रसिद्धा जीवस्य सत्यस्वरूपं जगतो मूलं दर्शयित्वेदानीमन्नादिकार्यकारणपरंपरयापि जगतो मूलं दर्शयितुमुपक्रमते—

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति ॥

अशनापिपासेति ॥ हे सोम्य मे मम निगदतोऽशनापिपासे अशितुमिच्छा अशना[7] पातुमिच्छा पिपासा ते विजानीहि । अशनापिपासयोः[8] तत्त्वमवधारयेत्यर्थः ॥

कथमित्यत्राह—

यत्रैतत् पुरुषोऽशिशिषति नाम ॥

यत्रैतदिति ॥ यत्र यस्मिन्नकाले पुरुषोऽशिशिषति अशितुमिच्छति तदा तस्य पुरुषस्ये(स्यै)[9]तदशिशिषतीति नाम भवति ।

---

१. सुप्रसिद्धः—म.

२. विश्रमा०—म.

३. विश्रमा०—म.

४. यथायम्—अपा. म.

५. विश्रमा०—म.

६. विश्रमा०—म.

७. 'अशना'—नास्ति—म.

८. ०पासो—म.

९. 'पुरुषस्य'—नास्ति—म.

किं निमित्तमित्यत्राह

आप एव तदशितं नयन्त इति ॥

आप एवेति ॥ यत्पुरुषेण कठिनमशनमशितं तदाप एव नयन्ते द्रवीकृत्य रसादिभावेन यदा परिमाणमयन्ते तदा भुक्तमन्नं जीर्यति । ततोऽस्याशिशिषतीति गौणं नाम भवति । अन्ने जीर्णे सत्यशितुमिच्छा भवति जन्तोरिति लोकप्रसिद्धम् ॥

ततः किमित्यत्राह—

तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति ॥

तद्यथेति ॥ [1]तत्त्र यथा गोनायः गा नयतीति गवां नेतृत्वेन गोपालो गोनाय इत्युच्यते । यथा वा अश्वनायोऽश्वान्नयतीत्यश्वानां नेतृत्वेनाश्वपालोऽश्वनाय इत्युच्यते । यथा च वा पुरुषनायः पुरुषान्नयतीति[1] पुरुषाणान्नेतृत्वेन राजा सेनापतिर्वा पुरुषनाय इत्युच्यते । एवं तथैव लौकिकाः तत्तस्माद् भुक्तस्यान्नस्य रसादिभावेन नयनादपोऽशनाया इत्याचक्षते । **अस्त्वेवम्** ॥

किं (इ)त्यत इत्यत्राह—

तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतित ँ सोम्य विजानीहि ॥

तत्रैतदिति ॥ तत्रैवं सति एतद्रसादिभावेन नीतेनान्नेन निष्पादितमिदं शरीरं शुङ्गम् । यथा वटकाणिकायां[2] शुङ्गोपकु१[3] उद्गतस्तद्वदुत्पतिमुद्गतं शरीराख्यं(ख्यं ?) शुङ्गं हे सोम्य विजानीहि ॥

नेदममूलं भविष्यतीति ॥ [३] ॥

नेदमिति ॥ [4]कार्यत्वाच्छरीरमिदममूलं मूलरहितं न भविष्यतीति ॥

अथ श्वेतकेतोर्वचनं दर्शयति—

तस्य क्व मूलं स्यात् ॥

१–१. 'तत्त्र... नयतीति'–नास्ति–म.

२. ०कटिकायाम्–म.

३. शुङ्गोऽङ्कुरः–म.

४. शृङ्गवत्–म.

तस्य क्व मूलम्मिति ॥ एवं पिता(त्रा)नु ज्ञातः श्वेतकेतुराह-यथैव[1]मिदं शरीरं समूलं वागादिवदस्य शरीरस्य क्व मूलं स्यादिति पृष्टवानित्यर्थः ॥

पितुरुत्तरं दर्शयति–

अन्यत्रान्नात् ॥

अन्यत्रेति ॥ एवं पुत्रेण पृष्टः पिता[2] अन्नादन्यत्र तस्य शरीरस्य क्व मूलं स्यादन्नमेव मूलमित्युत्तरमाह । पुरुषेण भुक्तमन्नमद्भिर्द्रवीकृतमुदर्ये[3]णाग्निना पच्यमानं रस[4]शोणितमांसमेदोऽस्थिमज्जात्मना परिणतं सच्छुक्लं भवति । तथा[5] योषिद्भुक्तमप्यन्नं रसादिक्रमेण परिणतं सल्लोहितं भवति । ताभ्यामन्नकार्याभ्यां शुक्लशोणिताभ्यां प्रत्यहमुपभुज्यमानेनान्नेनापूर्यमाणाभ्यां मृत्पिण्डैः कुड्यवत्प्रयत्हं उपचीयमानो देहः परिनिष्पन्न इत्यर्थः ॥

एवं देहशुङ्गस्य मूलमन्नं निर्दिश्येदानीं तस्यान्नशुङ्गस्यापि मूलं दर्शयति—

एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ ॥

एवमेवेति ॥ हे सोम्य एवमेव यथा देहशुङ्गोऽन्नमूलस्तथैव खलु अन्नेन शुङ्गेन[6] कार्यभूतेनापोमूलमन्नस्य शुङ्गस्य अन्विच्छ प्रतिपद्यस्व ॥

अन्नस्य मूलं दर्शयित्वेदानीमन्नादेरपिमूलं दर्शयति—

अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ । तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ ॥

अद्भिरिति ॥ यथैव[7] हे सोम्यापामपि विनाशोत्पत्तिमत्त्वाच्छुङ्गत्वमित्यद्भिः शुङ्गेन कार्येण कारणं तेजो मूलमन्विच्छ । अपां तेजः कारणमिति प्रतिपद्यस्वेत्यर्थः । तथा

---

[1] यद्येत्र०–म.

[2] 'पिता'–नास्ति–म.

[3] औदर्येण०–म

[4] शिर०–म.

[5] यथा–म.

[6] शुङ्गेण–म.

[7] तथैव–म.

तेजसोत्पत्तिमत्त्वेन शुङ्गत्वाद्धे सोम्य तेजसा शुङ्गेन कार्येण सदेकमेव(वा)द्वितीयं परमार्थसत्यं मूल[1]कारणमन्विच्छ ॥

किं तत इत्यत्राह—

सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ [४]

सन्मूला इति ॥ अतो हे सोम्येमाः परिदृश्यमानाः स्थावरजङ्गमलक्षणाः सर्वाः प्रजाः सन्मूलाः सत्कारणाः न केवलं सन्मूला अपि तर्हि सदायतनाः स्थितिकाले सदाश्रया एव । यदा मृदमाश्रित्यैव घटस्तिष्ठति । तद्वत् सदाश्रित्यैव प्रजाः स्थिति लभन्त इत्यर्थः । तथैव सत्प्रतिष्ठाः सदेव प्रतिष्ठा समाप्तिरवसानं यासां ताः सत्प्रतिष्ठाः । यथा घटो मृद्येव लीयते तद्वत्सत्येव तत्कारणाः[2] प्रजाः लीयन्त इत्यर्थः ॥

एवं तावदन्नशुङ्गद्वारेण सतो मूलस्यानुगमं दर्शयित्वेदानीमपच्छुङ्गद्वारेणापि[3] सतोऽनुगमं दर्शयितुमुपक्रमते—

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम ॥

अथेति ॥ अथान्नशुङ्गद्वारेण सतोऽनुगमप्रदर्शनान्तरं अपच्छुङ्गद्वारेण सतोऽनुगमः कथ्यत इत्यर्थः । यत्र यस्मिन् काले पुरुषः पिपासति पातुमिच्छति तदा तस्य पुरुषस्यैतत्पिपासतीति नाम भवति ॥

किन्निमित्तमित्यत्राह—

तेज एव तत्पीतं नयते ॥

तेज एवेति ॥ तत्पुरुषेण पीतमुदकं तेज एव शोषयत् । देहगतलोहितादिभावेन नयते परिणमयति । यदा तेजसा शोष्यमाणास्वप्सु देहाभावेन परिणममानासु पुरुषस्य प्रा(पा)तुमिच्छा भवति तदा स पिपासतीति नाम लभते[4] । अतो गौणमिदं नामेत्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह—

तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तेज आचष्ट उदन्येति ॥

---

[1] मूलम्-म.

[2] सत्कारणकाः-म.

[3] ०द्वारेण-म.

[4] पिपासतिनामा भवेत्-म.

तद्यथेति ॥ तत्तत्र यथेत्यादि पूर्ववत् । एवं तत्तेज उदन्येति । उदकं नयतीत्युदन्यम् । उदन्येति दीर्घश्छान्दस आचष्टे लोक इत्यर्थः अस्त्वेवम् ॥

किं तत इत्यत्राह—

तत्रैत[1]च्छुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥ [५] ॥

तत्रैतदिति ॥ तत्रैवं सति अपामप्येवमेव[2] शरीराख्यं शुङ्गमन्यत्समानम् ॥

अथ श्वेतकेतोर्वचनं दर्शयति—

तस्य क्व मूलꣳ स्यात् ॥

तस्य क्व मूलमिति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

पितुर्वचनं दर्शयति—

अन्यत्राऽद्भ्यः ॥

अन्यत्रेति ॥ अद्भ्योऽन्यत्र क्व मूलं स्यादाप एवास्य शरीरस्य मूलमित्यर्थः ॥

एवमनादि शुङ्गस्यापि मूलं दर्शयति—

अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ ॥

अद्भिरिति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

किं तत इत्यत्राह—

सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥

सन्मूला इति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

वृत्तं कीर्तयति—

यथा[1] खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवति ॥

---

[1] तत्रैतदेव–मुपा.

[2]. एतदेव–म.

[1]. यथा नु–मुपा.

यथा खल्विति ।। हे सोम्य यथा[1]खलु येनैव प्रकारेणेमास्तेऽबन्नाख्या[2] तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृदेकैका भवति । तत्पुरस्तादेवोक्तं भवति । पुनस्तत्रैवोक्त मन्नमशितं त्रेधा विधीयत इत्यादि । तत्रान्नादीनामशितानां ये मध्यमा धातवस्ते साप्तधातुकं शरीरमुपचिन्वतीत्युक्तम् । ये त्वणिष्ठा[3] धातवस्ते मनः प्राणवागात्मकं देहस्यान्तःकरणसंघातमुपचिन्वन्तीति चोक्तम् ।

सोऽयमन्तःकरणसंघातः पूर्वदेहशीर्णे देहान्तरं जीवाधितिष्ठतो येन क्रमेण पूर्वदेहात्प्रच्युतो गच्छति तदिदानीं दर्शयितुमारभते—

अस्य सोमस्य (सोम्य) पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम् ।। [६] स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं स(त)त्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ।।

अस्येति ।। हे सोम्यस्य पुरुषस्य प्रयतो म्रियमाणस्य वाङ्मनसि संपद्यते उपसंह्रियते । अत एवाहुः 'म्रियमाणपुरुषसमीपस्था ज्ञातय अयं न वदति' इति । वाचः कथं मनस्युपसंहारयतीति न शंकनीयं मनः पूर्वकत्वाद्वाग्व्यवहारस्य । तथा च श्रूयते '**यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति**' इति । यदा मनसि वागुपसंह्रियते तदा मनः केवल[4]मन[5]व्यापारेण वर्तते । तथा मनःप्राणे संपद्यत इत्यनुषङ्गः । यदा प्राणे मन उपसंहृतं भवति तदा तस्य मनव्यापारोऽपि निवर्तते । अत एवाहुः पार्श्वस्थानं घनः[6], असौ न विजानातीति । यदा मनःप्राणे संपन्नं भवति तदा प्राणश्चलनात्मा ऊर्ध्वोच्छ्वासरूपेणैव वर्तते । तथा (यदा ?) प्राणस्तेजसि संपद्यते तदा प्राणो न चलति । अत एवाहुः प्रार्श्वस्था ज्ञातयो[7] न चलतीति । यदासौ न चलति तदा मृतो वा न वेति जिज्ञासमानाः[8] प्रार्श्वस्था देहं स्पृष्ट्वा उपलम्भमाना[9] असौ जीवतीति वदन्ति ।

---

[1] 'तु'–अपा–म.

[2] ०न्नाद्याः–म.

[3] अणिमानो–म.

[4] केवलेन–म.

[5] मनसा–म.

[6] मनन०–म.

[7] पार्श्वस्थाबन्धवः–म.

[8] अज्ञास्यमानाः–म.

[9] उष्णमुपलभ मानाः–म.

अतस्तेजसि प्राणस्योपसंहारो युक्तः । तथा यदा तेज उपसंह्रियते तदा परस्यां देवतायां तेजः सम्पद्यते प्रशाम्यति । तत्रैवं क्रमेणोपसंहारे सति सन्मूलप्राप्ते मनसि वर्तमानो जीवोऽपि सुषप्त्यवस्थाभिर[१]निमित्ताभावाद् उपसंह्रियमाणः सन् यदि सत् सत्यभिसन्धिपूर्वकमुसंह्रियते तर्हि सदेव संपद्यते । पुनदेहान्तराय[२] सुषुप्तिकालादिवोत्तिष्ठति । यथा लोके कश्चित्सभये देशे वर्तमानः कथंचित्ततो निवृत्तः भयरहितं देशं प्राप्य ततो निवर्तते । तद्वत्कथंचित्संसारान्निवृतो ब्रह्म प्रतिपद्य न पुनः संसारं प्राप्नोति । तथा च स्मर्यते[३]–

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ॥ [भ. गी. ८–६]

इति । यः पुनः सदभिसन्धिरहितोऽज्ञो म्रियते स सुषुप्ताविव तस्मादेव मूलादुत्थाय पुनः पुनर्मृत्वा देहपरंपरामाविश्य कर्मानुसारेण सुखदुःखादिकमनुभवति । स यः सदाख्य एष यथोक्तोऽणिमाभावो जगतो मूलं सर्वमिदं परिदृश्यमानं स्थावरजंगमात्मकं जगत् एतदात्म्यम् एतत्सदाख्यं परं ब्रह्म आत्मा यस्य तदेतदात्मा तस्य[४] भाव एतदात्म्यम्[५] । एतेन सदाख्यैनैवात्मना सर्वं जगदात्मवत् नान्येनेत्यर्थः । इदं सर्वं[६] जगद्येनात्मना आत्मवित् तदेव सदाख्यं कारणं सत्यं परमार्थसत् । अतः[७] स एवात्मा जगतः प्रत्यक् सरूपं[८] सत्तत्वं(त्त्वं ?)[९] निरूपपदस्यात्मशब्दस्य प्रत्यगात्मनि निरूढत्वात्[१०] । तस्मात्तत्सत्त्वं हे श्वेतकेतो त्वमसि ॥

ततः श्वेतकेतोर्वचनं दर्शयति—

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति ॥

---

१. ०स्थायामिव–म.
२. वपुः न देहान्तराय–म.
३. स्मरन्ति–म. २. परब्रह्म–म.
४. यस्य–म.
५. एतदात्मा–म.
६. स–म.
७. सतः–म.
८. स्वरूपम्–म.
९. तत्त्वम्–म.
३०. रूढत्वात्–म

भूय एवेति ॥ भूय एव पुनरपि मा मां भगवान् पूज्यः पिता विज्ञापयतु ।[1] अहन्यहनि सर्वाः प्रजाः सुषुप्तौ सत्संपद्य सत्संपन्ना वयमिति न विदुस्तन्मां दृष्टान्तेन प्रत्याययत्वित्यर्थः ॥

पितुर्वचनं दर्शयति—

तथा सोम्येति होवाच ॥ [७] ॥

इति षष्ठाध्यायस्याष्टमः खण्डः ॥

तथेति ॥ हे सोम्य तथास्तु । यन्मां पृच्छति (सि) ॥ तद्दृष्टान्तेनाहं दर्शयिष्यामि शृण्ववहितः सन्निति पितोवाचेति ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषदीपिकायां[2] षष्ठाध्यायस्य अष्टमः खण्डः ॥

पिता प्रतिज्ञातमर्थं दर्शयति—

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठति नानात्ययानां वृक्षाणाꣳ रसान् समवहारमेकताꣳ रसं गमयन्ति ॥ [१] ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य- न विदुः सति संपत्स्यामह[3] इति ॥ [२] ॥

यथेति ॥ हे सोम्य, यथा लोके मधुकृतो मधु कुर्वन्तीति मधुकृतः सरघाः मधुनिस्तिष्ठन्ति मधु निष्पादयन्ति । कथं नानात्ययानां नानागीतानां[4] नानादिकानां वृक्षाणां वा रसान् समवहारन्[5] समाहृत्य एकतां मधुत्वेनैकत्वं रसान् गमयन्ति मधुत्वमापादयन्ती[6]त्यर्थः । तत्र मधुनि ते मधुत्वेनैकतां गता रसाः अहममुष्य रसोऽस्मि अहममुष्य वृक्षस्व रसोस्मीति विवेकं न लभन्ते । यथा लोके चेतनावन्तः प्राणिनः समवेता अमुष्याहं पुत्रोऽस्म्यमुष्याऽहं नप्तास्मीति लब्धविवेकाः सन्तो न संकीर्यन्ते न

---

१. ज्ञापयति—म.

२. सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने—म.

३. संपद्यामह—मुपा.

४. नानागतानाम्—म.

५. समवहारम्—म.

. ०मासादयन्ती०—म.

तथेहानेकप्रकारवृक्षरसा मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायाः मधुत्वेनैकत्वमापन्ना मधुरादिभावेन विविच्च न गृह्यत इत्यर्थः । एवमेवा[1]यं यथा दृष्टान्तस्तथैव खलु हे सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः अहन्यहनि सुषुप्त्यवस्थायां मरणप्रत्याययोश्च[2] सति संपद्य सद्रूपत्वमेत्य सति संपत्स्यामहे संपद्यामह इति संपन्ना इति वा न विदुः विजानीयुः ॥

ततः किमित्यत्राह—

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥ [३] ॥

त इहेति ॥ यस्माद्ये प्राणिन आत्मनः सद्रूपतामज्ञात्वैव सत्संपद्यते ततस्त इह लोके व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यत्कर्मनिमित्तायां[3] यां जातिं प्रतिपन्ना भवन्ति बभूवुः तत्कर्मज्ञानवासनामंकिताः[4] सन्त सत्प्रतिष्ठा अपि तत्तद्भावेनैव पुनरागत्य भवन्ति [5]वा संसारिणो जन्तो पुनराभविता वासनायुगहस्रकोटयवतरितापि[5] सा न विनश्यन्तीत्यर्थः । अस्त्वेवम् ॥

किं तत इत्यत्राह—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ॥

स य एष इति ॥ यस्मिन् सदभिसंधिशून्याः प्रविश्य पुनरावर्तन्ते सदभिसंधियुक्ताश्च मरणकाले न पुनरावर्तन्ते । स एष यथोक्तः सदाख्यः परमात्मा अणिमा अणुभावो जगतो मूलम् । एवमन्यदपि पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

पुनः श्वेकेतोर्वचनं दर्शयति—

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति ॥

भूय एवेति ॥ यथा लोके स्वकीये गृहे सुषुप्त उत्थाय ग्रामान्तरं गतः स्वगृहादागतोऽस्मीति जानाति तद्वत्किमिति सत आगतोऽस्मीति जन्तुर्न विजानातीत्येतद्भूय एव पुनरपि मा मां भगवान् विज्ञापयतु दृष्टान्तेन प्रत्याययत्विति श्वेतकेतुः पितरं पृष्टवानित्यर्थः ॥

---

१. ‘एवमेव’–नास्ति–म.

२. ० प्रलययोश्च–म.

३. कर्मनिमित्तं याम्–म.

४. ० वासनाङ्किताः–म.

५....५. या संसारि भाविता वासनायुगकोऽप्यन्तरितापि–म.

अथ पितुर्वचनं दर्शयति—

तथा सोम्येति होवाच ॥ [४] ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥

तथेति ॥ तथास्तु हे सोम्येति पितोवाचेत्यर्थः ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने षष्ठाध्याये नवमः खण्डः ॥

यद्ब्रवीमीति पित्रा प्रतिज्ञातं दर्शयति—

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥ [१] एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति ॥

इमाः सोम्येति ॥ हे सोम्य यथेमा विख्याता नद्यो गङ्गाद्याः पुरस्तात्पूर्वां दिशं प्रति प्राच्यः प्राचीमञ्चन्तीति प्राच्यः प्रागञ्चनाः स्यन्दन्ते स्रवन्ति । तथा पश्चात्[1] प्रतीचीं दिशं प्रति सिंध्वाद्या नद्य प्रतीचीमञ्चन्तीति प्रतीच्यस्ताः सर्वा नद्यः समुद्राज्जलधेर्मेघैराक्षिप्ता पुनर्वृष्टिरूपेण पतिता गङ्गादिरूपिण्यः सन्त्यः समुद्रमंभोनिधिमेवापियन्ति प्रतिपद्यन्ते । ततः समुद्र एव भवति । समुद्रे समुद्रात्मैकतां[2] गता नद्यः इयं गङ्गाहमस्मीयं यमुनाहमस्मीति न विदुर्न विजानन्ति । एवमेव खलु हे सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सन्ति[3] संपद्य पुनः सत आगम्य सत आगच्छामहे इति सत आगता इति वा न विदुः ॥

ततः किमित्याह—

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥ [२] ॥

त इहेति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् । अस्तवेवम् ॥

किं तत इत्यत्राह—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ॥

---

[1] 'पश्चात्'—नास्ति—म.

[2] समुद्रात्मना एकताम्—म.

[3] सति—म.

स य एष इति ॥ यस्मिन् सति संपद्यते प्रजाः यतश्चागता न विदुरित आगता वयमिति स सच्छब्दवाच्यो य एष यथोक्तः परमात्माणिमाऽणुभावो जगतो मूलम् । अन्यत् समानम् ॥

पुनः श्वेतकेतोर्वचनं दर्शयति—

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति ॥

भूय एवेति ॥ भूय एव पुनरपि मा मां भगवान् पिता विज्ञापयतु । यथा[1] वीचितरङ्गफेनबुद्बुदादय उत्थिताः पुनस्तद्भावं प्रतिपन्ना विनश्यन्ति तथा जीवाः सत्कारण-भावं सुषुप्त्यवस्थायां प्रत्यहं गच्छन्तोऽपि मरणप्रलययोश्च तद्भावं प्रतिपन्ना अपि न विनश्यन्तीत्येतद्दृष्टान्तेन प्रत्याययत्वित्यर्थः ॥

ततः पितुर्वचनं दर्शयति—

तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

तथेति ॥ तथास्तु । हे सोम्येति पितोवाच ह यत्पृष्टं त्वया तदहं ब्रवीमीत्यङ्गीकृतवानित्यर्थः ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां[2] षष्ठाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

ब्रवीमीति पित्राङ्गीकृतमर्थं दर्शयति—

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्स एष जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ [१] अस्य यदेकाꣳशाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वें(वँ) जहाति सर्वः शुष्यति ॥ [२] एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति ॥

अस्य सोम्येति ॥ हे सोम्य त्वया यत्पृष्टं तत्र दृष्टान्तं ब्रवीमि । शृणु । महतोऽनेकशाखादियुक्तस्यास्य पुरो वर्तिनो वृक्षस्य यो बर्द्धक्यादि (?) कश्चिन्मूलेऽभ्यहन्यात् परश्वादिना छिन्द्यात्स सकृद्घातमात्रेण न शुष्यति किन्तु जीवन्नेव भवति । तदा

---

[1] जले-अपा.-म.

[2] सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने-म.

तस्य रसः स्रवेत् । तथा तस्य वृक्षस्य मध्ये योऽभ्याहन्यात् तदापि जीवन्नेव भवति रस एव स्रवेत् । तथा तस्याग्रे योऽभ्यहन्यात्तदापि जीवन्नेव भवति रस एव स्रवेत् । स एष यथोक्तो वृक्षः संप्रति जीवेनाऽऽत्मनानुप्रभूतोऽनुव्याप्तः पेपीयमान उदकमत्यर्थं पिबन् भौमांश्च रसान् मूलैर्मोदमानो हर्षं गच्छन्स्तिष्ठति । तस्यास्य[1] वृक्षस्य यद्यपि जीव एकां शाखां ग्रस्तामाहतां वा यां जहाति उपसंहरति । अथानन्तरं सा शाखा शुष्यति । तथास्य वृक्षस्य यामाहतां द्वितीयां शाखां जीवो जहाति । तथा[2] सा शुष्यति । वाङ्मनप्राणकरणग्रामानुप्रविष्टो जीव इति तदुपसंहारः । प्राणयुक्तेन जीवेनाशितपीतादिकमुपसंह्रियते । एव तदेव रसानां गतं[3] जातशरीरवृक्षं वर्धयद्रसरूपेण वृक्षस्य सद्भावे लिङ्गम् । अशितपीताभ्यां खलु देहे जीवस्तिष्ठति । ते चाशितपीते जीवकर्मणुसारिणी इति तस्य वृक्षस्य यदैकाङ्गवैकल्यनिमित्तं कर्मोपस्थितं तदा जीव एकां शाखां जहाति । ततः सा शुष्यति । यदा शाखाद्वयवैकल्यनिमित्तं कर्मोपस्थितं तदा शाखाद्वयं जीवो जहाति । यदा शाखात्रयवैकल्यनिमित्तं कर्मोपथितं तदा शाखात्रयं जीवो जहाति । ततस्तच्छुष्यतीत्यर्थः । अथ यदि सर्वस्य वृक्षहानिनिमत्तं कर्मोपस्थितं तदा सर्वं समस्तं वृक्षं जीवो जहाति । अथः सर्वः समस्तो वृक्षः शुष्यति ।

वृक्षस्य रसस्रवणशोषणादिलिङ्गात् जीववत्त्वं दृष्टान्तश्रुतेश्च चेतनावन्त स्थावरा इति सिद्धम् । ततस्तत्कर्ममात्रेणाचेतनाः स्थावरा ।इति कणादिभिरुक्तं तदसंगतं श्रुतिलिङ्गाभ्यां तेषां चैतन्यसिद्धेरिति दिक् । एवमेव यथायं दृष्टान्तस्तथैव खलु सोम्य विद्धि । सुषुप्तिमरणप्रलयेषु जीवो न नश्यतीत्येतद्विद्धि । यतो जीवोपेतं वाव जीवयुक्तमेवेदं शरीरं म्रियते न जीवो म्रियत इति पितोवाच ।

सुप्तोत्थितस्य ममेदं कार्यमसमाप्तमिति मत्वा[4] तत्समापनदर्शनाज्जातमात्राणां च जन्तूनां स्तन्याभिलाषभयादिलिङ्गदर्शनाच्चातीतजन्मान्तरानुभूतस्तनपानदुःखानुभवस्मृतिरनुमीयते । ततोऽग्निहोत्रादीनां च वैदिकानां कर्मणामर्थवत्वात् च जीवस्य मृतिर्नास्ति किं तु देहस्यैव मृतिरिति निश्चीयते । अस्त्वेवम् ॥

किं तत इत्यत्राह—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ॥

---

१. तस्य–म.

२. अथ–म.

३. सतागयम्–म.

४. स्मृत्वा–म.

स य एष इति ॥ सुषुप्तिमरणप्रलयेषु यस्मिन् सति जीवाः प्रविश्य न विनश्यन्ति स सच्छब्दावाच्यः । य इत्यादि समानम् ॥

पुनः श्वेतकेतोर्वचनं दर्शयति–

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति ॥

भूय एवेति ॥ भूय एव पुनरपि मा मां भगवान् पिता विज्ञापयतु । कथमत्यंतसूक्ष्मात् नामरूपरहिताद्विलक्षणात्सतोऽत्यन्तस्थूलं नामरूपवत्पृथिव्यादिकं जगज्जायत इत्येतद् दृष्टान्तेन प्रमाणयत्वित्यर्थः ॥

ततः पितुर्वचनं दर्शयति—

तथा सोम्येति होवाच ॥ [३] ॥

॥ इति षष्ठाध्यायस्य एकादशः खण्डः ॥

तथेति ॥ हे सोम्य तथास्त्विति पितोवाच । यत्पुनस्त्वया न विज्ञायते तदहं दृष्टान्तेन प्रतिपादयामीत्यङ्गीकृतवानित्यर्थः ॥

॥ इति दीपिकायां[1] षष्ठाध्यायस्य एकादशः खण्डः ॥

प्रतिपादयिष्यामीति पित्राङ्गीकृतमर्थं दर्शयितुमुपक्रमते–

न्यग्रोधफलमाहरेति ॥

न्यग्रोधेति ॥ हे सोम्य त्वं यथेतत्प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छसि तर्ह्यतः पुरोवर्तिनो महतो न्यग्रोधवृक्षात् न्यग्रोधफलं तदीयं फलमाहरेति पिता पुत्रमुवाचेत्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह–

इदं भगव इति ॥

इदमिति ॥ तत श्वेतकेतुर्न्यग्रोधफलमाहृत्य भगवो भगवन् इदं फलं मया आहृतमिति दर्शितवानित्यर्थः ॥

ततोऽपि किमित्यत्राह—

भिन्द्धीति ॥

भिन्द्धीति ॥ ततः पिता फलमाहृत्य दर्शितवन्तं पुत्रं प्रत्याह–इदं फलं भिन्द्धि विहा(दा)रयेति ॥

---

[1] सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने–म.

पुत्रस्य वचनं दर्शयति—

भिन्नं भगव इति ॥

भिन्नमिति ॥ ततः पुत्रतत्फलं विदार्य भगवो हे भगवन् इदं फलं भिन्नं विदारितमिति उवाचेत्यर्थः ॥

ततः पितुर्वचनं दर्शयति—

किमत्र पश्यसीति ॥

किमत्रेति ॥ ततः पिता पुत्रं प्रत्याह-हे[१] वत्सात्र फले किं पश्यसीति ॥

ततः पुत्रस्य वचनं दर्शयति—

अण्व्य इवेमा धाना भगव इति ॥

अण्व्येति ॥ एवं पित्रोक्तः श्वेतकेतुराह-भगवो हे भगवन् अण्व्य इवाणुतरा इवेमा धाना बीजानि पश्यामीति ॥

पुनः पितुर्वचनं दर्शयति—

आसामङ्गैकां भिन्द्धीति ॥

आसामिति ॥ हे अङ्ग हे वत्स आसां धानानां मध्ये एकं भिन्द्धीति पितोवाचेत्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह—

भिन्ना भगव इति ॥

भिन्नेति ॥ हे भगवो भगवन् इयमेका भिन्नेति दर्शयामास ॥

ततः पितुर्वचनं दर्शयति—

किमत्र पश्यसीति ॥

किमत्रेति ॥ यदि भिन्ना धाना तर्हि तत्र तस्यां धानायां किं पश्यसीति पिता पुत्रमुवाचेत्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह—

न किंचन भगव इति ॥ [१]

न किंचनेति ॥ भगवो भगवन् भिन्नायां वटधानायां किंचन किमपि न पश्यामीति श्वेतकेतुरुवाचेत्यर्थः ।

---

[१] श्वेतकेतो-अपा-म.

ततः किमित्यत्राह—

तꣳ होवाच–यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति। श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥ [२]

तं हेति ॥ ततः पिता तं पुत्रमुवाचइ–भिन्नायां वटधानायां यं वटधानोऽणिमानं हे सोम्य एतदिति क्रियाविशेषणम् । न निभालसे न पश्यसि तथाप्येतस्याणिम्नो बीजस्य किल हे सोम्य एष महान्यग्रोधः कार्यतया तिष्ठति। यथा तथैवात्यन्तसूक्ष्मात् नामरूप-रहितात् सतः स्थूलं नामरूपादिमज्जगज्जायत इति हे सोम्य श्रद्धत्स्व विश्वासं कुरु ।

ननु न्यायागमाभ्यां निर्धारितोऽर्थः, तथैव निश्चयो जायते । किं श्रद्धयेति चेत्, सत्यमेवं तथापि अत्यन्तसूक्ष्मेष्वर्थेषु बाह्यविषयासक्तचित्तस्य पुरुषस्य महतीं श्रद्धामन्तरेण चित्तशुद्धेरभावाज्झटिति निश्चयो न जायते । सत्यां तु श्रद्धायां बुभुत्सितेऽर्थे मनः[1]-समाधानं भवति । ततोऽर्थनिश्चयः संभवतीत्युक्तं श्रद्धत्स्वेति । अस्त्वेवम् ॥

किं तत इत्यात्राह––

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ॥

स य एष इति ॥ यस्मात्सूक्ष्मात्सतः स्थूलमिदं जगज्जायते स सच्छब्दवाच्यः प्रत्यगात्मा । य इत्यादि पूर्ववत् ॥

पुनः श्वेतकेतोर्वचनं दर्शयति––

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति ॥

भूय एवेति ॥ भूय एव पुनरपि मा मां भगवान् यदि सज्जगतो मूलं तर्हि कस्मान्नोपलभ्यत इत्येतद् दृष्टान्तेन विज्ञापयत्विति ॥

अथ पितुर्वचनं दर्शयति––

तथा सोम्येति होवाच ॥ [३]

॥ इति छान्दोग्ये षष्ठाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥

तथेति ॥ हे सोम्य तथास्त्वित्यङ्गीकृत्य पिता तमुवाच ॥

॥ इति दीपिकायां[2] षष्ठाध्यायस्स द्वादशः खण्ड ॥

---

[1] मनसः–म.

[2] सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने–म.

किमुवाचेत्यत्राह—

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति ॥

लबणमिति ॥ विद्यमानमपि वस्तु स्वभावेन न प्रकाशते, अन्यथा प्रकाशत इति दृष्टान्तं शृणु । हे सोम्य यदिममर्थं प्रत्यक्षीकर्तृमिच्छसि तह्येतल्लवणं पिण्डाकारेण वर्तमानमुदके घटाद्यवस्थिते जलेऽवधाय प्रक्षिप्याथानन्तरं मा मां प्रातः श्वः प्रातःकाले उपसीदथा उपगच्छेथा इति पुत्रं पितोचेत्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह—

स ह तथा चकार ॥

स हेति ॥ स पित्रैवमुक्तः श्वेतकेतुः तमर्थं दिदृक्षुः सन् तथा चकार । पिण्डीभूयं लवणं जले प्रक्षिप्य प्रातः पितुः समीपमागतवानित्यर्थः ॥

ततः पिता किमाहेत्यत्राह—

तँ होवाच । यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति ॥

तं होवाचेति ॥ तमागतं पुत्रं पितैवमुवाच ह—यत् पिण्डीभूतं लवणं दोषा चा(रा)त्रावुदकेऽवाधा निक्षिप्तवानसि अङ्ग हे वत्स तल्लणमाहर तत् गृहात्प्रत्यानयेति ॥

ततः किमित्यत्राह—

तद्धावमृश्य न विवेद ॥ [१] ॥

तद्धेति ॥ अथ पित्रैवमुक्तः श्वेतकेतुः तल्लवणमाजिहीर्षुरवमृश्योदके न विवेद ह न विज्ञातवान् किल ॥

ततः किमित्यत्राह—

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति ॥

यथेति ॥ यथा तल्लवणं विद्यमानमेव सदप्सु विलीनं सन्नोपलभ्यते तथाप्यप्सु विद्यत एव,[1] उपायान्तरेण चोपलभ्यत इत्येतत्पुत्रं प्रत्याययितुमिच्छन् पितैवमाह अङ्ग हे वात्सास्योदकस्य[2] किं(चित्) गृहीत्वा आचाम पिबेति ॥

ततः किमित्यत्राह—

कथमिति ॥

---

१. तद्–अपा–म.

२. अस्योदकायान्तादुपरि–म.

कथमिति ॥ ततः पुनर[पि] पिता तथा कृतवन्तं पुत्रमुवाच–कथं जानिष इति ॥

अथ पुत्रस्य वचनं दर्शयति—

लवणमिति ॥

लवणमिति ॥ स्वादु भो लवणमिति पुत्रः पितरमुवाचेत्यर्थः ॥

अथ पितुर्वचनं दर्शयते—

मध्यमादाचामेति ॥

मध्यमादाचामेति ॥ हे सोम्योदकस्य मध्यात्किंचिदुदकं गृहीत्वा आचाम पिबेति पितोवाच ॥

ततः किमित्यत्राह—

कथमिति ॥

कथमिति ॥ पुनरपि पिता तथा कृतं(तवन्तम्) पुत्रमुवाच कथं जानीष इति ॥

पुत्रस्य प्रतिवचनं दर्शयति—

लवणमिति ॥

लवणमिति ॥ स्वादु भो लवणमिति पुत्रः पितरमुवाच ।

पुनरपि पितुर्वचनं दर्शयति—

अन्तादाचामेति ॥

अन्तादिति ॥ तथान्तादधोदेशात् किञ्चिदुदकं गृहीत्वा आचामेति पितोवाच ॥

ततः किमित्यत्राह—

कथमिति ॥

कथमिति ॥ पुनरपि तथा कृतवन्तं पुत्रमुवाच कथं जानीष इति ॥

पुनः पुत्रस्य प्रतिवचनं दर्शयति—

लवणमिति ॥

लवणमिति ॥ स्वादु भो लवणमिति पुत्रः पितरमुवाच ॥

ततः किमित्यत्राह—

अभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति ॥

अभिप्रायस्येति ॥ ततः पिता पुत्रमेवमुवाच । यद्येवं तर्ह्येनमुदकमभिप्रास्य परित्यज्य अथाचम्य मा मामुपसीदथा उपगच्छेथा इति पिता पुत्रमुवाचेत्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह—

तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्तते ॥

तद्धेति ॥ स पुत्रस्तथा चकार ह लवणोदकं परित्यज्य पितृसमीपमागवान् किल आगत्यय चैतमब्रवीत् तल्लवणं तस्मिन् एवोदके शश्वन्नित्यं संवर्तते विद्यमानमेव सम्यग् वर्तते इति । अस्त्येवम् ॥

किं तत इत्यत्राह—

तꣳ होवाचात्र वाव किल तत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ [२] ॥

तं होवाचाचेति ॥ एवमुक्तन्तं पुत्रं पितैवमुवाच ह–यथेदं लवणं पिण्डीभूतं दर्शनस्पर्शनाभ्यां[1] पूर्वमवगतं पुनरुदके विलीनं ताभ्यामगृह्यमाणमपि तत्र विद्यते जिह्वयोपलभ्यमानत्वात् । तथैव हे सोम्यात्र वावास्मिन् तेजोबन्नादिकार्यशुङ्गे देह एव किलशब्द आचायोपदेशस्मरणप्रदर्शनार्थः । सद्विद्यमानमेव न निभालयसे इन्द्रियैर्नोपलभसे किंच यथोदके दर्शनस्यर्शनाभ्यामनुपलभ्यमानमपि लवणमुपायान्तरेण जिह्वयोपलभसेऽत्रैवात्र वावात्रैवास्मिन् देह एव किल विद्यमानं सज्जगन्मूलमुपायान्तरेणोपलभस्वेति शेषः । भवतु विद्यमानस्याप्यनुपलम्भः, उपायान्तरेण चोपलम्भः ॥

ततः किमित्यत्राह—

स य एषोणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ॥

स य एष इति ॥ सत्यद्विद्यमानमपि देहादिशुङ्गेनोपलभ्यते स सच्छब्दवाच्यः परमात्मा । य इत्यादि पूर्ववत् ॥

पुनः पुत्रस्य वचनं दर्शयति—

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति ॥

भूय एवेति ॥ भूय एव पुनरपि मा मां भगवान् यत्सद्विद्यमा[न]मिन्द्रियैरनुपलभ्यमानमप्युपायान्तरेणोपलब्धुं शक्यते । तस्योपलब्धौ क उपाय इत्येतद्विज्ञापयत्विति पुत्रः पितरं पृष्टवानित्यर्थः ॥

---

[1] दर्शनस्पर्शनग्राह्यं–म.

पितुरङ्गीकृतं दर्शयति—

तथा सोम्येति होवाच ॥ [३] ॥

॥ इति छान्दोग्ये[1] षष्ठाध्यास्य त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

तथेति ॥ हे सोम्य तथास्त्विति पितोवाचेत्यर्थः ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां षष्ठाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत् ॥

यथेति ॥ हे सोम्य यथा लोके यं कमपि पुरुषं गन्धारेभ्यः गन्धाराख्येभ्यो जन[पदे]भ्योऽभिनद्धाक्षं बद्धं चक्षुषं कश्चिद् द्रव्यहर्ता तस्कर आनीय ततोऽनन्तरं तमभिनद्धाक्षमेव बद्धहस्तं व्यतिजने अत्यन्तविगतजने अरण्ये विसृजेत् ॥

ततः किमित्यत्राह—

स यथा तत्र प्राङ् वोदङ् वाऽधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीयारण्ये विसृष्टः ॥ [१] ॥

स यथेति ॥ स तस्करेणानीयारण्ये विसृष्टः पुमान् यथा तथापि दिग्भ्रमादिष्टः प्रागच्छतीति प्राङ्मुखो वा तथोदङ्मुखो वा अभिनद्धाक्षो गन्धारेभ्यस्तस्करेणानीतोऽस्म्यभिनद्धाक्ष एवारण्ये विसृष्टोऽस्मीति प्रध्मायीत विक्रोशेत् ॥

ततोऽपि किमित्यत्राय—

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति ॥

तस्येति ॥ तस्यैवं विक्रोशते यथाभिनहनं बन्धनं दैवादण्यमागतः कश्चित्कारुणिकः प्रमुच्य मुक्त्वा एतां दिशं उत्तरतो गन्धारा तां उत्तरां दिशं प्रव्रजेदिति ब्रूयात् ॥

ततः किमित्यत्राह—

स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येत ॥

स ग्रामादिति ॥ स एवं केनचित् बन्धनान्मोक्षितः पुमान् ग्रामाद्ग्रामान्तरं गच्छन् पण्डितः पण्डा बुद्धिरस्यास्तीति पण्डित उपदेशवान् मेधावी परोपदिष्टग्रामदेशमार्गनिश्चयसमर्थः सन् गन्धारानेवोपसंपद्येत नान्यो मूर्खः ॥

---

[1] सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने–म.

दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—

एवमेवाचार्यवान् पुरुषो वेद ॥

एवमेवेति ॥ एवमेव यथाऽयं दृष्टान्तस्तथैवेह प्रकृतेऽपि सतो जगदात्मनः स्वरूपा तेजोऽबन्नादिमयं वातपित्तकफरुधिरमेदोमांसास्थिमज्जाशुक्रक्रिमिमुत्रपुरीषवच्छीतोष्णाद्यनेकदुःखवच्च देहारण्ये[1] मोहपटाभिनद्धाक्षो भार्यापुत्रमित्रपश्वाद्यनेकदृष्टादृष्टविषयतृष्णाभिभूतः पुण्यापुण्यकर्मतस्करैः प्रवेशितः सत् अस्याहं पुत्रो ममैते बान्धवाः सुख्यहं दुःख्यहं मूढः पण्डितो धार्मिको बन्धुमान् जातो मृतो जीर्णः पापी मम पुत्रो मृतो नष्टं धनं हा हतोऽस्मि कथं जीविष्यामि का मे गतिः को वा मम पालक इत्येवमनेकप्रकारं विक्रोशन् दैवात् पुण्यातिशयवशात् आचार्यवान् परमकारुणिकं कञ्चिद्ब्रह्मात्मविदं विमुक्तबन्धनं ब्रह्मनिष्ठमाचार्यं प्राप्तः सन् पुरुषस्तेन ब्रह्मविदा कृपया दर्शितसंसारदोषदर्शनमार्गो विमुक्तः संसारविषयेभ्यस्तत्त्वमसीत्याद्युपदेशेनाविद्यामोहपटाभिनहनान्मोक्षितः सन्सदात्मानं वेद नान्यथा मूर्ख इति ॥

ननु किमाचार्योपदेशेन निवारिताविद्यामोहपटलस्य ब्रह्मात्मतत्त्वसाक्षात्कारात्तदैव ब्रह्मसंपत्तिर्नेत्याह—

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति ॥ [२] ॥

तस्येति ॥ तस्यैवमाचार्यवतो मुक्ताविद्यामोहपटलस्य तावदेव तावानेव कालश्चिरमक्षेपः सदात्मस्वरूपसंपत्तेरिति शेषः । यावन्न विमोक्ष्यते पुरुषव्यत्ययः येन कर्मणा शरीरमारब्धं तस्योपभोगेन क्षयात् देहपातो यावदित्यर्थः । अथ तदैव संपत्स्ये संपत्स्ये । अत्रापि पुरुषव्यत्ययः । आनन्तर्यार्थस्याथशब्दस्य कथं समकालपरत्वमिति चेन्नैवम् । देहमोक्षस्य सत्संपत्तेश्च विदुषः कालभेदाभावत् ।

ननु यथा सद्विज्ञानान्तरमेव देहपातः सत्संपत्तिश्च न भवति कर्मशेषवशात् तथा प्रवृत्तफलानि प्राक् ज्ञानोपत्तेर्जन्मान्तरसञ्चितान्यपि कर्माणि सन्तीति तत्फलभोगार्थं पतितेऽप्यस्मिन् शरीरे शरीरान्तरमारब्धव्यम् । उत्पन्नेऽपि ज्ञाने यावज्जीवं विहितानि कर्माणि प्रतिषिद्धानि वा करोत्येवेति तदर्थमप्यवश्यं शरीरान्तरमारब्धव्यम् । ततश्च कर्माणि ततश्च शरीरान्तरमिति घटीयन्त्रवत्कर्मशरीरयोः पुनः पुनरावृत्ते र्मोक्षाभावेन ज्ञानानर्थक्यं प्रसज्येत । अथ यदि ज्ञानात्कर्माणि क्षीयेरन् तर्हि ज्ञानप्राप्तिसमकालमेव ज्ञानस्य

---

१. देहारण्ये मोहारण्ये—म.

२. ० पितृ०—म.

३. ब्रह्मतत्त्व०—म.

सत्संपत्तिहेतुत्वान्मोक्षः स्यादिति शरीरपातः स्यात् । तदसत् । तथा हि कर्माणि द्विविधानि आरब्धान्यनारब्धानि[1] चेति । तत्र यान्यारब्धानि[2] यैश्च शरीरमारब्धं तेषामुपभोगेनैव क्षयः । यथारब्धवेगस्य लक्ष्यमुक्तस्येष्वादेर्वेगक्षयादेव स्थितिः । न पुनर्लक्ष्यवेधसमकालमेव तद्वद्यानि त्वनारब्धफलानि प्राग् ज्ञानोत्पत्तेरूर्ध्वं च कृतानि क्रियमाणानि वा जन्मान्तरकृतानि वा तेषां ज्ञानेनैव क्षयो यथा प्रायश्चित्तनेति । तथा च स्मरन्ति·

‘यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि [भस्मसात्] कुरुते तथा ॥’

[भ. गी. ४-३७] इति ।

श्रूयते च–

‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे’ [मुं. उप. २-२-९] इति । एषा दिक्, तस्माद् ब्रह्मविदो जीवितादिप्रयोजनाभावेऽपि प्रवृत्तफलानां कर्मणामुपभोगेनैव क्षयस्यावश्यकत्वात् यावच्छरीरारम्भककर्मक्षयो नास्ति तावद्देहपातो नास्तीत्यभिप्रेत्य **‘तस्य तावदेव चिरम्’** [उप. ६-१४-२] इति श्रुतिः प्रवृत्ता ॥

अस्त्वाचार्योपदेशात्प्रत्यक्षाद्यगृह्यमाणस्यापि सतो विज्ञानं किं तत इत्यत्राह—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ॥

स य एष इति ॥ य आचार्योपदेशमन्तरेन न विज्ञायते तदुपदेशाच्च विज्ञायते स परमात्मा । य इत्यादि पूर्ववद्व्याख्येयम् ।

पुनः श्वेतकेतोर्वचनं दर्शयति–

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति ॥

भूय एवेति ॥ भूय एव पुनरपि मा मां भगवान् आचार्यवान् विद्वान्येन क्रमेण सत्संपद्यते तं क्रमं दृष्टान्तेन विज्ञापयत्विति श्वेतकेतुः पितरं पृष्टवानित्यर्थः ॥

पितुरङ्गीकारं दर्शयति–

तथा सोम्येति होवाच [३] ॥

॥ इति चतुर्दशः खण्डः ॥

---

[1] ०रब्धफलानि–म.

[2] यान्यारब्धफलानि–म.

तथेति ॥ हे सोम्य तथास्त्वित्यङ्गीकृत्य पितोवाच ॥

॥ **इति छान्दोग्यदीपिकायां[1] षष्ठाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः** ॥

पित्रा वक्तुमङ्गीकृतमर्थं दर्शयितुमुपक्रमते–

पुरुषꣳ सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति ॥

पुरुषं सोम्येति ॥ हे सोम्योतोपतापिनं ज्वराद्युपतापवन्तं मुमूर्षुं पुरुषं ज्ञातयो बन्धवः पर्युपासते तवपितरं मां जानासि तव पुत्रं मां जानासीत्येवं पृच्छन्तः पर्युपासते परिचार्योपासते ॥

ततः किमित्यत्राह–

तस्य यावन्न वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति [१] अथ यदास्य वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥

तस्येति ॥ तस्य मुमूर्षोः पुरुषस्य यावद्यावन्तं कालं वाङ्मनसि न संपद्यते मनः प्राणे न संपद्यत इत्यनुषङ्गः सर्वत्र प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावत्तावन्तं कालं पुत्रादिकं जानाति । अथ पुनर्यदास्य पुरुषस्य वाङ्मनसि संपद्यत इत्युत्तरत्रानुषज्यसे मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्, अथ तदा न जानाति । यं(यः) संसारिणो मरणक्रमः स एव विदुषोऽपि सत्संपत्तिक्रमः । इयांस्तु विशेषतः[2] यस्त्वविद्वान् स तस्माद्देहादुत्थाय स्वकर्मानुसारेण व्याघ्रादि भावं देव[3]मनुष्यादिभावं वा प्रतिपद्यते । विद्वान्स्तु [आ]चार्यो[4]पदेशनिमित्तं सच्चिदानन्दब्रह्मसाक्षात्कारेण ब्रह्मात्मभावं प्रतिपद्य न पुनरावर्तत इति । अन्ये पुनरेवमाहुः–ब्रह्मविन्मूर्धन्यया नाड्योत्क्रम्यादित्यद्वारेण ब्रह्मभावं गच्छतीति । तदनुपपन्नम् । सदात्मैकत्वदर्शिनः सत्याभिसंधियुक्तस्य देशकालनिमित्तफलाभिसन्धिकृतधर्मानुत्पत्तेः । किं च मनःनिमित्तानामविद्याकामकर्मणां सद्विज्ञानहुताशनेन भस्मीकृतत्वेन गमनासंभवात् **‘इहैव सर्वे प्रलीयन्ते कामाः’** [मु. उ. ३-२-२] इत्यादि श्रुतेः **‘ब्रह्मैव सत् ब्रह्माप्येति’** इत्यविलंबश्रुतेश्च । अस्त्वेवम् ॥

---

[1] सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने–म.

[2] विशेषः–म.

[3] ‘देव’–नास्ति–म.

[4] शास्त्राचार्यो०–म.

किं तत इत्यत्राह–

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ॥

स य एष इति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

पुनः श्वेतकेतोर्वचनं दर्शयति–

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति ॥

भूय एवेति ॥ भूय एव पुनरपि यदि संसारिणो मुमुक्षोश्च मरिष्यतः समानः सत्संपत्तिक्रमस्तर्हि विद्वान् संपन्नो न पुनरावर्तते । अविद्वांस्त्वावर्तत इत्यत्र कारणं दृष्टान्तेन मा मां भगवान् विज्ञापत्विति पितरं पृष्टवानित्यर्थः ॥

पितुरङ्गीकारं दर्शयति–

तथा सोम्येति होवाच ॥ [३] ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां[1] षष्ठाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ॥

तथेति ॥ हे सोम्य तथास्त्वित्यङ्गीकृत्य पितोवाच ह ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने षष्ठाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ॥

यद्वक्तुमङ्गीकृतं पित्रा तदिदानीं दर्शयितुमुपक्रमते–

पुरुषꣳसोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकाषीः[2] परशुमस्मै तपतेति ॥

पुरुषमिति ॥ उतापि च हे सोम्य शृणु । पुरुषं[3] चौर्यकर्मणि संदिह्यमानं निग्रहार्थं परीक्षणार्थं वा हस्तगृहीतं हस्ते गृहीतं हस्तेन गृहीतं वा राजपुरुषाः आनयन्ति कारागृहं शुद्धिस्थानं वा प्रापयन्ति । ततः किं कृतवानयमिति पृष्टा वदन्ति अस्य धनमयमपहार्षीदपहृतवानिति । ते पुनः संदह्यमानमेवं वदन्ति । अस्य धनस्य स्तेयं त्वमकार्षीरिति । पुनस्तस्मिन्नपह्नुवाने स्वभृत्यान् प्रत्येवं वदन्ति–अस्मै[4]स्तेयमेवह्नुवानाय परशुं तपतेति ॥

---

[1] सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्याने–म.

[2] मकाषीत्–मु.पा.

[3] 'पुरुषं'–नास्ति–म.

[4] तस्मै–म.

ततः किमित्यत्राह–

स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसंधोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ [१] अथ यदि तस्यातर्का(कर्ता) भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते । स सत्याभिसन्धः सत्येनाऽऽत्मानमन्तर्धाय परशु तप्तं प्रतिगृह्णाति न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥२॥

स यदि(दी)ति ॥ तत्र स संदिह्यमानपुरुषो यदि तस्य स्तैन्यस्य कर्ता भवति तर्हि बहिरपह्नुते । स एवंविधस्ततत(स्त)त एवानृतमन्यथाभूतं संतमन्यथाऽऽत्मानं[1] कुरुते । स एवमनृताभिसंधो मृतेनात्मानमन्तर्धाय तप्तं परशुं मोहात्प्रतिगृह्णाति । स तेन पाप्मना दह्यते । अथानन्तरं राजपुरुषैः स्वकृतेनानृताभिमन्धिदोषेण हन्यते । अथ पुनर्यदिष्टस्य चौर्यस्याकर्ता भवति चौर्यकृन्न भवति तत एव चौर्यकृत्वा(त्या)भावादेवात्मानं सत्यमन्यथाभावरहितं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येन चौर्यकर्तृत्वाभावेनैवात्मानमन्तर्धाय तप्तं परशुं प्रतिगृहणाति । स न दह्यते । स गृहीततप्तपरशुरपि दोषाभावान्न दह्यते। अथानन्तरं स सत्याभिसन्धिकृतेन पुण्येन मुच्यते मृषाभिघोक्तेभ्यः। अस्त्वेवम् ॥

प्रस्तुते[3] किमायातमित्यत्राह–

स यथा तत्र न दाह्येत ॥

स यथेति ॥ यथा स्तेयकृर्तृकत्रोः तप्तपरशुहस्तस्तलसंयोगस्य समानत्वेऽपि स्तेयस्य कर्ताऽनृताभिसन्घो दह्यते स्वकृतेन पापकर्मणा स स्तेयस्याकर्ता तु सत्याभिसन्धः तत्र तप्त परशुग्रहणकर्मणि सत्यव्यवहितहस्ततलत्वान्न दाह्यते न दह्यते, दीर्घंच्छान्दसः। एवं ब्रह्मविदब्रह्मविदोः शरीरपातकाले स संपत्तौ समानायामपि ब्रह्मवित्सत्संपद्य ज्ञानाग्निना दग्धाशेषकर्मत्वाद्देवतिर्यगादिदेहग्रहणाय...न वतते । अविद्वांस्तु विकारानृताभिसन्धः पुनर्व्याघ्रादिभावं देवादिभावं वा यथाकर्म प्रतिपद्यते । अस्त्वेवम् ॥

कि तत इत्यत्राह—

एतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ॥

---

[१]. 'आत्मान'–नास्ति–म.

[२]. 'मोहात्'–नास्ति–म.

[३]. प्रकृते म.

एतदात्म्येति ॥ यदात्माभिसन्ध्यनभिसन्धिकृते मोक्षबन्धकृतेन[1] यच्च जगतो मूलं सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाश्च सर्वाः प्रजाः यच्चाजमजरममृतमभयं शिवमद्वितीय[2]नित्यानन्दचित्स्वभावं स एष आत्मा यस्य तदेतदात्म्यम् तस्य भाव तदात्म्यं, इदं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत्सर्वम् । यदात्मकमिदं सर्वं तदेव सत्यम्, अन्यन्नामरूपादिविकारजातमसत्यम्, अतः स एवात्मा जगतः प्रत्यक्स्वरूपं तत्त्वं निरूपपदस्यात्मशब्दस्य प्रत्यगात्मनि निरूढत्वात् । तस्मात्तत्सत्तत्त्वं हे श्वेतकेतो त्वमसि ॥

प्रकृतमुपसंहरति––

तद्धास्य विजिज्ञाविति विजिज्ञाविति ॥ [३] ॥

॥ इति छान्दोग्ये षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥

तद्धेति ॥ यदाचार्योपदेशात्प्राक् श्वेतकेतुर्न विजिज्ञौ तथेदानीं पित्रौ तत्त्वमसीति वाक्यात् हेतुभिर्दृष्टान्तैश्च प्रतिबोधितः सन् अस्य पितुस्तदुक्तं सदेवाहस्मीति विजज्ञौ ह विज्ञातवान् किल । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥

तत्त्वविज्ञानवतो जीवन्मुक्तिरूपफलविषयाः विचाराश्चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे नवमाद्यधिकरणेषु वर्णिताः । तद्यथा । नवमाधिकरणमारचयति––

ज्ञानिनः पापलेपोऽस्ति नास्ति वाऽनुपभोगतः ।
अनाश इति शास्त्रेषु घोषाल्लेपोऽस्य विद्यते ॥
अकर्त्रात्मधिया वस्तुमहिम्नैव न लिप्यते ।
अश्लेषनाशावप्युक्तावज्ञे घोषस्तु सार्थकः ॥[3]
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥[4]

पापविनाशस्य सर्वशास्त्रस्य ब्रह्मसिद्धत्वाद्ब्रह्मज्ञानिनोऽयस्ति पापलेप[5] इति प्राप्ते ब्रूमः–तत्र तावन्निर्गुणब्रह्मात्मतत्त्वविद[6]: पापलेशशंकापि नोदेति नाकार्ष[7] न करोमि [न] करिष्यामीति कालत्रयेऽप्यकर्तृब्रह्मस्वरूपत्वेन निश्चितत्वात्, न ह्यकर्तृलेप[8] मन्दा

---

१. मोक्षबन्धने–म.

२. शिवमद्वितीयम्–म.

३. ब्र. सू. न्या. पृ. ८४५

४. मुद्रितपाठे (ब्र. सू. न्या. पृ. ८४५) नास्ति

५. पापलेश–म.

६. ०ब्रह्मात्मविदः–म.

अपि शंकन्ते । नापि सगुणब्रह्मविदो लेपोऽस्ति, अश्लेषविनाशयोः श्रुतत्वात् । ब्रह्मसाक्षात्कारादूर्ध्वं देहेन्द्रियव्यवहारवशात्संभाविनस्य पापस्याश्लेष श्रूयते । तद्यथा–‘**पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते** ’ [छा. उप. ४–१४–३]। एवमेवंविदि पापं कर्म श्लिष्यत इति साक्षात्कारात्पूर्वं त्विह जन्मनि जन्मान्तरेषु च तस्य[1] पापसंचस्य विनाशः श्रूयते–‘**त[द्य]थैषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रत्येत्येवं (प्रदूयेतैवं) हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते** । [छा. उप. ५–२४–३] नाभुक्तमित्यादि शास्त्रं तु सगुणनिर्गुणब्रह्मज्ञानरहितविषयम् । तस्मान्नास्ति ज्ञानिनः पापलेपः ।

दशमाधिकरणमारचयति––

पुण्येन लिप्यते नो वा लिप्यतेऽस्य श्रुतत्वतः ।
नहि श्रौतेन पुण्येन श्रौतं ज्ञानं विरुध्यते ॥

अलेपो वस्तुसामर्थ्यात्समानः पुण्यपापयोः ।
श्रुतं पुण्यं पापतया तरणं च समं श्रुतम् ॥[2]

मा भूत्पापलेपः पुण्यलेपस्तु विद्यते । पुण्यस्य श्रौतत्वेन श्रौतब्रह्मज्ञानेन[3] सह विरोधाभावादिति प्राप्ते ब्रूमः–अकर्तात्मवस्तुसामर्थ्यात् पापवत्पुण्येनापि न लिप्यते । सगुणज्ञानिनस्तूपासनव्यतिरिक्तं काम्यं पुण्यं पापादधनजन्नहेतुत्वात्पापसममेवेति मत्वा पापत्वेनैव दहरविद्यावाक्यशेषे श्रुतिः परामृशति–‘**सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते** [छा. उप. ८–४–१] इति । अस्यार्थः[4]–सुकृतं दुष्कृतं तत्फलं च पूर्ववाक्ये यद्यदनुक्रान्तं ते सर्वे पाप्मानोऽस्माद् उपासकान्निवर्तन्त इति । किं च ‘**उभे उ हैवैष एते तरति**’ [बृ. उप. ४–४–२२] इति श्रुतिः । पुण्यपापयोरुभयोर्ज्ञानिनो तरणं सममेव ब्रूते तस्मात्पापवत्पुण्येनापि न लिप्यते ।

एकादशाधिकरणमारचयति—

आरब्धे नश्यतो नो वा संचिते इव नश्यतः ।
उभयत्राप्यकर्तृत्वतद्बोधौ सदृशौ खलु ॥
आदेहपातसंसारश्रुतेरनुभवादपि ।
इषुचक्रादिदृष्टान्तान्नैवारब्धे विनश्यतः ॥[5]

---

[1] संभावितस्य–म.

[2] ब्र. सू. न्या. पृ. ८४८

[3] श्रौतज्ञानेन–म.

[4] अस्यायमर्थः–म.

[5] ब्र. सू. न्या. पृ. ८४९

ज्ञानात्पूर्वं संचिते पुण्यपापे द्विविधे आरब्धे अनारब्धे च । तयोर्द्विविधयोरप्यकर्तृत्वमात्मनः समानम् । तद्बोधश्च समः । ततोऽनारब्धवदारब्धयोरपि ज्ञानोदयसमय एव विनाश इति प्राप्ते ब्रूमः—श्रुत्यनुभवयुक्तिभ्यः आरब्धयोरविनाशो गम्यते । **'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये'** [छा. उप. ६-१४-२] इति श्रुतिः । अयमर्थः । तस्य तत्त्वविदो मुक्तिर्विलम्ब्यमानापि नात्यन्तं विलम्ब्यते किन्तु गर्भाधानकाले क्लृप्तस्यायुषः क्षयाभावेन यावद्देहप्राणैर्न विमोक्ष्यते तावदेव विलम्ब्यते । अथ देहप्राणवियोगे सति ब्रह्म संपद्यत इति । यथानया श्रुत्या तत्त्वविदोऽप्यादेहान्तं संसारोऽङ्गीकृतः, तथा विद्वदनुभवोऽप्यस्मिन्नर्थे स्फुटः[1] । युक्तिश्चोच्यते यथा लोके तूणनिष्ठेषु बाणेषु धानुष्कस्य स्वीकारपरित्यागयोः स्वातन्त्र्येऽपि मुक्ते बाणे स्वातन्त्र्यं न दृश्यते । स तु बाणे वेगक्षीणे स्वयं पतति । एवं कुलालचक्रभ्रमणमुदाहर्तव्यम् । तथा दार्ष्टान्तिकब्रह्मज्ञानस्याप्यनारब्धकर्मसु नाशकत्वस्वातन्त्र्यमस्तु, न त्वारब्धे कर्मणि, आरब्धस्य प्रवृत्तफलत्वात् । तथैतैः श्रुत्यादिभिरारब्धस्थितिर्नाभ्युपगम्येत तदोपदेष्टुरभावाद्विद्यासंप्रदाय उच्छिद्येत । न तावदविद्वानुपदेष्टेति वक्तुं शक्यं विद्वांस्तु वेदनसमय एव मुच्यत इति को नामोपदेष्टा संभवति । तस्मान्नारब्धयोर्नाशः ॥

द्वादशाधिकरणमारचयति—

नश्येन्नो वाग्निहोत्रादि नित्यं कर्म विनश्यति ।
यतोऽयं वस्तुमहिमा[2] न क्वचित्प्रतिहन्यते ॥
अनुषक्तफलांशस्य नाशोऽप्यन्यो न नश्यति ।
विद्यायामुपयुक्तत्वाद्धाव्यश्लेषस्तु काम्यवत् ॥[3]

ज्ञानात्पूर्वम् इह जन्मनि जन्मान्तरे वा अनुष्ठितं यदग्निहोत्रादि नित्यं कर्म तस्यापि काम्यकर्मवदकर्त्रात्मबोधवस्तुमहिम्ना नाशोऽप्यभ्युपेयत इति प्राप्ते ब्रूमः—द्वावंशौ नित्यकर्मणः—एकोंऽशः प्राधान्येन चित्तशुद्धिप्रदः अपरोंऽशोऽनुषङ्गेण स्वर्गादिफलप्रदस्तस्य नाशोऽस्तु नाम, चित्तशुद्धिप्रदस्य तु विद्यायामुपयुक्तत्वान्न नाशो वर्णयितुं शक्यः । न हि लोके भोगेनोपक्षीणं व्रीह्यादिकं नष्टं मन्यते । यत्तु ज्ञानादूर्ध्वं नित्यं कर्म तस्य काम्यवदश्लेषः ।

त्रयोदशाधिकरणमारचयति—

किमङ्गोपास्तिसंयुक्तमेव विद्योपयोग्युत ।
केवलं वा प्रशस्तत्वात्सोपास्त्येवोपयुज्यते ॥

---

[1] अतिस्फुटम्—म.

[2] वस्तुनियतः—म.,

[3] ब्र. सू. न्या. पृ. ८५१

केवलं वीर्यवद्विद्यासंयुक्तं वीर्यवत्तरम् ।
इति श्रुतेस्तारतम्यादुभयं ज्ञानसाधनम् ॥[1]

विद्यासाधनं नित्यं कर्म द्विविधं संभाव्यते–अङ्गावबद्धोपास्तिसहितं तद्रहितं च । तत्रोपासनस्य[2] कर्मणः प्रशस्तत्वात् तदेव विद्यासाधनं न तूपास्तिरहितमिति प्राप्ते ब्रूमः– **‘यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति’** [छा. उप. १–१–१०] इति श्रुतिः । सोपासनस्य कर्मणोऽतिशयेन वीर्यमस्तीति वदन्ति । निरुपासनस्यापि वीर्यमात्रमभ्यजानाति अन्यथा तरप्रत्ययानुपपत्तेः । तस्मात्सोपासननिरुपासनयोस्तारतम्येन विद्यासाधनत्वम् ।

चतुर्दशाधिकरणमारचयति–

बहुजन्मप्रदारब्धयुक्तानां नास्त्युतास्ति मुक् ।[3]
विद्यालोपे कृतं कर्म फलदं तेन नास्ति मुक् ॥
प्रारब्धं भोजयेदेव न तु विद्यां विलोपयेत् ।
सुप्तवुद्धवदश्लेषतादवस्थ्यात्कुतो न मुक् ॥[4]

अधिकारिपुरुषाणां मुक्तिर्नास्ति प्रारब्धभोगाय बहुषु जन्मसु स्वीकृतेषु तत्र पूर्वार्जितविद्यायां [लुप्तायां यत्कर्म क्रियते तस्य फलप्रदत्वे सत्युत्तरोत्तरजन्मपरंपराया अवश्यंभावित्वादिति प्राप्ते ब्रूमः–आरब्धं कर्म स्वफले सुखदुःखे भोजयेत् तदर्थमेव प्रवृत्तत्वान्न हि विद्याविलोपार्थं किञ्चित्कर्मपूर्वमनुष्ठितं येन कर्मवशाद्विद्यालोप आशंक्येत । न च व्यवधानमात्रेण विद्यालोपः सुषुप्तिव्यवधाने तल्लोपादर्शनात् । अतो विद्यायामवस्थितायां बहुरपि क्रियमाणैः कर्मभिरश्लेषात् अस्त्यधिकारिणां मुक्तिः । यद्यप्येतद्गुणोपसंपादे निर्णीतं तथैव तस्यैवाक्षेपसमाधाने इत्यनवद्यम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

॥ इति श्रीमत् राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-
श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येणविरचिते
माधवीये सामवेदप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
छान्दोग्यदीपिकायां षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥

---

[1] ब्र. सू. न्या. ८५२

[2] तत्र सोपासनस्य–म.

[3] ‘म’प्रतपाठोऽत्रावधिः ।

[4] ब्र. सू. न्या. पृ. ८५४

श्रीसायणाचार्यविरचितायां छान्दोग्योपनिषद्दीपिकायां

सप्तमोऽध्यायः

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ॥
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

एवं परमार्थतत्त्वोपदेशपरेण षष्ठाध्यायेन सदात्मैकत्वमुपदिश्येदानीं सतोऽर्वाचीनविकारलक्षणानि नामादीनि प्राणान्तानि क्रमेण निर्दिश्य तद्द्वारेणापि शाखाचन्द्रन्यायेन निरतिशयं भूमाख्यं तत्त्वमुपदेष्टुं सप्तमोऽध्याय आरभ्यते । तत्रानिर्दिष्टेषु सतोऽर्वाचीनेषु नानादिषु तत्त्वेषु सत्सु सन्मात्रेनिष्टैर्दिन्यदपि (?) अविज्ञातं स्यादिति कस्यचिदाशंका जायते । तन्निवारणाय यद्वा सोपानारोहणवत् स्थूलादारभ्य सूक्ष्मं सूक्ष्मान्तरं च बुद्धिविषयं ज्ञापयित्वा तदतिरिक्तमवाङ्मनसगोचरं भूमाख्यं तत्त्वं ज्ञापयितुमथवा नामादीन्युत्तरोत्तरविशिष्टानि तत्त्वानि तेभ्योऽप्युत्कृष्टतमं भूमाख्यं तत्त्वमिति ज्ञापयितुं नामादीनां तत्त्वानां क्रमेणोपन्यासः ।

तत्र प्रथमं श्रुताध्ययनसम्पन्नो देवऋषिः सर्वविद्योऽपि नारद आत्मज्ञानराहित्येन शुशोच । किमु वक्तव्यमन्योऽल्पविदकृतपुण्यातिशयो जन्तुरात्मज्ञानाभावे शोचतीत्यात्मविद्यास्तुत्यर्थमथवाऽऽत्मज्ञानादन्यच्छ्रेयः साधनं नास्तीति प्रदर्शनार्थमुत्तरमाभिजनविद्यावृत्तनिमित्ताभिमानपरित्यागेन गुरूपसत्तिरात्मज्ञानसाधनमिति प्रदर्शनार्थं च सनत्कुमारनारदाख्यायिकारभ्यते—

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः ॥

अधीहीति ॥ भगवो हे भगवन् अधीहि अधीष्वेति विज्ञापयन् नारदाख्यो देवऋषिः सनत्कुमारं सनत्कुमाराख्यं योगीश्वरं ब्रह्मिष्ठमुपससाद उपसन्नो बभूव किल ॥

ततः किमित्यत्राह—

तꣳ होवाच—यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति॥

तं होवाचेति ॥ तमेव न्यायेनोपसन्नं नारदं सनत्कुमार एवमुवाच किल—हे नारद त्वं यदात्मविषयं किंचिद्वेत्थ तेनेदमहं जान इति तत्प्रख्यापनेन मा मामुपासीद । ततो विज्ञानादूर्ध्वं ते तुभ्यमहं वक्ष्यामीति ॥

नारदस्य प्रतिवचनं दर्शयति—

स होवाच ॥ [१] ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं वेदविद्यां[1] ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवयजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥ [२] सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवाऽस्मि नाऽऽत्मवित् । श्रुतꣳह्येव मे भगवच्छ्रुतेभ्य[2]स्तरति शोकमात्मविदिति । सोऽहं भगवन् शोचामि । तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति ॥

स होवाचेति ॥ स सनत्कुमारेणोक्तो नारद एवमुवाच किल-भगवो हे भगवन् ऋग्वेदमध्येमि स्मरामि सनत्कुमारेण विज्ञानस्य पृष्टत्वात् । तथा यजुर्वेदमध्येमीति सर्वत्रानुषङ्गः । तथा सामवेदं तथाऽऽथर्वणसंज्ञकं चतुर्थवेदं वेदशब्दस्य प्रकृतत्वात् तथेतिहासपुराणं पञ्चमं वेदं तथा वेदानां भारतपञ्चमानां वेदं पदपदार्थज्ञानसाधनं व्याकरणमीत्यर्थः । ऋग्वेदादीनां पदादिविभागेन व्याकरणेन ज्ञापयमानत्वात्तथा पित्र्यं श्राद्धकल्पं पितृसंबन्धि तथा राशिं गणितं तथा दैवं देवसम्बन्ध्युत्पातज्ञान तथा विधिं महाकाममतादिशास्त्रं तथा वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रं तस्य वाकोवाक्यरूपत्वात् तथैकायनं नीतिशास्त्रं तथा वेदविद्यां निरुक्तं तस्य वैदिकपादादिनिरुक्तरूपत्वात् तथा ब्रह्मविद्यां ब्रह्मणः ऋग्यजुःसामाख्यस्य विद्या ब्रह्मविद्या शिक्षा, कल्पं छन्दो विजितय(विच्छितय)स्तां तथा भूतविद्यां भूततन्त्रं तथा क्षत्रविद्यां धनुर्वेदं तथा नक्षत्रविद्यां ज्योतिषं तथा सर्पदेवयजनविद्यां सर्पविद्यां गारुडं देवयजनविद्यां गाधर्वयुक्तिनृत्तगीतवाद्यशिल्पादिकां एतासां विद्यानाम् अन्यतरविद्याविज्ञानशंकानिवारणार्थमाह–एतत्सर्वं भगवो हे भगवन्नध्येम्यहं स्मरामि । यो ऋग्वेदादि सर्ववित् सोऽहं भगवो हे भगवन् मंत्रविदेव सर्वं जानन्नपि कर्मविदेवास्मि । **'मन्त्रेषु कर्माणि'** [छा. उप. ७–४–१] इति वक्ष्यति नात्मविदात्मानं न जानामीत्यर्थः ।

नन्वात्मापि मन्त्रैरेव प्रकाश्यते । ततः कथं मन्त्रविदः आत्मज्ञानाभाव इति चेत् मैवम्, अभिधेयभेदस्य विकारत्वाद्विकारस्य चानात्मत्वात्तद्विज्ञानेऽप्यात्मज्ञानाभावात् ।

ननु कथं तर्ह्यात्मशब्देनात्माभिधीयत इति चेत् न, आत्मशब्देनाप्यात्मनोऽनभि-

---

[1] १. देवविद्याम्–मु.पा.

[2] २. भगवद्दृशेभ्य–मु.पा.

धानात् **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** [तै. उप. २-४; २-९] **'यत्र नान्यत्पश्यति'** [छा. उप. ६-२४-१] इत्यादि श्रुतेः । कथं तर्हि **'स आत्मा तत्त्वमसि'** [छा. उप. ६-८-७, ६-९-४, ६-१०-३] इत्यादिष्वात्मशब्द आत्मानं प्रत्ययन्तीति चेत् नायं दोषः। यथा राजवत्यां सेनायां दृश्यमानायां छत्रध्वजपताकादिव्यवधानेनादृश्यमाने राजनि एव राजेति शब्दप्रयोगः । तत्र कोऽसौ राजेति विशेषनिरूपणीयां दृश्यमानेतरप्रत्याख्याने सत्यन्यस्मिन् अदृश्यमाने राजनि राजप्रतीतिर्भवति। तथेहापि देहवति प्रत्यगात्मनि भेदविषये प्रयुज्यमान आत्मशब्दो देहादीनां परिदृश्यमानानामात्मत्वे प्रत्याख्याते सति यदवशिष्टं सदवाच्यमपि प्रत्याययतीतिदिक् तन्मंत्रविदोऽपि तन्मन्त्रप्रकाश्यकर्मज्ञत्वमेव न त्वात्मज्ञत्वमित्यर्थः ।

किञ्च श्रुतमेव आगमज्ञानमेवास्ति केवलं हि यस्मान्मे भगवद्दृशेभ्यो युष्मत्सदृशेभ्यस्तरति शोकं मनस्तापमात्मविदिति । अतः सोऽहमनात्मविद् भगवो हे भगवन् शोचामि । अकृतार्थबुद्ध्या सर्वदा संतप्ये तमकृतार्थबुद्ध्या संतप्यामानं मा मां शोकस्य दुःखसागरस्य पारमन्तं भगवान् पूज्यः सनत्कुमारः आत्माज्ञानोडुपेन तारयतु, आत्मज्ञानोपदेशेन कृतार्थबुद्धिमापादत्वित्यर्थः ॥

ततः सनत्कुमारस्य वचनं दर्शयति—

तꣳ होवाच-यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवेतत् ॥ [३] नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं वेदविद्या[१] ब्रह्मविद्या, भूतविद्या सर्पदेवयजनविद्या, नामेवैतत् ॥

तं होवाचेति ॥ तमेनमुक्तवन्तं नारदं सनत्कुमार एवमुवाच किल-हे नारद त्वं यद्वै किंच यदेव किंचैतद्यथोक्तमध्यगीष्ठाः अधीतवानसि ज्ञातवानसीत्यर्थः । अध्ययनेन **'वाचारम्भ विकारोणं नामधेयम्'**[छा. उप. ६-१-४, ५, ६,] इति श्रुतेस्तस्यैव विवरणं नाम वा नामैव । ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

ततः किमित्यत्राह--

नामोपास्स्वेति ॥ [४ ॥

नामोपास्स्वेति ॥ एतद्रुगवेदादिरूपं नाम ब्रह्मेति ब्रह्मदृष्ट्योपास्त्व यथा प्रतिमां विष्णुबुद्ध्या तद्वदित्यर्थः ।

---

[१] देवविद्या-मुपा.

नामोपास्तेः फलं दर्शयति—

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥

स य इति ॥ स यो यः कश्चित्पुमान् नाम ब्रह्मेत्युपास्ते तस्य यत्फलं भवति तच्छृणु । यावन्नाम्नो गतं गोचरः तत्र तस्मिन्नामगोचरेऽस्योपासकस्य यथाकामचरणं राज्ञा इव स्वविषये भवति ॥

यथोक्तां नामोपास्तिमुपसंहरति—

यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

यो नामेति ॥ यः पुमान्नाम ब्रह्मेत्युपास्ते स यथोक्त फलभाग् भवत्येव । नात्र संशय इत्यर्थः ॥

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति--

अस्ति भगवो नाम्नो भूय इति ॥

अस्तीति ॥ भगवो हे भगवन् नाम्नो भूयोऽधिकतरं किमस्ति यद्ब्रह्मदृष्ट्यर्थमित्यभिप्रायः ।

सनत्कुमारस्य वचनं दर्शयति—

नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति ॥

नाम्नेति ॥ नाम्नो भूयोऽधिकतरमस्ति वा विद्यत एवेति सनत्कुमारो नारदं प्रत्युक्तवानित्यर्थः ॥

ततो नारदस्य प्रतिवचनं दर्शयति—

तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ [५] ॥

इति सप्तमाध्याये प्रथमः खण्डः ॥

तन्मेति ॥ एवमुक्तो नारद आह—यद्यस्ति तर्हि तदधिकतरं मे मह्यं भगवान् पूज्यो ब्रवीत्विति ॥

॥ इति दीपिकायां सप्तमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥

एवं नाम्नो ब्रह्म दृष्ट्योपास्यतां दर्शयित्वेदानीं नाम्नोऽपि अधिकतराया वाचो ब्रह्मदृष्ट्योपास्यत्वं दर्शयितुं नाम्नोऽधिकतरत्वं वाचो दर्शयति--

वाग्वाव नाम्नो भूयसि(सी) ॥

वागिति ॥ वाग् वाव वागिन्द्रियमेव नाम्नो भूयस्यधिकतरा जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु स्थितं वागिन्द्रिय वर्णानामभिव्यञ्जकं वर्णात्मकं च नाम । अतो वाचो नामेति कारणत्वात्कार्यान्नाम्नः कारणभूता वाग् भूयसी । यथा पुत्रात्पिता भूयान् तद्वदित्यर्थः ॥

कथं वाङ्नाम्नो भूयसीत्यत्राह––

वाग्वा ऋग्वेदं बिज्ञापयति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं वेदविद्यां[1] ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां [नक्षत्रविद्यां] सर्पदेवयजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाऽऽकाशं चाऽपश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च । यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञः । वागेवैतत्सर्वꣳ विज्ञापयति ॥

वाग्वेति ॥ वाग् वाव वागिन्द्रियमेव ऋग्वेदं विज्ञापयति अयमृग्वेद इति शब्दोच्चारणेन ज्ञापयति । तथा यजुर्वेदमित्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् । दिवं चेत्याद्यतिरोहितार्थम् । हृदयज्ञं हृदयप्रियमभीष्टमित्यर्थः । तद्विपरीतमहृदयज्ञम् । यद्वै यद्येव वाङ्नाऽभविष्यत् वागभावेऽध्ययनं नास्ति । तदभावे चाक्षराद्यभिव्यक्तिर्नास्ति । तदभावे च तदर्थावबोधोऽपि नास्तीति धर्मो वा अधर्मो वा न व्यज्ञापयिष्यत् विज्ञापितो नाऽभविष्यत् । तथा सत्यादिकमपि विज्ञापितं नाऽभविष्यदिति योज्यम् । तस्माद्वागेवैतत्सर्वमृग्वेदादिकं तत्तद्वाचकशब्दोच्चारणेन विज्ञापयति । अतो नाम्नो वाग् भूयसीत्यर्थः । अस्त्येवम् ॥

किं तत इत्यत्राह––

वाचमुपास्व[2] ॥ [१] ॥

वाचमिति ॥ तस्माद्वाचं ब्रह्मेत्युपास्वेति नारदं सनत्कुमारोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

वागुपास्तेः फलं दर्शयति––

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारी भवति ॥

---

१. देवविद्याम्–मुपा.

२. ०मुपास्वेति–मुपा.

स य इति ॥ स यो यः कश्चिद्वाचं ब्रह्मेति ब्रह्मदृष्ट्योपास्ते यावद्वाचो गतं गोचरः तत्र तस्मिन् वाग्विषयेऽस्य वागुपासकस्य कामचारः कामचरणं यथा राज्ञः स्वविषये कामचारस्तद्वदित्यर्थः ॥

वागुपास्तिमुपसंहरति--

यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

यो वाचमिति ॥ य एवमुपास्ते तस्य यथोक्तं फलं भवत्येव नात्र संशयः कर्तव्य इत्यर्थः ॥

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति--

अस्ति भगवो वाचो भूय इति ॥

अस्तीति ॥ भगवो हे भगवन् वाचो भूयऽधिकतरं तत्किमस्ति यद्ब्रह्मदृष्ट्योपास्य इत्यर्थः ॥

ततः सनत्कुमारस्य प्रतिवचनं दर्शयति--

वाचो वाव भूयोस्तीति ॥

वाचो इति ॥ वाचोऽपि भूयोऽधिकतरमस्ति वाव विद्यत एवेति नारदं प्रत्युवाचेत्यर्थः ॥

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति--

तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ [२] ॥

॥ इति सप्तमाध्याये द्वितीयः खण्डः ॥

तदिति ॥ यद्वाचोऽप्यधिकतरं तन्मे मह्यं भगवान् ब्रवीत्विति नारदोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥

ब्रह्मदृष्ट्योपास्यतां मनसो दर्शयितुं वाचोऽप्यधिकतरत्वं मनस आह--

मनो वाव वाचो भूयः ॥

मन इति ॥ मनो वाव मनस्यवशिष्टमन्तःकरणमेव वाचो भूयोऽधिकतरं मनस्यनविशिष्टान्तःकरणस्य वक्तव्येष्वर्थेषु वाक्प्रेरकत्वान्मनसि वाचोऽन्तर्भावः । तदुक्तं **'वाङ् मनसि संपद्यते ।'** इति यस्मिन् यदन्तर्भवति तत्तस्य व्यापकम् । अतो व्यापकत्वाद्वाचो भूयो मनः ॥

कथं वाचो मनो भूय इत्यत्राह--

यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति ॥

यथेति ॥ यथा वै यथैव लोके आमलो(ल)के धात्रीफले वा द्वे कोले बदरफले द्वावक्षौ बिभीतफले वा मुष्टिरनुभवति व्याप्नोति मुष्टौ तयोरन्तर्भावात् । एवं तथैव वाचं च नाम च मनोऽनुभवति तस्मिन्नन्तर्भावयित्वा व्याप्नोति ॥

तत्कथमित्यत्राह--

स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथा कुरुते पुत्राꣳश्च पशूꣳश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म ॥

स यदेति ॥ स प्रसिद्धः पुरुषो यदा यस्मिन् काले मनसान्तःकरणेन मन्त्रान् अधीत्योच्चारयेयमित्ये इवं मनस्यति विवक्षाबुद्धि करोति । अथ विवक्षाबुद्धिकरणानन्तरमधीते मन्त्रानुच्चारयति । तदा यदा कर्मणि कुर्वीयेत्येवं मनसाप्नोतीत्यर्थः । तथा यदेमं च लोकममुं परलोकं चेच्छेयेत्येवं प्राप्तुमिच्छां करोति । अथ तत्प्राप्त्युपायानुष्ठानान्तरं इच्छतेमं चामुं लोकं प्राप्नोतीत्यर्थः । हि यस्मादात्मनः कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सति मनसि नान्यथा तस्मान्मन आत्मेत्युच्यते । हि यस्मात्सति मनसि अयं च परश्च लोको भवति नान्यथा तस्मान्मनो लोक इत्युच्यते । हि यस्मात् सर्वं मनोधीनं तस्मान्मनो ब्रह्म बृहद्वाचोऽप्यधिकमित्यर्थः । अस्त्वेवम् ॥

किं तत इत्यत्राह--

मन उपास्व ॥ [१] ॥

मन इति ॥ तस्मान्मनो ब्रह्मेति ब्रह्मदृष्टयोपास्वेति सनत्कुमारोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

उपास्तेः फलं दर्शयति–

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥

स यो न इति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

उपसंहरति--

यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

यो [म]न(नो) इति ॥ तदपि पूर्ववद् ॥

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शययि--

अस्ति भगवो मनसो भूय इति ॥

अस्तीति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

सनत्कुमारस्य वचनं दर्शयति--

मनसो वाव भूयोऽस्तीति ॥

मनसो वावेति ॥ तदपि समानम् ॥

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति--

तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

॥ इति छान्दोग्ये सप्तमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥

तन्मे भगवानिति ॥ तदपि तत्तुल्यम् ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने सप्तमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥

संकल्पस्य ब्रह्मदृष्ट्योपास्यत्वं दर्शयितुं मनसोऽप्याधिक्यं दर्शयति--

संकल्पो वाव मनसो भूयान् ॥

संकल्पो वावेति ॥ संकल्पो वाव संकल्प एव मनसो भूयानधिकतरः । संकल्पोऽन्तःकरणस्यकर्तव्या कर्तव्यविषयविभागसमर्थनात्मिकाचिद्वृत्तिः, सति विषयविभागे हि चिकीर्षाबुद्धिर्भवति नान्यथेति । अतो मनसोऽपि संकल्पो भूयानित्यर्थः ॥

कथमित्यत्राह--

यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु(मु) नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ [१] तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मा[1] संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायु श्चाऽऽकाशं च समकल्पन्ताऽऽपश्च तेजश्च तेषाꣳ संकक्लृप्त्यै वषꣳ संकल्पते वर्षस्य संकलृप्त्या अन्नꣳसंकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानाꣳ संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणाꣳ संकलृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मा(र्म)णाꣳ संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संकलृप्त्यै सर्वꣳसंकल्पते स एष संकल्पः ॥

---

[1] संकल्पात्मकानि—मुपा.

यदा वा इति ॥ यदा यस्मिन् काले संकल्पयते पुरुषः इदं कर्तुं युक्तमिदं कर्तुमयुक्तमिति कर्तव्याकर्तव्यविषयान् विभजते । अथ कर्तव्याकर्तव्यविषयविभागान्....रं मनस्यति विवक्षाबुद्धिं करोति । अथ तदनन्तरं वाच मन्त्राद्युच्चारण ईश्यति प्रेरयति । तां वाचमेव पुनर्नाम्नि नामोच्चारणे ईश्यति । विवक्षाबुद्धिं कृत्वा प्रेश्यति । नाम्नि नामसामान्ये मन्त्रा मन्त्रा इति समाख्याताः शब्दविशेषा एकं भवन्ति अन्तर्भवन्तीत्यर्थः । विशेषस्य सामान्येऽन्तर्भावात्तथा मन्त्रेषु कर्माणि एकं भवन्ति । कथं मन्त्रेषु कर्मणामन्तर्भाव इति चेद् उच्यते, मन्त्रप्रकाशितानामेव कर्मणां क्रियमाणत्वात् । ब्राह्मणेऽपि मन्त्रप्रकाशितानामेव लब्धसत्ताकं कर्मास्मै फलाय कर्तव्यमिति विधीयते । तथोत्पत्तिरपि मन्त्रेषु लब्धसत्ताकानामेव कर्मणां ब्राह्मणे दृश्यते । न तु मन्त्रैः प्रकाशितानां कर्मणां लोके [ः] त्रयीविहितं कर्मेति प्रसिद्धम् । त्रयीशब्दश्च ऋग्यजुः सामाख्येषु मन्त्रेषु प्रयुज्यते । तथा चाथर्वणिका अप्यामनन्ति **'मन्त्रेषु कवयो यान्यपश्यन्'** [मु. उप. १-२-१] इति । तस्मान्मन्त्रेषु कर्मणामेकीभावो युक्तः । किञ्च तान्येतानि मनआदीनि संकल्पैकायतानि संकल्प एव केवलमयनं गमनं प्रलयो येषां तानि संकल्पैकायनानि संचारे तथोत्पत्तौ तानि मनआदीनि संकल्पात्मानि संकल्पात्मकानि तथा स्थितौ संकल्पे प्रतिष्ठितानि । अपि च द्यावापृथिवा द्यौश्च पृथिवो च द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ समकल्पतां संकल्पं कृतवत्याविव निश्चले लक्ष्येते । तथा वायुश्चाकाशं च एते उभे अपि समकल्पेतां संकल्पं कृतवती इव लक्ष्येते । तथापश्च तेजश्च संकल्पं कृतवन्ती स्वेनरूपेणाऽऽपस्तेजांसि लक्ष्यन्त इत्यर्थः । अतस्तेषां द्यावापृथिव्यादीनां संक्लुप्त्यै संकल्पनिमित्तमन्नं संकल्पते वृष्टिनिमित्तत्वादन्नस्य । अन्नस्य संक्लुप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानामन्नोपष्टंभकत्वात्तथा च श्रूयते–**'अन्नमया हि प्राणा अन्नोपष्टंभकाः'** इति । प्राणानां संक्लुप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते प्राणवतामेव मन्त्रोच्चारणसामर्थ्यात् । मन्त्राणां संक्लुप्त्यै कर्माणि अग्निहोत्रादीनि संकल्पन्ते मन्त्रप्रकाशितानि सन्त्यनुष्ठीयमानानि फलसिद्ध्यर्थं समर्थानि भवन्तीत्यर्थः । कर्मणां संक्लुप्त्यै लोकयत इति व्युत्पत्त्या फलं संकल्पते कर्तृसमवायितया स्वरूपं लभत इत्यर्थः । लोकस्य फलस्य संक्लुप्त्यै सर्वजगत्संकल्पते स्वरूपसिद्ध्यै भवतीत्यर्थः । तस्मात्स एष सर्वस्य जगतो मूलतयावस्थितः संकल्पोऽपि भूयानित्यर्थः ॥

एवं संकल्पस्याधिक्यत्वं दर्शयित्वा तस्य ब्रह्मदृष्ट्योपास्तिं दर्शयति—

संकल्पमुपास्व[2] ॥ [२]

---

१. द्र. अन्नमयो ह्ययं प्राणः –मैत्रायण्युपनिषत् ६-११.

२. ०मुपास्स्वेति–मुपा.

संकल्पमिति ॥ यथोक्तप्रकारेणातिविशिष्टं संकल्पं ब्रह्मदृष्ट्योपास्वेति सनत्कुमारोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

संकल्पोपास्तेः फलं दर्शयति—

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान्वै स लोकान् ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान्प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति । यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥

स य इति ॥ स यो यः कश्चित्संकल्पं ब्रह्मेति ब्रह्मबुद्ध्योपास्ते स विद्वान् क्लृप्तान् वै अस्य कर्मण इमे लोकाः फलमिति प्रजापतिना समर्थितानेव लोकान् ध्रुवान् नित्यान्, अत्यन्ताध्रुवापेक्षयाध्रुवत्वं विवक्षितं न तु वास्तवं, ध्रुवः स्वयमपि ध्रुवः सन् प्रतिष्ठितान् भोगोपकरणसंपन्नान् प्रतिष्ठितः स्वयमपि भोगोपसम्पन्नः सन् अव्यथमानान् अमित्रादिकृतभयरहितान् अव्यथमानः स्वयमप्यमित्रादिकृतभयरहितः सन् अभिसिध्यति अभिप्राप्नोतीत्यर्थः । किञ्च यावत्संकल्पस्य गतं गोचरं तत्रास्य संकल्पोपासकस्य कामचारो भवति यथा राज्ञः सगोचरे तद्वदित्यर्थः ॥

यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

यः संकल्पमिति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति—

अस्ति भगवः संकल्पाद् भूय इति ॥

अस्तीति ॥ तदपि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

सनत्कुमारस्य प्रतिवचनं दर्शयति—

संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति ॥

संकल्पादिति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति—

तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ [३] ॥

॥ इति छान्दोग्ये सप्तमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥

तदपि पूर्ववत् ।

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने सप्तमस्याध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥

उपास्यत्वं दर्शयितुं चित्तस्य संकल्पादाधिक्यं दर्शयति--

चित्तं वाव संकल्पाद्‌भूयः ॥

चित्तमिति ॥ चित्तं वाव चित्तमेव संकल्पाद्‌भूयोऽधिकतरम्. । चित्तं चेतयित्वमतीतानामविषयप्रयोजननिरूपणसामर्थ्यम् ॥

संकल्पादाधिक्यं चित्तस्येत्यत्राह--

यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ [१] तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वाऽयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तꣳ ह्येवैषामेकायनं चित्तात्मा चित्तं प्रतिष्ठा ॥

यदा वा इति ॥ यदेव पुरुषश्चेतयते एवमिदं वस्तु प्राप्तमिति विजानाति । अथानन्तरं तत्स्वीकाराय तत्परिहाराय वा संकल्पयतेऽथानन्तरं मनस्यति विवक्षाबुद्धिं करोति । अथवा मन्त्रादिषु प्रेरयति' तासु ता एव वाचं नाम्नि नाम्नोच्चारणे प्रेरयति । नाम्नीत्यादि पूर्ववत् ।

किञ्च यस्माच्चित्तं संकल्पादिकारणं तस्माद्यद्यपि बहुवित् सकलशास्त्रविदप्यचित्तो भवति प्राप्तादिचेतयितृत्वासमर्थो भवति । एनं प्राप्तादिचेतयितृत्वसामर्थ्यरहितं निपुणा लौकिका एवमाहुः–‘**अयं विद्यमानोऽपि नास्ति सोऽसत्सम एव**’ इति ।

किञ्च यत्किञ्चिच्छास्त्रादिवेदश्रुतवान् तदप्यस्य व्यर्थमेवेति कथयन्ति निपुणाः । यस्माद्यद्ययं विद्वान्स्यादित्थमेवमचित्तो न स्यात् तस्मादस्य श्रुतमपि अश्रुतमेवेति निपुणा वदन्तीत्यर्थः । उतापि चाथ पुनर्यद्यदल्पेऽपि विचित्तवान्प्राप्तादिचेतयितृत्वसामर्थ्यवान् भवति । तर्हि तस्मै तदुक्तार्थग्रहणाय शुश्रूषन्ते बहुविदोऽपि श्रोतुमिच्छन्ति । हि यस्माच्चित्तं चेतयितृसामर्थ्यमेवैषां संकल्पादीनामेकायनमित्यादि पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

एवमाधिक्यं दर्शयित्वा चित्तस्योपास्तिं दर्शयति—

चित्तमुपास्व[1] ॥ [२] ॥

---

[1] मुपास्स्वेति–मुपा.

चित्तमिति ।। संकल्पादप्यधिकत्वाच्चित्तं ब्रह्मदृष्ट्योपास्स्वेति सनत्कुमारोऽब्रवीदित्यर्थः ।।

चित्तोपास्तेः फलमाह—

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति । यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥

स य इति ॥ स यो यः कश्चिच्चित्तं ब्रह्मदृष्ट्योपास्ते स चित्तोपासकश्चित्तान् बुद्धिमद्गुणैरूपचितान् लोकान् । ध्रुवानित्यादि पूर्ववत् ॥

उपसंहरति--

यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

यश्चित्तमिति ॥ पूर्ववत् ॥

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति--

अस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति ॥

अस्तीति ॥ तदपि समानम् ॥

सनत्कुमारस्य वचनं दर्शयति--

चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति ॥

चित्तादिति ॥ तदपि तथैव ॥

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति--

तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥

॥ इति सप्तमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥

तन्मे भगवानिति ॥ तदपि समानम् ॥

॥ इति दी० (दीपिकायां) सप्तमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥

उपास्यतां दर्शयितुं ध्यानस्य चित्तादाधिक्यं दर्शयति--

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयः ॥

ध्यानमिति ॥ ध्यानं वाव शास्त्रोक्तेषु देवताद्यालंबनेषु विजातीयप्रत्ययैरनन्तरितो निरन्तरप्रत्ययसंतानो ध्यानं तदेव चित्तात्प्राणादिचेतयितृत्वसामर्थ्यात् भूयोऽधिकतरम् ॥

कथमित्यत्राह--

ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं [ध्यायतीवद्यौः] ध्यायतीवाऽऽपो ध्यायतीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनु-

ष्याणां महतां[1] प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्ति ॥

ध्यायतीति ॥ थथा योगी ध्यायन् निश्चलो भवति ध्यानफललाभे तथा पृथिवी ध्यायतीव निश्चला लक्ष्यते । तथान्तरिक्षमपि ध्यायतीव निश्चलं लक्ष्यते । ध्यायतीव द्यौरित्याद्येवं व्याख्येयम् । तथा देवमनुष्याः देवाश्च मनुष्याश्च देवमनुष्याः यद्वा शमादिगुणैः संपन्ना मनुष्या एव देवसाम्याद्देवमनुष्या इत्युच्यन्ते ते ध्यायन्तीव लक्ष्यन्ते । यस्मादेवं प्रशस्तं ध्यानं तस्माद्य इहलोके मनुष्याणामेव संबन्धिनीं महतां धनैर्विद्यया गुणैर्वा महत्त्वं प्राप्नुवन्ति । ते ध्यानापादांशा इवैव ध्यानस्यापाद आपादानं ध्यानफललाभः, तस्याशोऽवयवः कला येषां ते ध्यानापादांशा ध्यानफललाभकलावन्त इवैव भवन्ति, निश्चला इव लक्ष्यन्ते बहुक्षुद्रा इव । अथ पुनर्येऽप्यल्पाः क्षुद्राः धनादिनिमित्तमहत्त्वरहितास्ते कलहीनः कलशूला पिशुनाः परदोषाणां सूचका उपवादिनः परदोषसामीप्ययुक्तमेवःवदितुं शीलमेषामित्युपवादिनो भवन्ति । अथ पुनर्ये धनादिनिमित्तं महत्वं(त्त्वं) प्राप्तास्ते प्रभवोऽन्यान्प्रति भवन्ति समर्था भवन्तीति । प्रभवो विद्याचार्यराजेश्वरादयो ध्यानापादांशा इवैव भवन्ति ॥

एवं महत्त्वमुपपाद्य ध्यानस्योपास्तिं दर्शयति—

ध्यानमुपास्व[2] ॥

ध्यानमिति ॥ अतश्चित्तादधिकं ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्वेति सनत्कुमारो नारदमब्रवीदित्यर्थः ॥

ध्यानोपास्तेः फलमाह—

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥

स य इति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

उपसंहरति—

यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

तदपि पूर्ववत् ॥

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति—

अस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ॥

---

१. महत्ताम्–मुपा.

२. ०मुपास्स्वेति–मुपा.

अस्तीति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

सनत्कुमारस्य प्रतिवचनं दर्शयति—

ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति ॥

ध्यानादिति ॥ तदपि तथैव ॥

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति—

तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ [३] ॥

॥ इति सप्तमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥

तदिति ॥ तदपि समानम् ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां सप्तमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥

उपास्यत्वं दर्शयितुं विज्ञानस्य ध्यानादाधिक्यं दर्शयति—

विज्ञानं वाव ध्यानाद् भूयः ॥

विज्ञानमिति ॥ विज्ञानं वाव शास्त्रार्थविषयनिश्चयज्ञानमेव ध्यानाद्भूयोऽधिकतरं शास्त्रर्थविषयनिश्चयज्ञानस्य ध्यानकारणत्वात् ध्यानाद्भूयस्त्वम् ॥

कथमित्यत्राह—

विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं वेदविद्यां[1] ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाऽऽकाशं चाऽपश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकम् । धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति ॥

विज्ञानमि(नेने)ति ॥ अयमृग्वेदोऽस्मिन्नर्थे प्रमाणमिति विजानाति निश्चिनोति । यजुर्वेदमित्याद्यपि पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

एवं विज्ञानस्य सर्वविषयनिश्चयकारकत्वेन ध्यानादाधिक्यम् दर्शयित्वेदानीं तस्य ब्रह्मोपास्तिं दर्शयति—

विज्ञानमुपास्व[1] ॥ [१] ॥

---

१. देवविद्याम्–मुपा.

१. ०मुपास्स्वेति–मुपा.

विज्ञानमिति ॥ तस्माद्विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्स्वेति नारदं सनत्कुमारोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

विज्ञानोपास्तेः फलमाह—

स य विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ् ज्ञानवतोऽभिसिध्यति । यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥

स य इति ॥ स यो यः कश्चिद्विज्ञानं ब्रह्मेति ब्रह्मदृष्ट्योपास्ते स विज्ञानोपासको विज्ञानवतः शास्त्रार्थविषयज्ञानवतो ज्ञानवतो एव भवति लौकिकव्यवहारविषयबुद्धिमतश्च लोकानभिसिध्यति प्राप्नोतीत्यर्थः । यावद्विज्ञानमिति पूर्ववत् ॥

उपसंहरति—

यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

यो विज्ञानमिति । तदपि पूर्ववत् ॥

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति—

अस्ति भगवो विज्ञानाद् भूय इति ॥

अस्तीति ॥ तदपि तथैव ॥

सनत्कुमारस्य प्रतिवचनं दर्शयति—

विज्ञानाद्वा भूयोऽस्तीति ॥

विज्ञानादिति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

पुनर्नारदस्य प्रतिवचनं दर्शयति—

तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ [३] ॥

॥ इति सप्तमः खण्डः ॥

तन्मे भगवानिति ॥ तदपि समानम् ॥

॥ इति **सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने सप्तमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः** ॥

उपास्तिं दर्शयितुं बलस्य विज्ञानादाधिक्यं दर्शयति—

बलं वाव विज्ञानाद् भूयः ॥

बलमिति ॥ बलं वाव अन्नभोजनजनितं विज्ञेयप्रतिभानसामर्थ्यमेव विज्ञानाद्भूयोऽधिकतरम् ।

कथमित्यत्राह––

अपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते । स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवति । उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति । बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकम् । बलेन लोकस्तिष्ठिति ।।

अपि हेति ।। हि यस्माद्विज्ञानवतां बलहीनानां शतमपि एको बलवानन्नोपयोगनिमित्तविज्ञेयप्रतिभावसामर्थ्यवान् यथा मनुष्याणां शतमपि एको बलवान् हस्ती तद्वदाकम्पयते । किञ्च स पुरुषो यदा बली अन्नोपयोगजनितविज्ञेयप्रतिभानसामर्थ्यवान् भवति । परिचरं परिचरणं कुर्वंश्चोपसत्ता तेषां सामीप्यस्य मन्ता भवति । उपसीदन् तत्सामीप्यं गच्छंश्च द्रष्ट्र्या एकाग्रतया गुरोराचार्यस्य तदुपतिष्ठार्थस्य च भवति तदनन्तरं मन्ता । इदं गुर्वादिभिसक्तमेवमुपपद्य इत्यनुचिन्तनस्य कर्ता भवति । निश्चिन्वानश्चिन्वानश्च कर्ता गुर्वाद्युक्तस्यानुष्ठाता भवति । अनुष्ठानं कुर्वंश्च विज्ञाता अनुष्ठानफलस्यानुभावयिता भवति । अपि च बलेन सामर्थ्येन पृथिवी तिष्ठति । अन्यदतिरोहणार्थम् ।।

एवं बलस्य भूयस्त्वं प्रतिपाद्येदानीं ब्रह्मदृष्ट्योपास्तिं दर्शयति––

बलमुपास्व[1] ।। [१] ।।

बलमिति ।। सर्वजगन्मूलवाद्बलस्य तद्बलं ब्रह्मेत्युपास्स्वेति सनत्कुमारोऽब्रवीदित्यर्थः ।।

बलोपास्तेः फलमाह––

स यो बलमुपास्ते यावद् बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ।।

स य इति ।। पूर्ववद्व्याख्येयम् ।।

उपसंहरति––

यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते ।।

यो बलमिति ।। तदपि तथैव ।।

नारदस्य वचनं दर्शयति––

अस्ति भगवो बलाद् भूय इति ।।

---

१. ०मुपास्स्वेति–मुपा.

अस्तीति ॥ इदमपि तद्वत् ॥

सनत्कुमारस्य वचनं दर्शयति--

बलाद्वाव भूयोऽस्तीति ॥

बलादिति ॥ तदपि समानम् ॥

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति ॥

तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

॥ इति अष्टमः खण्डः ॥

तदिति ॥ तदपि तद्ववदेव ॥

इति दी० [दीपिकायां] सप्तमा० [माध्यायस्य] अष्टमः खण्डः ॥

उपास्तिं दर्शयितुमन्नस्य बलाद्भूयस्त्वं दर्शयति--

अन्नं वाव बलाद् भूयः ॥

अन्नमिति ॥ अन्नं वावन्नमेव बलाद्विशेषप्रतिभानसामर्थ्याद्भूयोऽधिकतरम्, अन्नस्य बलहेतुत्वात् बलाधिक्यम् ॥

कथमित्यत्राह--

तस्माद्यद्यपि दश रात्रीर्नाश्नीयाद् यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवत्यथान्नस्याऽऽयैष्टा[1]भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति ॥

तस्मादिति ॥ यस्माद्बलस्य कारणमन्नं तस्माद्यद्यपि कश्चित्पुमान् दश रात्रीर्नाश्नीयात् सोऽन्नोपयोगनिमित्तस्य बलस्य(स्या)भावत् म्रियेत । यद्यद्यु ह यद्यपि च जीवेत् न म्रीयेत् मासोपवासिनामपि जीवनदर्शनात् । अथवा तथापि सजीवनन्नप्यदृष्टा गुर्वाद्युक्त स्यात् । एवाश्रोता भवति । अमन्तेत्यादि पूर्वविपरीतं सर्वं भयति । अथ पुनर्यदा बहून्यहानश्नन् अन्नस्यायी आयम् आमन्नम् अन्नस्य प्राप्तिरित्यर्थः । तद्वाऽऽनायी अथवात्र वर्णव्यत्ययेनायीत्युक्तं, अन्नस्यायः प्राप्तिर्भवतीत्यर्थः । अन्नस्याय इत्येव वा पाठान्तरं तदा गुर्वाद्युक्तस्य द्रष्टा भवति । श्रोत्रेत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

एवमाधिक्यं दर्शयित्वान्नस्य ब्रह्मदृष्टिं दर्शयति--

अन्नमुपास्व[1] ॥

---

१. स्यऽऽयै-मुपा.

२. ०मुपास्स्वेति-मुपा.

अन्नमिति ॥ दर्शनादिसर्वक्रियाहेतुत्वादन्नं ब्रह्मेत्युपास्वेति सनत्कुमारोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

अन्नोपास्तेः फलमाह--

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान् पानवतोऽभिसिध्यति । यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥

स योऽन्नमिति ॥ स यो यः कश्चिदन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते स उपासकोऽन्नवतः प्रभूताऽन्नोपेतान् पानवतः प्रभूतोदकांश्च लोकानभिसिद्ध्यति प्राप्नोति, अन्नपानयोर्नित्यसंबन्धात् । यावदित्यादि पूर्ववत् ॥

उपसंहरति--

योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

योऽन्नमिति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

नारदस्य वचनं दर्शयति--

अस्ति भगवोऽन्नाद् भूय इति ॥

अस्तीति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

सनत्कुमारस्य वचनं दर्शयति--

अन्नाद् वाव भूयोऽस्तीति ॥

अन्नादिति ॥ तदपि समानम् ॥

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति--

तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

॥ इति छान्दोग्ये सप्तमाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥

तन्मे भगवानिति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

इति छान्दोग्यदीपिकायां सप्तमाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥

उपास्तिं दर्शयितुमपामन्नाद्भूयस्त्वं दर्शयति--

आपो वावान्नाद् भूयस्यः ॥

आप इति ॥ आपो वाव आप एवान्नाद्भूयस्योऽधिकतराः, अन्नकारणत्वात्तासामन्नाद्भूयस्त्वं द्रष्टव्यम् ॥

कथमेतदित्यत्राह--

तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यती-

त्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयाꣳसि च तुणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकम् । आप एवेमा मूर्ताः ॥

तस्मादिति ॥ यस्मादन्नकारणमापस्तस्माद्यदा यस्मिन् काले सुवृष्टिः शोभना सस्यहिता वृष्टिर्न भवति तदा प्राणाः प्राणिनो लक्षणया प्राणा इत्युच्यन्ते, ते तस्मिन् संवत्सरे अस्माकमन्नं कनीयोऽल्पतरं भविष्यतीति व्याधीयन्ते विशेषेण दुःखिनो भवन्ति। अथ पुनर्यदा सुवृष्टिः सस्यहिता वृष्टिर्भवति तदा प्राणाः प्राणिनोऽस्माकं बहु प्रभूतं भविष्यतीत्यानन्दिनः सुखिनो भवन्ति । तथा अन्यत्रामूर्तस्यान्नस्य आप एवेमा मूर्ता मूर्ति भेदाकारेण परिणता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षमित्याद्याकीटपतङ्गपिपीलिकमित्यन्तमतिरोहणार्थम् । किञ्च किं बहुना सर्वा इमा मूर्ता मूर्तिभेदेन परिणता आप एव ॥

एवमाधिक्यं दर्शयित्वापां ब्रह्मदृष्ट्योपास्तिं दर्शयति--

अप उपास्व[1] **॥ [१] ॥**

अप इति । तस्मादपो ब्रह्मेत्युपास्वेति सनत्कुमारोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

तदुपास्तेः फलमाह--

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान् कामाꣳस्तृप्तिमान् भवति । यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥

स योऽप इति ॥ स यो यः कश्चिदपो ब्रह्मेत्युपास्ते स सर्वान् कामान् मूर्तिमत्यो विषयानाप्नोति तृप्तिमांश्च भवति । यावदित्यादि पूर्ववत् ॥

उपसंहरति--

योऽपो ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

योऽप इति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति--

अस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इति ॥

अस्तीति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

सनत्कुमारस्य प्रतिवचनं दर्शयति--

अद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति ॥

अद्भ्य इति ॥ तदपि समानम् ॥

---

१. उपास्स्वेति–मुपा.

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति--

तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

॥ इति सप्तमाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

तन्मे भगवानिति ॥ तदपि तथैव ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद् व्याख्याने
सप्तमाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

उपास्तिं दर्शयितुं तेजसोऽद्भ्योऽप्याधिक्यं दर्शयति--

तेजो वावाद्भ्यो भूयः ॥

तेजो वाव इति ॥ तेजो वाव तेज एवाद्भ्यो भूयोऽधिकतरं तेजसोऽप्कारणत्वात् । तथा च श्रुतिः **अग्नेरापः** [तै. उप. २–१] इति ।

तत्कथमित्याह--

तद्वा एतद्वायुमागृह्याऽऽकाशमभिपतति तदाऽऽहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति । तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते । तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति । तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते ॥

तद्वा एतदिति ॥ यस्मादब्भ्योऽपि तेजो भूयस्तद्वै तस्मादेव तत्तेजो वायुमागृह्यावष्टभ्य स्वात्मना निश्चलीकृत्येत्यर्थः । आकाशमधिव्याप्य तपति प्रकाशते आकाशमभिभवतीति पाठान्तर[म्] । तदानीमाकाशमभिव्याप्याप्नुवद्भवतीत्यर्थः । यदाऽऽकाश आप्नोति तदा लौकिका एवमाहुः-निशोचति जगत्संतपति सामान्येन तिव(नित)पति विशेषेण देहान् । अतो वर्षिष्यति वै वर्षिष्यते वेति कारणमभ्युद्यतं दृष्ट्वा कार्यं भविष्यतीति विज्ञानस्य सार्वजनीनत्वात् । अतस्तेज एवैतद्यथोक्तं पूर्वमात्मानं मुहूर्तं दर्शदित्वाऽथानन्तरमपः सृजते उत्पादयति । अतोऽद्भ्यो भूयस्तेज इत्यर्थः । किञ्च तदेतत्तेज एव स्तनयतित्नुरूपेण वर्षहेतुर्भवति यदोर्ध्वाभिश्चोर्ध्वगाभिविद्युद्भिस्तिरश्चीभिस्तिर्यग्गतीभिश्च सह्रादा मेघनिर्घोषाश्चरन्ति वर्तन्ते तदा तस्माद्विद्युत्सहितमेघनिर्घोषदर्शनाल्लौकिका एवमाहुर्विद्योतने विद्युत्स्तनयति शब्दं करोति मेघः वर्षिष्यति चेतीति । अतस्तेज एवैतद्यथोक्तं पूर्वमात्मानं मुहूर्तं दर्शयित्वानन्तरमपः सृजते उत्पादयव(ति) अतोऽद्भ्योस्तेजो भूय इत्यर्थः ॥

एवमाधिक्यं दर्शयित्वा तेजसमुपास्तिं दर्शयति--

तेज उपास्वेति[1] ॥ [१] ॥

---

१. उपास्स्वेति-मुपा.

तेज इति ॥ अत तेजो ब्रह्मेत्युपास्वेति सनत्कुमारोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

तेजसोपास्तेः फलं दर्शयति--

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान् भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिध्यति । यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥

स यस्तेज इति ॥ स यो यः कश्चित्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते स तेजस्वी वै तेजस्वेव भवति । किञ्च तेजस्ततो वीर्यवतो भास्वतः प्रकाशवतो त एवापहत तमस्कान् निराकृतबाह्यध्यात्मिकान्धकारान् लोकानभिसिध्यति प्राप्नोति । यावदित्यादि समानम् ॥

यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

यस्तेज इति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

ततो नाददस्य वचनं दर्शयति--

अस्ति भगवस्तेजसो भूय इति ॥

अस्तीति ॥ तदपि तद्वत् ॥

सनत्कुमारस्य प्रतिवचनं दर्शयति--

तेजसो वाव भूयोऽस्तीति ॥

तेजस इति ॥तदपि समानम् ॥

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति--

तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ [२] ॥

॥ इति सप्तमाध्यायस्य एकादशः खण्डः ॥

तन्मे भगवानिति ॥ तदपि समानम् ॥

इति छान्दोग्यदीपिकायां सप्तमाध्यायस्य
एकादशः खण्डः ॥

उपास्तिं दर्शयितुमाकाशस्य तेजसोऽप्याधिक्यं दर्शयति--

आकाशो वाव तेजसो भूयान् ॥

आकाश इति ॥आकाशो वाव आकाश एव तेजसो भूयानधिकतरः ॥

ननु तेजः कारणभूतस्य वायोः किमित्याधिक्यमत्र नोच्यत इति चेत् नैष दोषः । वायुसहितस्य तेजसः कारणत्वादाकाशस्य वायुमागृह्येति तेजसा सह पूर्वं वायोरुक्तत्वाच्च न पृथगुपादानं कार्यभूतेभ्यो घटादिभ्यः कारणभूताया मृद आधिक्यस्य दृष्टत्वाद्वायुसहितस्य तेजसः कारणभूत आकाशस्ततो भूयान् भवति ॥

कथमेतदित्यत्राह—

आकाशो(शे) वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाऽऽह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायते ॥

आकाशो(शे) वा इति ॥ आकाश एव सूर्याचन्द्रमसावुभावपि वर्तेते । तथा विद्युत्तत्रैव वर्तते । नक्षत्र्याण्यपि तत्रैव वर्तन्ते । अग्निरपि तत्रैव वर्तते । अतः सूयादीनामाकाशवर्तित्वादाकाशादल्पत्वमाकाशस्य च महत्त्वम् । किञ्च आकाशनैवाह्वयति, अन्यमन्यः अन्येनाहूतश्चान्यः आकाशेनैव शृणोति, तथान्योक्तं शब्दमन्य आकानैव प्रतिशणोति कुड्यादिव्यवधाने शब्दश्रवणाभावात् । तथाकाश एव रमते जनाः सवोऽप्यन्योन्यं क्रीडते । तथा आकाश एव सर्वोऽपि[न] रमते पुत्रादिवियोगेऽन्यथाकाश एव जायते सर्वो जनः मूर्ताविष्टब्धप्रदेशे रमणारमणजनाआ(ना)मसंभावात् । तथाकाशमभिलक्ष्याङ्कुरादिर्जायते न प्रतिलोमम् । अतः सर्वोत्पत्तिमन्निमित्ते कारणत्वादाकाशो भूयान् ॥

एवमाकाशस्य महत्त्वं प्रतिपाद्येदानीं ब्रह्मदृष्ट्योपास्तिं दर्शयति—

आकाशमुपास्वेति[1] ॥ [१] ॥

आकाशमिति ॥ आकाशं ब्रह्मत्युपास्वेति सनत्कुमारो ब्रवीत् ॥

आकाशोपास्तेः फलमाह—

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते आकाशवतो वै स लोकान् प्रकाशवतोऽसंबाध[न्]गुरु[2] गायवतोऽभिसिध्यति । यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥

स य इति ॥ स यो यः कश्चिदाकाशं ब्रह्मेति ब्रह्मदृष्ट्योपास्ते स विद्वानाकाशवतो वै विस्तारयुक्तानेव प्रकाशवतश्चासंवाधान् अन्योन्यपीडारहितान् गुरुगायवतो विस्तीर्णगतीश्च लोकानभिसिध्यति प्राप्नोति । यावदित्यादिपूर्ववत् ॥

उपसंहरति—

य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

---

१. ॰मुपास्त्वेति–मुना.

२. ॰नुरु॰–मुपा.

य इति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति--

अस्ति भगव आकाशाद् भूय इति ॥

अस्तीति ॥ तदपि समानम् ॥

सनत्कुमारस्य प्रतिवचनं दर्शयति--

आकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति ॥

आकाशादिति ॥ तदपि समानम् ॥

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति--

तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

॥ इति छान्दोग्ये सप्तमाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥

तदिति ॥ तदपि तथैव ॥

॥ इति दीपिकायां द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

उपास्तिं दर्शयितुं स्मरणस्याकाशादाधिक्यं दर्शयति--

स्मरो वावाऽऽकाशाद् भूयः ॥ [२] ॥

स्मरो वावेति ॥ स्मरो वै स्मर एवाकाशाद्भूयो भूयानधिकतरः, लिङ्गव्यत्ययः । स्मरणं स्मरः संस्कारमात्रजन्योऽन्तःकरणधर्मः । स्मर्तुः स्मरणे सत्येवाकाशानां सर्वेषां भोग्यत्वेनार्थवत्त्वं नान्यथेत्यत स्मरणस्याकाशाद्भूयस्त्वम् । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्मरणस्य श्रवणाधिक्यं प्रतिकारणत्वप्रदर्शनेनाकाशादप्याधिक्यं प्रतिपादयति । तस्मादाकशा[त्] स्मरणमधिकं तस्मादेव यद्यपि सत्यप्याकाशे समुदिता बहव एकस्मिन् प्रदेशं आसीरन्नुपवेशयुक्ते तत्रासीना अन्योन्यभाषितं स्मरन्तां न स्युश्चेन्न कंचन शब्दं नैव शृणुयुस्तथा मन्तव्यम् । यदि न स्मरेयुस्तर्हि न मन्वीरन् । तथा यदि विज्ञातव्यं न स्मरेयुस्तदा न विजानीरन् । अथ पुनर्यदैव ते स्मरेयु श्रोतव्यम् । अथानन्तरं शृणुयुः । तथा यदा मन्तव्यं स्मरेयुरथमन्वीरन् तथा यदा विज्ञातव्यं स्मरेयुरथ विजानीरन् । किञ्च स्मरेण पशून्विजाति । अत आकाशात् स्मरो भूयानित्यर्थः ॥

एवं महत्त्वं प्रतिपाद्येदानीं स्मरस्य ब्रह्मदृष्ट्योपास्तिं दर्शयति--

स्मरमुपास्वेति[1] ॥ [१] ॥

स य इति ॥ तस्मात्स्मरं स्मरणं ब्रह्मेत्युपास्वेति सनत्कुमारोऽब्रवीत् ॥

---

१. ०मुपास्स्वेति-मुपा.

स्मरोपास्तेः फलमाह--

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत् स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥

स य इति ॥ पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥

उपसंहरति--

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

अस्तीति ॥ तदपि तद्वत् ॥

नारदस्य वचनं दर्शयति ॥

अस्ति भगवः स्मराद् भूय इति ॥

अस्तीति ॥ तदपि समानम् ॥

सनत्कुमारस्य प्रतिवचनं दर्शयति--

तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ [२] ॥

स्मरादिति ॥ तदपि तथैव ॥

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति--

आशा वाव स्मराद्भूयसी ॥

॥ इति सप्तमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥

तन्मे भगवानिति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

॥ इति छान्दोग्यदीपिकायां सप्तमाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥

उपास्तिं दर्शयितुमाशाया स्मरादाधिक्यं दर्शयति--

आशा वाव स्मराद्भूयसी ॥

आशावावेति ॥ आशा वाव आशाऽप्राप्तवस्त्वाकांक्षा सैव स्मराद्भूयस्यधिकतरा ॥

कथमित्यत्राह--

आशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्राꣳश्च पशुꣳश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छते ॥

आशेद्धो वा इति ॥ यस्मादाशायाऽन्तःकरणस्थया वर्द्धितस्मरानुभूतं स्मरन् मन्त्रानृगादीनधीते । अधीत्य च तदर्थं बुद्ध्वा कर्माणि अग्निहोत्रादीनि कुरुते ।

किञ्च कर्मफलाशयेन पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छते वांच्छति । ततस्तत्साधनान्यनुतिष्ठति । अपि चाशययेद्ध एव स्मरन् लोकसंग्रहहेतुभिरियं लोकमिच्छते । किं चाशयेद्ध स्मरन् साधनानुष्ठानेनामुं लोकं परमपीच्छते । अत आशामूलत्वात्कर्मफलादिप्राप्तेः स्मरादाशा भूयसी ॥

एवमाशाया भूयस्त्वमुपपाद्येदानीं ब्रह्मदृष्ट्योपास्तिं दर्शयति—

आशामुपास्स्वेति[1] ॥ [१] ॥

आशामिति ॥ तस्मादाशां ब्रह्मेत्युपास्स्वेति सनत्कुरोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

आशोपास्तेः फलमाह--

य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वे कामाः समृध्यन्त्यमोघा हास्याऽऽशिषो भवन्ति । यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥

य आशामिति ॥ स यः कश्चिदाशां ब्रह्मेति ब्रह्मदृष्ट्योपास्तेऽस्योपासकस्याशया ब्रह्मदृष्ट्योपासितया सर्वे कामाः काम्यमानाः पदार्थाः समृध्यन्ति समृद्धिं गच्छन्ति किञ्चास्याऽऽशिषः प्रार्थना अमोघा फलवत्यो भवन्त्येव यत्प्रार्थितं तद्भवत्येवेत्यर्थः

यावदित्यादि पूर्ववत् ॥

उपसंहरति--

य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

[य] **आशामिति** ॥ तदपि तद्वत् ॥

नारदस्य वचनं दर्शयति—

अस्ति भगव आशया भूय इति ॥

अस्तीति ॥ तदपि समानम् ॥

सनत्कुमारस्य प्रतिवचनं दर्शयति—

आशया वाव भूयोऽस्तीति ॥

आशया वावेति ॥ तदपि तथैव ॥

पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति—

तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ [२] ॥

---

[1] १. ०मुपास्स्वेति–मुपा.

॥ इति चतुर्दशः खण्डः ॥

तन्म इति ॥ तदपि पूर्ववत् ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने सप्तमाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ॥

एवं कार्यभावेन निमित्तनैमित्तिकभावेन चोत्तरोत्तराधिक्येन व्यवस्थितं मनोपक्रममाऽऽकाशान्तं दर्शयित्वेदानीं प्राणस्य सूत्रात्मनः आशया अप्याधिक्यं दर्शयति—

प्राणो वाव आशाद् (या ?) भूयान् ॥

प्राणो वावेति ॥ प्राणो वा येन सर्वव्यापिनान्तर्बहिश्च वर्तमानेन सर्वं जगत्सङ्मणिगणा इव सूत्रेग ग्रथितं धृतं स सूत्रात्मा प्राण एवाशया भूयानधिकतरः ॥

प्राणस्य भूयस्त्वं प्रतिपादयति—

यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वꣳ समर्पितम् । प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाया ददाति ॥

यथेति ॥ यथा वै लोके रथचक्रस्यारा नाभौ रथनाभौ समर्पिताः सम्यक्प्रवेशिताः, एवं तथैवास्मिन् प्राणे सर्वं यथोक्तं समर्पितं संप्रोतं संप्रवेशितमित्यर्थः । अतः सोऽयं प्राणोऽपरतन्त्रः सन् प्राणेन स्वशक्त्यैव याति नान्यकृताया गमनादिक्रियया स्वस्य सामर्थ्यमिति अर्थः । किञ्च प्राणः प्राणं ददाति यद्ददति तत्सर्वं स्वात्मभूतमेवेत्यर्थः । किञ्चाद्यस्मै ददाति तदपि प्राणायैव नान्यस्मा इत्यर्थः । सर्वं क्रियाकारकादिभेदजातं प्राण एवेत्यभिप्रायः ॥

एवं सर्वं क्रियाकारकाद्यात्मकत्वं प्रतिपाद्येदानीं पित्राद्याख्यापितस्यैवेत्याह—

प्राण इति ॥ प्राण एव पिता पितृशब्दवाच्यः । एवमन्यदपि व्यांख्येयम् ॥

प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥ [१] ॥

कथं पित्रादिशब्दानां प्रसिद्धजनकत्वाद्यर्थपरित्यागेन प्राणविषयत्वमित्यत्राह—

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद्भृशमिव प्रत्याह । धिक् त्वाऽस्त्वित्येनमाहुः । पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥ [२] अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्त-

प्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिप(षं)दहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहाऽसीति न भ्रातृहाऽसीति न स्वसृहाऽसीति नाऽऽचार्यहाऽसीति न ब्राह्मणहाऽसीति ॥ [३] ॥

स यदीति ॥ स यः कश्चिदहंकारेण यदि यदा पितरं वा मात्रादिकं वा प्रति भृशमिवाधिकमिवाननुरूपमिवेत्यर्थः । किञ्च न्यक्कारादियुक्तं वचनमाह तदै(दे)न्यं न्यक्कारादियुक्तं वचनं श्रु[ण]वन्तं पार्श्वस्था विवेकिन एवमाहुः-धिगस्तु त्वा त्वामिति । किञ्च त्वं पितृहा पितुर्हन्तैवासि तथा त्वं मातृहैवासीत्याहुः । एवमन्यदपि । अथ पुनर्यदप्येनान् पित्रादीनुत्क्रान्तप्राणान् त्यक्तदेहान् यद्यपि शूलेन शूलाकृतिना काष्ठेन समासं समस्य समस्य व्यतिषं व्यत्यस्य व्यत्यस्य संदहेत् तथापि एनं पित्रादीन् दहन्तमेव न ब्रूयुरेव पार्श्वस्थाः पितृहा त्वमसीति । एवमन्यदपि योज्यम् । सति प्राणे पित्रादिशब्दप्रयोगात्तदुत्क्रान्तप्रयोगाच्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां पित्रादिशब्दानां प्राणविषयत्वमवगम्यत इत्यभिप्रायः ॥

एवं प्राणस्य नामरूपात्मकत्वं व्युत्पाद्येदानीं तदुपसंहरति--

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥

प्राण इति ॥ हि यस्मादेवं तस्मात्प्राण एवैतानि पित्रादीनि सर्वाणि चलानि स्थावराणि च भवति । सर्वं प्राणात्मकमेवेत्यर्थः ॥

प्राणादुत्तरस्य भूमाख्यतत्त्वस्य निरतिशयोत्कर्षप्रतिपादनाय प्राणविदोऽतिशयितवादित्वं दर्शयति--

स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति । तं येत् ब्रूयूरतिवाद्यसीत्यितिवाद्यस्मीति ब्रूयात् नापह्नुवीत ॥ [४] ॥

स वा एष इति ॥ स वा एष यथोक्त प्राणविदेव य एवं यथोक्तप्रकारेण नामादिभ्यो भूयस्त्वेन प्राणं पश्यन्ननुभवन् एवं मन्वान उपपत्तिमभिश्चिन्तयन् एवं विजानन् एवमिति निश्चयं कुर्वन् अतिवादी ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य जगतः प्राण आत्माऽहमिति नामाद्याऽऽशान्तमतीत्य वदनशीलो भवति । यद्वा सर्वोत्कृष्टः प्राण इत्यतिशयितप्रतिवदनशीलो भवतीत्यर्थः । तं चेत् एवमतिवादिनं यदि पार्श्वस्थास्त्वमतिवाद्यासीति ब्रूयुस्तर्हि स (अ)तिवादी सत्यमतिवाद्यस्मीति ब्रूयात् नापह्नवीत । अतिवादनस्य निराकारणं न कुर्यान्नामाद्यपेक्षया प्राणस्यातिशयसद्भावात् ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने सप्तमाध्यायस्य
पञ्चदशः खण्डः ॥

नामाद्याऽऽशान्तेभ्यस्तत्त्वेभ्य उत्कृष्टं प्राणा श्रुत्वा अतः परं किंचित्तत्त्वान्तरमिति बुद्ध्या पूर्ववत् किमस्ति भगवः प्राणाद्भूय इत्यपृच्छन्तं प्राणविज्ञानमात्रेण परमार्थसत्यवादिनमात्मानं मन्यमानं नारदं कृपया मिथ्याग्रहणात्प्राच्यावयित्वा परमार्थसद्विज्ञानेन योजयितुं सनत्कुमारो यदब्रवीत्तदाह—

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति। सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति ॥

एष त्विति ॥ एष तु वा अयमेव ह्यभिवदति । इयमहं वक्ष्यामि न प्राणवदतिवादी परमार्थतस्तस्य नामादि सापेक्ष[म]तिवादित्वात् । यो भूमाख्यं सर्वोत्कृष्टं परमार्थसत्यं तत्त्वं वेद स सत्येन परमार्थसत्यतत्त्वविज्ञानवत्तया अतिवदानि सर्वातिशयिततत्त्वादतिभवानि तथा मां कुर्वित्यर्थः ॥

पुनः सनत्कुमारस्य वचनं दर्शयति––

सत्यं त्वेव विज्ञासितव्यमिति ॥

सत्यमिति ॥ यदि सत्येनातिवदितुं त्वम[मि]च्छसि तर्हि त्वया सत्यमेव परमार्थसत्यं भूमाख्यं तत्त्वमेव विजिज्ञासितव्यमिति सनत्कुमारोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

ततः पुनर्नारदस्य वचनं दर्शयति—

सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ [१] ॥

॥ इति सप्तमाध्यायस्य षोडशः खण्डः ॥

सत्यमिति ॥ भगवो हे भगवन् तर्ह्यहं सत्यमेव विजिज्ञासे त्वत्तो विशेषेण ज्ञातुमिच्छेयमिति नारदोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

॥ इति दीपिकायां सप्तमाध्यायस्य षोडशः खण्डः ॥

ततः सनत्कुमारस्य वचनं दर्शयति—

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति ॥

यदा वा इति ॥ यदैव 'पुमान् सत्यं परमार्थतो विजानाति, इदं परमार्थतः सत्यमिति । अथ तदनन्तरमनृतं विकारजातं वाचारम्भणं परित्यज्य सदैवैकं सत्यमिति तदैव वदति ।

ननु विकारोऽपि सत्यमेव । तथा च श्रूयते-'**नामरूपे सत्यम् । ताभ्यामयं प्राणच्छन्नः** [बृ. उप. १-६-३] '**प्राणो(णा) वै सत्यम् । तेषामेष सत्यम्**' [बृ. उप. २-१-२०] इति । सत्यमुक्तं श्रुत्यन्तरे विकारस्यापि सत्यत्वं तदिन्द्रियविषयादि सापेक्षं सत्यत्वं न तु वास्तवं सत्यत्वम् । तद्वारेण परमार्थसत्यस्या(स्यो)पलब्धिर्भवतीति विवक्षया इह तु प्राणविषयात्परमार्थसत्यविज्ञानाभिमानाद्व्युत्थाप्योपसन्नं नारदं परमार्थतः सत्यं भूमाख्यं तत्त्वं विज्ञापयिष्यामीत्येवं सनत्कुमारस्य विवक्षितोऽर्थः प्रतिपाद्यत इत्यविरोधः । परमार्थतः सत्यमिदमित्यविजानन् सत्यं न वदति । किन्तु परमार्थतः सत्यमिदमिति विजानन्नेव सत्यं वदति । अतो विज्ञानमेव विजिज्ञासितव्यं विशेषेण जिज्ञासितव्यमिति सनत्कुमारो नारद(म)ब्रवीदित्यर्थः ॥

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति—

विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ [१] ॥

॥ इति सप्तमाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ॥

विज्ञानमिति ॥ यदि विज्ञानमेव विजिज्ञासितव्यं तर्हि भगवो हे भगवन् विज्ञानमेवाहं त्वत्तो विजिज्ञासे ज्ञातुमिच्छेयम् ॥

॥ इति दीपिकायां सप्तमाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ॥

एवं सत्यवदनहेतुत्वं तद्विज्ञानस्य दर्शयित्वेदानीं मननस्य तद्धेतुत्वं दर्शयति—

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति ॥

यदा वा इति ॥ यदा वै यदैव पुमान्मनुते परमार्थसत्यं युक्तिभिरनुचिन्तयति । अथ तदैव विजानाति तस्यैव प्रतिपादनममत्वातर्कयन् न विजानाति किन्तु मत्वैव तर्कयित्वेव विजानाति । अतो मतिस्त्वेव तर्क एव विजिज्ञासितव्या विशेषेण जिज्ञासितव्येति सनत्कुमारोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति—

मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ [१] ॥

॥ इति सप्तमाध्यायस्याष्टादशः खण्डः ॥

मतिमिति ॥ भगवो हे भगवन् यदि मतिर्विजिज्ञासितव्या तर्हि मतं मननमेवाहं त्वत्तो विजिज्ञासेति नारदोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

इति अष्टादशः खण्डः ॥

अथ श्रद्धाया मननहेतुत्वं दर्शयति—

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति ।।

यदा वा इति ।। यदैव पुमान् श्रद्दधाति तत्त्वविषयामास्तिक्यबुद्धिं करोति । अन्यत्पूर्ववद्व्याख्येयम् ।।

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति--

श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ।

।। इति एकोनविंशः खण्डः ।।

श्रद्धामिति ।। तदपि समानम् ।।

।। इत्येकोनविंशः खण्डः ।।

अथ श्रद्धाहेतु[त्वं] निष्ठाया दर्शयति—

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति निष्ठिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति ।।

यदा वा इति ।। यदैव पुमान् निस्तिष्ठति गुर्वाचार्यशश्रूषायां तात्पर्यवान् भवति । अथेत्यादि पूर्ववद्व्याख्येयम् ।।

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति—

निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ।। [१] ।।

।। इति विंशः चण्डः ।।

निष्ठामिति ।। तदपि समानम् ।।

।। इति विंशः खण्डः ।।

अथ निष्ठाहेतुत्वं दर्शयति--

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति ।।

यदा वा इति ।। कृतिश्चित्तैकाग्रहेतुरिन्द्रियसंयमः सत्येवेन्द्रियसंयमे निष्ठा जायते नान्यथेति । अन्यतपूर्ववत् ।।

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति--

कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ।। [१] ।।

।। इति एकविंशः खण्डः ।।

कृतिमिति ॥ तदपि पूर्ववद् योज्यम् ॥

॥ इति एकविंशः खण्डः ॥

अथ कृतिहेतुत्वं सुखलाभं दर्शयति–

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति । सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति ॥

यदा वा इति ॥ यदैव पुमान् सुखं निरतिशयं वक्ष्यमाणं भूमाख्यं लभते प्राप्तुमुद्दिशति अथ तदेव करोति । यथा लौकिक......ए कर्मसु तथैवात्रापि सुखोद्देशेनैव करोतीत्यर्थः । अन्यत्पूर्ववत् ॥

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति–

सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥ [१]

॥ इति छान्दोग्ये सप्तमाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ॥

सुखमिति ॥ तदपि समानम् ॥

॥ इति सामवेदप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने सप्तमाध्यायस्य द्वाविंशः खण्डः ॥

एवं सत्यविज्ञानानां सुखोद्देशान्तानामुत्तरोत्तराणां पूर्वहेतुत्वं दर्शयित्वा सुखज्ञानार्थमभिमुखीभूताय नारदाय कृपालुः सनत्कुमारो यत्सुखस्वरूपमुपदिदेश तदिदानीमाह–

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति ॥

यो वा इति ॥ यो वै य एव भूमा महन् निरतिशयः परमात्मा तत्सुखं ततोऽर्वाक् सातिशयत्वादल्पम् । अतस्तस्मिन्नल्पे सुखं नास्ति, अल्पस्याधिकतृष्णाहेतुत्वात् तृष्णा च दुःखकारणम् । तस्मादल्पे सुखं नास्तीति भूमैव सुखं तृष्णादिदुःखकारणत्वाभावाद्भूम्नः । अतो निरतिशयानन्दावाप्तिमिच्छता त्वया भूमैव विजिज्ञासितव्य इति सनत्कुमारोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

ततो नारदस्य वचनं दर्शयति–

भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥[१]

॥ इति सप्तमाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः ॥

भूमानमिति ॥ तर्हि भगवो हे भगवन् भूमानमेवाहं विजिज्ञासे त्वत्तो विशेषेण ज्ञातुमिच्छेये(यमि)ति नारदोऽब्रवीदित्यर्थः ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने सप्तमाध्यायस्य त्रयोविंशः खण्डः ॥

किं लक्षणोऽयं भूमेत्यत्राह—

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्यम् ॥१॥

यत्रेति ॥ यत्र यस्मिन् ब्रह्मतत्त्वेऽन्यद्व्यतिरिक्तं द्रष्टव्यमन्येन कारणेन दृश्यादन्यो दृष्टा न पश्यति तथान्यच्छ्रोतव्यमन्येन करणेनान्यं श्रोता न शृणोति नामरूपयोरेव घ्राणादिविषयस्याप्यन्तर्भावादत्र दर्शनश्रवणयेरेवोपादानं यद्वान्येषामप्युपलक्षणार्थं दर्शनश्रवणयोर्ग्रहणम् । तथा च यत्र नान्यन्मनुते नान्यञ्जिघ्रतीत्येवमाद्यप्युक्तं भवति। तथान्यदन्येन करणेनान्यो विज्ञाता न विजानाति नि(न)निश्चिनोति एवं लक्षणो यः भूमा ।

ननु यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिना किं प्रसिद्धान्यदर्शनाद्यभावो भूम्न्युच्यते किं वान्यदर्शनादिप्रतिषेधेनात्मनो दर्शनमुच्यते । नाद्यः, अद्वितीयात्मन्यधिकरणादिकर्तव्यभेदानुपपत्तेः । न द्वितीयः निर्विशेषाद्वितीयात्मनि क्रियाकारणफलभेदाननभ्युपगमात् । तदभ्युपगमे वा संसारापत्तिः क्रियाकारकफलभेदस्यैव संसाररूपत्वादिति चेत् , न । वास्तवस्याधिकरणाधिकर्तव्यक्रियाकारकफलवदस्याभावेऽप्यविद्याकृतस्य संभवात् । अतोऽत्राविद्यावस्थान्यदर्शनानुवादेन तद्विरहो भूम्नो लक्षणतयाभिधीयत इत्यविरोधः । अथ पुनर्यत्राविद्याविषयेऽन्यो दृष्टान्येन करणेनान्यद्द्रष्टव्यं पश्यति तथान्यच्छृणोति तथान्यद्विजानाति तदल्पम् यथा स्वप्नदृश्यं वस्तु तत्कालभावि तद्वदल्पमविद्याकालभावीत्यर्थः । किञ्च य एव भूमा तदमृत(म्)मरणरहितमविनाशीत्यर्थः । अथ पुनर्यदल्पं तन्मर्त्यं विनाशीत्यर्थः । प्रतियोगिज्ञानमन्तरेणानुयोगिनो भूम्नोर्ज्ञानं नास्तीति प्रतियोगिनोऽल्पस्य लक्षणमुच्यत इति द्रष्टव्यम् ।

अथ नारदस्य वचनं दर्शयति—

स भगव कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥

स भगव इति ॥ तर्हि स एवंलक्षणो भूमा भगवो हे भगवन् कस्मिन् प्रतिष्ठित इति नारदः सनत्कुमारं पृष्टवानित्यर्थः ॥

सनत्कुमारस्य वचनं दर्शयति–

स्वे महिम्नि यदि वा न म[हि]म्नीति ॥ [१]

स्वेमहिम्नीति ॥ यदि भूम्नः प्रतिष्ठां पृच्छसि तर्हि स्व आत्म......म्नि [आत्ममहिम्नि ?] माहात्म्ये विभूतौ प्रतिष्ठितो भूमेति ब्रूमः । अथ पुनर्यदि परमार्थमेव पृच्छसि तर्हि महिम्नोऽपि न प्रतिष्ठित इति ब्रूमः । वस्तुतः क्वचिदप्यनाश्रितो भूमेत्यर्थः ॥

कथं तर्हि प्रतिष्ठित इत्युच्यत इत्यत्राह–

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यस्मिन् प्रतिष्ठत इति ॥ [२] ॥

॥ इति चतुर्विंशः खण्डः ॥

गो अश्वमिति ॥ इह लोके गोअश्वं गावश्चाश्वाश्च गोअश्वं द्वंद्वैकवद्भावः । हस्तिहिरण्यं हस्तिनश्च हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम् । दासभार्यं दासाश्च भार्याश्च दासभार्यं क्षेत्राणि केदारादीनि आयतनानि गृहाश्च महिम्नेत्याचक्षते लौकिकाः । तदाश्रितस्तस्मिन् प्रतिष्ठितो देवदत्तो यथा भवति एवं तथाऽहंमन्यः सन् भूमा अस्मि स्वव्यतिरिक्ते स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित इति न ब्रवीमि । किं त्वेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण ब्रवीमीति सनत्कुमार उवाच ह । हेत्यैतिह्यं द्योतयति ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने सप्तमाध्यायस्य चतुर्विंशः खण्डः ॥

कुतोऽयं भूमा क्वचिदपि न प्रतिष्ठित इत्यत्राह–

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स एवेदं सर्वमिति ॥

स एवेति ॥ यस्मात्स एव भूमाऽधस्ताद्वर्तते तद्व्यतिरेकेणान्यः कश्चिदाधारो नास्ति यस्मिन् प्रतिष्ठितो भवेत् । तथा स एव भूमोपरिष्टाद्वर्तते तद् व्यतिरेकेणान्यत्किञ्चिन्नास्ति । तथा स एव पश्चात्पृष्ठतोऽपि तथा स एव दक्षिणतः । तथा स एवोत्तरतोऽपि । किं बहुना स एव भूमेदं सर्वं जगत् तद्व्यतिरेकेण किञ्चिदपि नास्ति । तस्मादसौ क्वचिदपि न प्रतिष्ठितः स्वव्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽभावादित्यर्थः । यत्र नान्यत्पश्यतीत्यधिकरणाधिकर्तव्यभावनिर्देशात् स एवाधस्तादिति परोक्षनिर्देशाच्च द्रष्टुर्जीवादन्यो भूमा कश्चित्स्यादिति कस्यचिदाशंका भवेत् ॥

तन्निवारणायाह–

अथातोऽहंकारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳसर्वमिति ॥ [१]

अथेति ॥ अथातो द्रष्टुर्जीवादन्यो भूमा भवेदिति शंकाया अनन्तरमहंकारादेशो द्रष्टुर्जीवादन्यस्य भूम्नो दर्शनार्थमहंकारेण भूमैवादिश्यत इत्यहंकारादेशः स एवोच्यत इत्यर्थः । अहमेवाधस्ताद्वर्त्तमानः । तथाहमेवोपरिष्टादित्यादि पूर्ववत् । जीवोऽपि भूमेवेत्यभिप्रायः ॥

अहंकारेण देहादिसंघातो विवेकिभिर्व्यपदिश्यत इति कस्यचिदाशंका भवेत्तन्निवारणायाह–

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति ॥

अथेति ॥ अतोऽस्याः शंकायाः अथानन्तर[म्] आत्मादेश एवात्मैव केवलेन शुद्धेन स्वरूपेणादिश्यत इत्यात्मादेशः स एवोच्यते । आत्मैवाधस्तान्न तद्व्यतिरेकेण किञ्चिदस्ति । अन्यदप्येवं व्याख्येयम् ॥

यथोक्तात्मविज्ञानस्य फलमाह–

स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजाननात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द स स्वराट्[ड्]भवति तस्य सवेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥

स वा एष इति ॥ स वा एष सोऽयं यथोक्तात्मविज्ञानवानेव एवं यथोक्तप्रकारेण भूमानं पश्यन् मन्वानस्तर्कयन् एवं विजानन् एवमेवेति निश्चिन्वन् आत्मरतिरात्मन्येव रतिः रमणं यस्या सा वात्मरतिस्तथात्मक्रीडः आत्मन्येव क्रीडा यस्या सा वात्मक्रीडः देहमात्रसाधना रतिर्बाह्यसाधना क्रीडा । तथा च लोके वदन्ति–'स्त्रिभिः सह राजा क्रीडते' इति । ते उभे अपि रतिक्रीडे विदुष आत्मविज्ञानादेव भवतः न देहादिसाधनजनित इत्यर्थः । तथा आत्ममिथुनं मिथुनं द्वन्द्वजनितं सुखं तदपि द्वन्द्वनिरपेक्षतयात्मविज्ञानात् भवतीत्यर्थः । तथात्मानन्दः शब्दादिविषयनिमित्त आनन्दः सोऽपि शब्दादिनिमित्तमन्तरेणात्मनिमित्तावयवस्य भवति स आत्मानन्दः । किञ्च स एवंलक्षणो विद्वान् स्वराट् जीवन्नेव स्वाराज्येऽभिषिक्तः पतितेऽपि देहे स्वराडेव भवति । एवं विदुषः सत्यपि देहे पतितेऽपि निरतिशयानन्दो भवति । यथा

साम्राज्येऽभिषिक्तस्येह लोकें निरा(र)तिशयस्तद्वदित्यर्थः । तथा तस्यैवं विदुषः सर्वेषु लोकेपु कामचारो भवति । स्वाराज्येऽभिषिक्तस्य तत्रैव कामचारो नान्यत्र । अस्य तु सर्वत्र कामचारः सर्वगतत्वादित्यर्थः ॥

यथोक्तात्मज्ञानस्तुत्यर्थमन्यथाविदो निन्दां करोति—

अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति । तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ [२] ॥

॥ इति सप्तमाध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः ॥२५॥

अथेति ॥ अथ पुनर्ये श्रवणादिसाधनरहिता अतो यथोक्तप्रकारादन्यथा भूमानं विदुस्तेऽन्यराजानोऽन्यः परो राजा स्वामी येषां तेऽन्यराजानो भवन्ति । किञ्च ते क्षय्यलोकाः क्षय्यो विनाशी लोको येषां ते क्षय्यलोकाः भेददर्शनादल्पविषयत्वादल्पस्य मर्त्यत्वात्स्वदर्शनानुसारेण भेददर्शनः क्षय्यलोका एव भवन्तीत्यर्थः । अत एव तेषामन्यथादर्शनवतां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति कामचारो नास्ति । किन्तु स्वदर्शनानुसारेण क्वचित्पराधीन एव सञ्चारो न सर्वत्र स्वेच्छया सञ्चार इत्यर्थः ॥

॥ इति दीपिकायां सप्तमाध्यायस्य पञ्चविंशः खण्डः ॥

यथोक्तात्मदर्शनवतः प्राणादिसर्वव्यापारोऽप्यात्माधीन एव नान्याधीन इत्याह—

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावायात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामाऽऽत्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदꣳ सर्वमिति ॥[१]॥

तस्य ह वा इति । किञ्च तस्यैतस्य यथोक्तात्मविदुषः स्वाराज्यप्राप्तस्य प्रकृतस्य एवं यथोक्तप्रकारेण भूमानं पश्यत एवं मन्वानस्य युक्तिभिश्चिन्तयत एवं विजानतो निश्चिन्वतः आत्मत एव प्राणो जायते, विनश्यति च नान्यतः । तथाशां आकांक्षाप्यात्मत एव जायते विनश्यति च नान्यतः। तथा स्मर स्मरणभा(म)प्यात्म[त] एव जायते विनश्यति च नान्यतः । एवमाकाशादिकमपि व्याख्येयम् । किं बहुनेदं सर्वं जगदात्मत एव जायते आत्मत एव विनश्यतीत्यर्थः ॥

यथोक्तार्थे मन्त्रोऽप्यस्तीत्याह–

तदेष श्लोकः–

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम् ।
सर्वꣳह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः ॥ इति ॥

तदेश(षः) श्लोक इति ॥ किञ्च तदेतस्मिन्नर्थे एष श्लोको मन्त्रोऽप्यस्ति । पश्यः पश्यतीति पश्यः यथोक्तात्मदर्शीत्यर्थः । मृत्युं मरणं न पश्यति । तथा रोगं ज्वरादिकं न पश्यति । उतापि च दुःखतां दुःखभावं न पश्यति । किञ्च पश्यतो यथोक्तात्मदर्शी सर्वं ह सर्वमेवात्मानं पश्यति । ततः सर्वशः सर्वप्रकारः सर्वमाप्नोति सर्वात्मक एव भवतीत्यर्थः । इति शब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतनार्थः ॥

यथोक्तसद्विज्ञानं पुंसां प्रवृत्तिरुत्पादनाय फलेन स्तौति–

स एकया(धा)भवति त्रिधा भवति भवति पञ्चधा ।
सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः ॥
शतं च दश चैकं च सहस्राणि च विꣳशतिः ॥इति॥

स एकया(धा) इति ॥ किञ्च यो भूमानं नित्यनिरतिशयानन्दात्मना विजानाति स जगदुत्पत्तेः प्रागेकधा सद्रूपेणैव एको भवति । तथा चोक्तं '**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**' [छा. उप. ६–२–१] इति पश्चात्सृष्टिकाले गुणत्रयविभागेन त्रिधा भवति । स पश्चात्पञ्चधादिभेदैरनन्तभेदप्रकारो भवति । पुनः संहारकाले मूलमेव पारमार्थिकमेकधाभावं स्वतन्त्र एव सन् प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

यथोक्ता या विद्याः सम्यगवभासकारणमन्तःकरणशुद्धिसाधनमुपदिशति–

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः । स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ॥

आहारशुद्धाविति ॥ आहारशुद्धौ भोक्तुर्भोगाया हि यत इति शब्दादिविषयोपलब्धिलक्षणं विज्ञानमाहारः । तस्य शुद्धिः । रागादिदोषै[ः] च संसर्गस्तस्यामाहारशुद्धौ सत्यां सत्त्वशुद्धिः । तद्वतोऽन्तःकरणस्य शुद्धिः विमलता भवति । सत्त्वशुद्धौ च सत्यां ध्रुवा यथोक्ते भूमावात्मन्यवच्छिन्ना स्मृतिरनुस्मरणं भवति । स्मृतिलम्भे स्मृतिलाभे च सति सर्वग्रंथीनां सर्वेषामविद्याकृतानर्थपाशरूपाणामनेकजन्मान्तरानुभवजनितभावनाकठिनीकृतानां हृदयग्रन्थीनां विप्रमोक्षो विशेषेण प्रमोक्षणं विनाशो भवतीत्यर्थः । यतोऽन्तःकरणशुद्धयादिकमाहारशुद्धिमूलं तस्मादाहाशुद्धौ सर्वथा यत्नः कार्यं इत्यर्थः ॥

एवं सर्वशंकोद्धारेण शास्त्रार्थं सम्यग् निरूप्येदानीमाख्यायिकामुपसंहरति–

तस्मै मृदितकषाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः ।

तस्मा इति ॥ तस्मै तत्त्वजिज्ञासया नियमेनोपसन्नाय नारदाय मृदितकषाय मृदितो ज्ञानवैरागाभ्यां विनाशितः कषायोऽन्तःकरणरञ्जनानुरूपत्वाद्द्राक्षादिरिव रागद्वेषादिदोषो यस्य नारदस्य स मृदितकषायस्तस्मै ब्रह्मविद्योपदेशयोग्याय तमसोऽविद्यालक्षणात्पारं तारकं परमार्थतत्त्वं भगवान् **'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥'** इत्येवं लक्षकः सनत्कुमारो दर्शयति दर्शितवानित्यर्थः ।

सनत्कुमारवचनस्याप्रामाण्यशंकानिवारणाय तस्य देवतात्मकत्वं दर्शयति–

तं स्कन्द इत्याचक्षते तं स्कन्द इत्याचक्षते ॥ [२]

॥ इति षड्विंशः खण्डः ॥

तं स्कन्द इति ॥ तं सनत्कुमारं स्कन्द इत्याचक्षते तद्विदो वृद्धाः कथयन्ति । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्तिद्योतनार्था ।

अत्र भूमवस्तुनो ब्रह्मत्वं प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे द्वितीयाधिकरणे चिन्तितम्–

भूमा प्राणः परेशो वा प्रश्नप्रत्युक्तिवर्जनात् ।
अनुवर्त्यातिवादित्वं भूमोक्तेर्वायुरेव सः ॥
विच्छिद्यैव त्विति प्राणं सत्यस्योपक्रमात्तथा ।
महोपक्रम आत्मोक्तेरीशोऽयं द्वैतवारणात् ॥[1]

छान्दोग्ये सप्तमाध्याये नारदं प्रति सनत्कुमारो नामादीन्युत्तरोत्तरभूयांसि बहूनि तत्त्वान्युपदिश्यान्ते निरतिशयं भूमानमुपदिशति । **'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा'** [छा. उप. ७-२४-१] इति । तत्र भूमशब्दवाच्ये द्विधा संदिग्धे सति प्राण इति तावत् प्राप्तः, कुतः ? प्रश्नप्रत्युक्तिवर्जनात् पूर्वेषु नामादिषु तत्त्वेषु **'अस्ति भगवो भूयः'** इति नारदः पदे पदे पृच्छतीति सनत्कुमारश्च **'अस्ति'** इति प्रतिवचनपूर्वकतया नामादीनि प्राणान्तानि बहूनि तत्त्वान्युपदिश्य प्राणस्योपरि विनैव प्रश्नप्रत्युक्तिभ्यां भूमानमवतारयति । अतः प्राणभूम्नोर्मध्ये विच्छेदकस्याभावात् प्राण एव भूमा । किञ्च प्राणतत्त्वमुपदिश्य प्राणोपासकस्यातिवादित्वनामकमुत्कर्षमभिधाय प्रकरणविच्छेदशंकानिवृत्तये न देवातिवादित्वमनुवर्त्य भूमानमुपदिशन् प्राणभूम्नोरभेदं

---

[1] ब्र. सू. न्या. पृ-२२१

गमयति । तस्मात्प्राणो भूमेति प्राप्ते ब्रूमः–अयं भूमा परमेश्वरः, कुतः ? **एष तु वा अतिवदति य सत्येनातिवदति'** [छा. उप. ७–१६–१] इत्यत्र अतिवादित्वहेतुं प्राणोपासनं तु शब्देन व्यावर्त्य मुख्यातिवादित्वहेतोः ब्रह्मणः सत्यशब्देन पृथगुपक्रमात् । तथा परमोपक्रमे **'तरति शोकमत्मावित्'** [छा. उप. ७–१–३] इति वेद्यतया परमात्मोच्यते । तथा **'यत्र नान्यत्पश्यति'** [छा॰ उप. ७–२४–१] इति द्वैतनिषेधेन भूम्नो लक्षणमभिधीयते । तस्मादद्वैतः परमात्मैव भूमा ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

॥ इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये सामवेदार्थप्रकाशे उपनिशद्व्याख्याने सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥

श्रीसायणाचार्यविरचिता छान्दोग्योपनिषद्दीपिका

॥ अष्टमोऽध्यायः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

दिग्देशकालादिभेदशून्यं ब्रह्म सदेकमेवाद्वितीयमात्मैवेयं सर्वमिति षष्ठसप्तयोर्व्युत्पाद्येदानीं मन्दबुद्धीनां दिग्देशकालादिभेदद्वस्त्वित्येव भविता बुद्धिर्न सहसा परमार्थविषयां कर्तुं शक्यते । अनधिगम्य च परमार्थतत्त्वं पुरुषार्थसिद्धिर्नास्तीति तदधिगमाय हृदयपुण्डरिकदेश उपदेष्टव्यः । तथैव तेषां गुणवत्त्वस्येष्टत्वात्सत्यकामादिगुणवत्त्वं कक्तव्यम् । तथा यद्यपि ब्रह्मविदां विषयेभ्यः स्वत एवोपरतिर्भवति तथाप्यनेकजन्मविषयसेवाभ्यासजनिता विषयतृष्णा सहसा निवर्तयितुं न शक्यत इति ब्रह्मचर्यादिसाधनविषयोऽप्युपदेष्टव्यः । तथैव यद्यप्यात्मैकत्वविदां गन्तृगमनगन्तव्याभावादविद्यादिशेषस्थितिनिमित्तक्षये दग्धेन्धनानलवत् स्वात्मन्येव निर्वृतिः संभवति तथापि गन्तृगमनादिवासितबुद्धीनां हृदयदेशे गुणविशिष्टब्रह्मोपासकानां मूर्धन्यया नाडया गतिश्चोपदेष्टव्येत्येतत्सर्वमष्टाध्याये व्युत्पाद्यते ।

तत्र प्रथमं तावन्मन्दानां दिग्देशकालादिभेदवद्वस्त्वित्येवं वासितबुद्धीनामात्मतत्त्वविज्ञानाय हृदयपुण्रीकदेश उपदिश्ते–

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः ॥

अथ यदिति ॥ अथ ब्रह्म सदेकमेवाद्वितीयमात्मैवेदं सर्वमित्युपदेशानन्तरं मन्दमतीनामात्मतत्त्वविज्ञानाय हृदयपुण्डरीकदेश उपदिश्यत इत्यर्थः । यदिदं वक्ष्यमाणं दहरमल्पं पुण्डरीकं सिताम्भोजं तत्सदृशमित्यर्थः । वेश्मसदृशं द्वारपालादिसंबन्धात् ब्रह्मण उपलब्ध्याधिष्ठानमित्यर्थः । अस्मिन् परिदृश्यमाने ब्रह्मपुरे ब्रह्मणः परस्यात्मनः पुरं शरीरं यथा राज्ञः पुरं स्वाम्यर्थकारिभिरमात्याभिरनेकैर्युक्तं तद्वदिदं शरीरमपि स्वाम्यर्थकारिभिरनेकेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभिर्युक्तमिति पुरमित्युच्यते । तस्मिन् यथा पुरे राज्ञो वेश्म तद्वदस्मिन् शरीरे ब्रह्मण उपलब्धिस्थानं दहरं पुण्डरीकं वेश्म वर्तत इत्यर्थः । अस्मिन् हृदयपुण्डरीके वेष्मनि अन्तर्मध्ये दहरोऽल्पतरोऽत्यन्तसूक्ष्मत्वात् आकाश आसमन्तात्काश इत्याकाशाख्यं ब्रह्म आकाश इवाशरीरत्वात् सर्वगतत्वाच्च ॥

किं तत इत्यत्राह—

तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥[१]॥

तस्मिन्निति ॥ तस्मिन् दहराकाशेऽन्तर्मध्ये यत्तत्त्वं तदन्वेष्टव्यम् । तद्वाव तदेव विजिज्ञासितव्यं विशेषेण ज्ञातुमेष्टव्यं श्रवणमननाद्युपायैरन्वेष्टव्य(व्यं) साक्षाकारि(कर)णीयमित्यर्थः ॥

दहराकाशे यदस्ति तद्गुरुशिष्यसंवादव्याजेन दर्शयितुमुपक्रमते—

तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥

चं चेदिति ॥ तं चेत् दहराकाके विद्यमानमेव अन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं चेत्येवमुक्तवन्तमाचार्यं यदि ब्रूयुरन्तेवासिन एवं चोदयेयुः यदस्मिन्ब्रह्मपुरे परिछिन्ने शरीरेऽन्तर्दहरमल्पं पुण्डरीकं पुण्डरीकसदृशं वेश्म वेश्मसदृशं स्यानम् । अस्मिन् हृदयपुण्डरीकाख्ये वेश्मनि अन्तर्मध्ये दहरस्ततोऽल्पतर आकाशः । अल्पाल्पतर आकाशे तत्कि विद्यते । पुण्डरीकवेश्मन्थेव तावत्किमपि नास्तिका प्रत्याशा ततोऽप्यल्पतर आकाशे किञ्चिद्भवेदिति । । अतस्तत्र न किञ्चिद्विद्यत इत्यभिप्रायः । यच्छ्रवणाद्युपायैरन्वेष्टव्यं यदेवान्विष्य विजिज्ञासितव्यम् । यदि नाम तत्र किञ्चिद्भवेत् तथापि तस्यात्यन्तात्पत्वात् तदन्वेषणेन तद्विजिज्ञासमे(माने)न न किञ्चित्प्रयोजनमित्यभिप्रायः ।

एवं शिष्याणां चोद्यं दर्शयित्वेदानीं गुरोरुत्तरं दर्शयति—

स यद् ब्रूयात्[1] ॥[२] यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः । उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते । उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥[३]॥

स यदिति ॥ स शिष्यैरनुयुक्त आचार्यस्तान् प्रत्येवं ब्रूयाद्युयं ब्रूथ । पुण्डरीकान्तस्थस्याकाशस्यात्पत्वात् तत्स्थमल्पतरं स्यादिति तदनुपपन्नं पुण्डरीकादल्पतरं महत्त्वा[द]दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इति न वयमवोचाम । अपि तर्हि पुण्डरीकमल्पं

---

[1] स ब्रूयात्—मुपा.

तदनुविधायि तत्स्थमन्तःकरणं पुण्डरीकाकाशं परिच्छिन्नम् । तस्मिन् विशुद्धेऽन्तःकरणे स्वच्छ आदर्श इव प्रतिबिम्बरूपं संहृतकरणानां योगिनां शुद्धं विज्ञानज्योतिः स्वरूपावभासं ब्रह्मान्तःकरणोपाधिनिमित्तं तावन्मात्रमुपलभ्यत इति दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इत्यत्रोचाम । परमार्थतस्तु यावान्वै यावानेव परिमाणतोऽयं प्रसिद्धो भौतिक आकाशस्तावानेषोऽन्तरहृदय आकाशो यस्मिन्नन्तस्तदन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं वा । न ह्यत्र भौतिकाकाशस्तुल्यपरिमाणत्वमस्याकाशस्याभिप्रेत्य तावानित्युच्यते किन्तु ब्रह्मणो रूपस्य दृष्टान्तान्तरस्याभावात् ब्रह्मणो महत्त्वस्य निरतिशयत्वादाकाशसाम्यात् । तथा च श्रूयते–‘**येनावृतं खं च दिवं महीं च ।**’ [महाना. उप. १–३] ‘**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः**’ [तै. उप. २–१] ‘**एतस्मिन् खल्वक्षरे गार्ग्याकाश**’ [बृ. उप. ३–८–११] इत्यादिषु श्रुतिषु किं चास्मिन् ब्रह्माकाशे बुद्ध्युपाधिविशिष्टान्तर्मध्ये उभे द्यावापृथिव्यौ समाहिते सम्यगाहिते स्थिते । तथा चात्रैव प्राक्कृतं यथा वा अरा नाभाविति तथा [उ]भावग्निच(श्च) वायुश्चात्रैव समाहितौ । तथा सूर्याचन्द्रमसावुभावत्रैव समाहितौ । तथा विद्युदत्रैव समाहिता । तथा नक्षत्राण्यत्रैवं समाहितानि । किं चास्य देहवत(तः?) सात्मन आत्मीयत्वेनेह लोके यदस्ति विद्यते । तथा यच्चास्यात्मीयत्वेन नास्ति न विद्यते नष्टं भविष्यच्चात्र नास्तीत्युच्यते । न त्वत्यन्तमेवासत् तस्य हृदयाकाशे समाधानानुप[प]त्तेः । तत्सर्वमस्मिन् ब्रह्माकाशे समाहितमवस्थितमिति ॥

पुनः शिष्याणां चोद्यं दर्शयति—

तं चेद् ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳसमाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरा वाऽऽप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ [४] ॥

तं चेदिति ॥ तं चेत्तमेवमुक्तवन्तमाचार्यं यदि ब्रूयुः शिष्या एवं चोदयेयुः । अस्मिन् यथोक्ते ब्रह्मपुरे ब्रह्मपुरोपलक्षितेऽन्तराकाशे चेद्यदिदं सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूताति समाहितानि सर्वे च कामाः काम्यमानाः पदार्थाः समाहिताः यच्चास्येहास्तीति कामानामप्युपात्तत्वादाचार्यानुक्ताः कामाः कथं शिष्यैरनूद्यन्त इति न शंकनीयम् । तर्हि यदा यस्मिन् काले एतच्छरीरं ब्रह्मपुराख्यं जरावलिपलितादिरूपावयोहानिरवाप्नोति यद्वा शस्त्रादिना वृक्णं सत्प्रध्वंसते विनश्यति तदा देहनाशे घटाश्रितक्षीरदध्यादिवद्घटनाशे देहाद्याश्रितमुत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वनाशाद्विनश्यतीत्यभिप्रायः । एवं च सति ततो यथोक्तादन्यत्किमपि शिष्यतेऽवतिष्ठते न किञ्चिदवतिष्ठत इत्यभिप्रायः ॥

आचार्यस्य प्रतिवचनं दर्शयति–

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते। एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः। एष आत्मापहतपाप्मा विरजो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः॥

स ब्रूयादिति ॥ स एवं शिष्यैश्चोदित आचार्यो ब्रूयात्तान् प्रत्येवं वदेत्–अस्य देहस्य जरया वयोहान्या एतद्यथोक्तमन्तराकाशाख्यं ब्रह्म न जीर्यति देहवन्न विक्रियत इत्यर्थः। तथास्य देहस्य वधेन शस्त्रादिघातेनैतन(द)न्तराकाशाख्यं ब्रह्म न हन्यते। यथा भौतिकमाकाशं घटशरावादिदोषैर्न संबध्यते तथा ततोऽपि सूक्ष्मतरं निर्गुणं ब्रह्म देहेन्द्रियादिदोषैर्न संबध्यत इत्यर्थः। यथा च देहेन्द्रियादिदोषैर्ब्रह्म न संबध्यते तथेहैवोपरिष्टादिन्द्रविरोचनाख्यायिकायां वक्ष्यत इति नात्र प्रपञ्च्यते।

किञ्चैतदन्तराकाशाख्यं वस्तु सत्यमवितथं ब्रह्मपुरं ब्रह्मैव पुरं ब्रह्मपुरं सर्वजगदधिष्ठानत्वात् शरीराख्यं तु ब्रह्मपुरं ब्रह्मोपलक्षणार्थत्वाद्ब्रह्मपुरम्, अनृतत्वात्तथा च प्रागभिहितं **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'** [छा. उप. ६-१-४,५,६] इति। अतोऽस्मिन् दहरपुण्डरीकोपलक्षिते वास्तव्ये सर्वव्यवहारास्पदे ब्रह्मपुरे सर्वे कामा भवद्भिः प्रार्थ्यमानाः पदार्थाः समाहिताः। अतस्तत्प्राप्त्युपायमेव हे शिष्या यूयमनुतिष्ठत बाह्यकामतृष्णां त्यजतेत्यर्थः।

किञ्च भवतामेष आत्मस्वरूपमस्यात्मनो लक्षणं कथमामि। शृणुत। अपहतपाप्मा अपहतः पाप्मा धर्माधर्माख्यो यस्यासावपहतपाप्मा धर्मस्यापि सांसारिकदुःखहेतुत्वात्पापरूपत्वम्। तथा विरजः विगता रजा यस्मात्स विरजस्तथा विमृत्युर्विगतो मृत्युर्यस्मात्स विमृत्युः। यद्यपि नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत इति जरामृत्युसंबन्धोऽस्य नास्तीत्युक्तं तथापि देहसंबन्धिभ्यां जरामृत्युभ्यां संबन्धो मा भूत्। प्रकारान्तरेणास्य ताभ्यां संबन्धः किं न स्यादिति कस्यचिदाशंका जायते तन्निवृत्त्यर्थं पुनरुच्यत इति पुनरुक्तिशेषः। तथापि विशोकः विगतः शोक इष्टवियोगादिजनितो मानसः संतापो यस्मात्स तथोक्तस्तथा विजिव(घि)त्सो विगता जिव(घि)त्साशनेच्छा यस्मात्स तथोक्तः। तथापिपासः न विद्यते पिपासा पानेच्छा यस्य स तथोक्तस्तथा यद्यप्य[प]हतपाप्मत्वेन धर्माधर्मयोः प्रतिषेधकारणाभावात्कार्याणां जरादीनामपि प्रतिषेधः सिद्ध्यति। तथापि धर्माधर्मकार्यजरादिदुःखव्यतिरेकेण स्वाभाविकजरादिदुःखसम्बन्धोऽस्य किं न स्यात् तथा

धर्मजनितानन्दव्यतिरेकेण स्वाभाविकानन्दात्मकत्वमात्मनस्तद्वदिति कस्यचिदाशंका जायेत तन्निवृत्यर्थं पृथग्जरादीनां प्रतिषेध इत्यदोषः । तथा सत्यकामः सत्या अवितथाः कामा यस्य स तथोक्तः । यथा संसारिणां कामा वितथाः न तथेश्वरस्य कामा वितथा इत्यर्थः । तथा सत्यसंकल्पः सत्या अवितथाः संकल्पाः कामहेतवो यस्य स तथोक्तसत्यकामत्वसंकल्पत्वे चेश्वरस्य शुद्धसत्त्वोपाधिकृतेन स्वाभाविके तस्य स्वतो निर्गुणत्वात् । अतो यथोक्तलक्षण एष आत्मा भवद्भिर्गुरुभ्यः शास्त्रतश्च विज्ञेय इत्यर्थः ॥

यथोक्तात्मविज्ञानाभावे को दोष इत्यत्राह—

यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति य जनपदं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति॥[५]तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयतेः ॥

यथेति ॥ यथोक्तात्मविज्ञानाभावे दोषं दृष्टान्तेन कथयामि शृणुत । हे शिष्याः यथा ह्येव यथैव चेह लोके प्रजा अन्यस्वामिनं मन्यमानास्तस्य स्वामिनो यथानुशासनमाज्ञामनतिक्रम्यान्वाविशन्ति अनुवर्तन्ते स्वामिनम् । किञ्च यं यमयतां प्रत्यन्तं यं जनपदं यं क्षेत्रभागं चाधिकामा अर्थिनो भवन्ति तं तमेवात्मबुद्ध्यनुरूपं प्रत्यन्तं जनपदं वा क्षेत्रभागं वोपजीवन्ति न स्वातन्त्र्यं प्रतिपद्यन्ते । किञ्च तत्तत्र थथेह लोके स्वाभ्यनुशासनवर्तिनां प्रजानां कर्मजितः सेवादिकर्मणा लब्धो लोकः जी(क्षी)यते तत्कर्मवशाद्विनश्यति । अस्वातन्त्र्य एको दृष्टान्तः कर्मलब्धलोकक्षयै चैको दृष्टान्त एवमेव तथैवामुत्र परलोके पुण्यजितोऽग्निहोत्रादिपुण्यकर्मलब्धो लोकः पराधीनो भोगः क्षीयन्ते (ते ?) ॥

यथोक्तपराधीनभोगक्षयलक्षणस्य दोषस्य विषयं दर्शयति—

तद्य इहाऽऽत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳस्तेषाꣳसर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥

तद्य इति ॥ तत्तत्रेहास्मिन् लोके ये ज्ञानकर्मणोरधिगता योग्याः सन्तोऽप्यात्मानं स्वं यथोक्तलक्षणं शास्त्राचार्योपदिष्टमेतांश्च यथोक्तान् सत्यान्(न)वितथां संकल्पान् तत्कार्यांश्च कामाननुविद्य शास्त्राचार्योपदेशमन्वज्ञात्वा व्रजन्ति देहादस्मात्प्रयान्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारोऽस्वतन्त्रैव भवति ॥

इत्यात्मविज्ञानाभावे दोषं दर्शयित्वेदानीं तद्विज्ञाने गुणमाह—

अथ ह इहऽऽत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳस्तेषाꣳसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ [६]॥

इत्यष्टमाध्यायस्य प्रथमः खण्ड ॥

अथेति ॥ अथ पुनरिहास्मिन् लोके ये ज्ञानकर्मणोरधिकृता योग्यः सन्त आत्मानं स्वं यथोक्तलक्षणं शास्त्राचार्योपदिष्टमेतांश्च यथोक्तान् सत्यानवितथान् संकल्पान् तत्कार्यान् कामांश्चानुविद्य शास्त्राचार्योपदेशमनुविज्ञाय व्रजन्त्यस्माद्देहात्प्रयान्ति तेषां सर्वेषु लोकेषु स्वतन्त्रैव भवति ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने अष्टमाध्यायस्य प्रथमः खण्ड ॥

कथं ब्रह्मात्मविदः सर्वेषु लोकेषु कामचार इत्यत्राह—

अथ[१] यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते ॥[१] अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन संपन्नो महीयेत ॥[२] अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥[३] अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन संपन्नो महीयते ॥[४] अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन संपन्नो महीयते ॥ [५] अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते ॥ [६] अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते ॥ [७] अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादितलोकेन संपन्नो महीयते ॥ [८] अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते ॥ [९] यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेय समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥[१०]॥

॥ इति अष्टमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥

---

[१] स-सुपा.

अथ यदीति ॥ यो वक्ष्यमाणब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्नो यथोक्तलक्षणमात्मानं हृदि साक्षात्कृतवान् । स यदि पितृलोककाम; पितरो जनयितारस्त एव लोका(:) सुखहेतुत्वेन भोग्यत्वात् लोका इत्युच्यन्ते । तेषु कामो यस्य स तथोक्तः पितृसम्बन्धकाम इत्यर्थः । अस्य पितृलोककामस्यात्मविदः संकल्पमात्रादेव पितरः समुत्तिष्ठन्ति ससंबन्धं प्रतिपद्यन्ते विशुद्धसत्त्वतया सत्यसंकल्पत्वात्तेन कामितेन पितृलोकेन पितृगत्वेन भोगेन संपन्नः समृद्धः सन्महीयते महीमानं पूज्यत्वं प्राप्नोति ।

अथ पुनः यदि मातृलोककामो भवमि मातरो जनयित्र्योऽतीताः सुखहेतुत्वेन भोग्यत्वाल्लोका इत्युच्यन्ते तेषु कामो यस्य स तथोक्तः, अस्य संकल्पादेव मातरः समुत्तिष्ठन्ति आत्मसंबन्धितामापद्यन्ते सत्यसंकल्पत्वात् तेनाभीष्टेन मातृलोकेन मातृगतेन भोगेन संपन्नो महीयते । एवमन्यदपि व्याख्येयम् ।

यं यमन्तं प्रदेशमभिकामो भवति यं च कामं यथोक्तं व्यतिरिक्तं कामयते स सर्वोऽप्यस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नः समृद्धः सन्महीयते ॥

॥ इति **सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने अष्टमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः** ॥

साधकानां यथोक्तात्मज्ञानसाधनानुष्ठानं प्रत्युत्साहं जनयति—

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाꣳसत्यानाꣳ सतामनृतमपिधानम् ॥

त इम इति ॥ कष्टमिदमन्याय्यं च वर्तते यत्स्वात्मस्थतयाशंक्य प्राप्ता अपि त इमे यथोक्ताः सत्याः कामा अनृतापिधाना बाह्यविषयेषु स्रक्चन्दनवनितादिषु तृष्णा मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वादनृतशब्देनोच्यते । तन्निमित्तं पिधानं तिरोधानमप्राप्तिर्येषां ते तथोक्ता अनृतापिधानास्तस्यैव विवरणं तेषामात्मस्थानां सत्यानामवितथानां सतां स्वाश्रयाणामेव सतामनृतं बाह्यविषयतृष्णापिधानमप्राप्तिनिमित्तम् ॥

कथमनृतापिधानात्तेषामलभत इत्यत्राह—

यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥ [१] ये[1] चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानाः ॥

यो य इति ॥ हि यस्मादस्य जन्तोर्यो यः पुत्रो भ्रातावेष्टयितोऽस्माल्लोकात्प्रैति मियत इत्यर्थः । तमिष्टं पुत्रं भ्रातरं वास्य हृदया *[2]............।

---

१. अथ ये-मुपा.

२ * अतः परं पत्रद्वयमलिखितमतश्च तुटितः पाठः ।

तद्यथाऽपि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुः। एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः॥ [२] स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तँ हृद्यमिति तस्माद्धृदयम्। अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेति॥ [३] अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच। एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति। तस्य ह वा ब्रह्मणो नाम सत्यमिति॥ [४] तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि स–ती–यमिति। तद्यत्सत्तदमृतम्। अथ यत् ति तन्मर्त्यम्। अथ यद् यं तेनोभे यच्छति। यदनेनोभे यच्छति तस्मात् यम्। अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेति॥ [५][1]

॥ इति तृतीयः खण्डः ॥

तानि ह वेति ॥ नि ब्रह्मणो[2] नामाक्षराणि त्रीणि सतीयमिति। सकारस्तकारो यमिति च। ईकारस्तकारे उच्चारणार्थोऽनुसंबन्धः ह्रस्वेनेकारेण पुनः प्रतिनिर्देशात्तत्तेषां मध्ये यत्सत् सकारस्तदमृतं सद्ब्रह्मामृतवाचकत्वात्। अथ पुनर्यत्ति तकारस्तन्मर्त्यं विकाररूपत्वात्। अथ पुनर्यद्यमित्यक्षरं तेनाक्षरेणोभे अमृतमर्त्याख्येऽक्षरे यच्छति यमयति वशीकरोति आत्मना इत्यर्थः। यद्यस्मादनेन यमित्यक्षरेण पूर्वे उभे अक्षरे यंम्येते इवालक्ष्येते। तस्माद्यं यदा ब्रह्मनाम(मा?)क्षरस्याप्यमृतत्वादिधर्मवत्वं तदा किमु वक्तव्यं नामवतो ब्रह्मण इति भवति। तदुपासनविधिस्तुतिः, अहरहर्वा प्रतिदिनमेवैवंविद् हृदि यथोक्तनामवतो वेदिता स्वर्गं लोकहार्दं ब्रह्मसुखस्वरूपत्वात् एति प्रतिपद्यते॥

॥ इत्यष्टमाध्याये दीपिकायां तृतीयः खण्डः ॥

ब्रह्मचर्यसाधनसंबन्धार्थं यथोक्तलक्षणस्य संप्रसादस्यात्मन स्वरूपमुक्तैरनुक्तैश्च गुणैः पुनस्तोतुमारभते—

---

[1] 'तद्यथाऽपि' इति आरभ्य 'लोकमेति' इति मूलपाठः मुद्रितपुस्तकात् पूरितः।

[2] 'नि ब्रह्मणो' इति त्रुटितपाठः आरभ्यते।

अथ आत्मा[1] स सेतुवि(र्वि)धृतिरेषां लोकानामसंभेदाय ॥

अथेति ॥ अथाधिकृतसंप्रसादस्य स्तोत्रं यदुक्तलक्षण आत्मा संप्रसादः । स सेतुः सेतुरिव सेतुः विधृतिर्विधरणः यस्मात्तेन सर्वं जगद्वर्णाश्रमादिक्रियाकारणफलादिनियमैः कर्त्रनुरूपं विदधता विधृतं तस्माद्विधृतिः । किमर्थं सेतुरित्येतदुक्तम्–एषां भूरादीनां लोकानां कर्तृकर्मफलाश्रयाणामसंभेदाय अविदारणाय ॥

पुनः किं विशिष्ट इत्यत्राह–

नैतँ सेतुमहोरात्रे तरतो न जरो(रा) [न] मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम् । सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥ [१] तस्माद्वा एतꣳसेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एतꣳसेतुं तीर्त्वाऽपि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥ [२]

नैतमिति ॥ एतं यथोक्तं सेतुमात्मानमहोरात्रे सर्वस्योत्पत्तिमतो जगतः परिच्छेदके अपि न तरतः परिच्छेदके न भवतः । यथा संसारिणः कालेनाहोरात्रादिरूपेण परिच्छिद्यन्ते न तथायं परिच्छिद्यत इत्यर्थः । तथा च श्रूयते–'**यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते**' [बृ. उप. ४–४–१६] इति । अत एवैतं जरावयोहानिरपि न तरति न, प्राप्नोति । तथा मृत्युर्विनाशोऽपि न तरति न प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा शोको मनः-संतापोऽपि न प्राप्नोति । यथा सुकृतं धर्मोऽपि न तरति । तथा दुष्कृतमधर्मोऽपि न तरति । अत्र तरणशब्देन प्राप्तिरेवाभिप्रेता, नातिक्रमणम्, आत्मकार्येणाहोरात्रादिना कारणातिक्रमणासंभवात् ।

किञ्च सर्वे उक्ता अनुक्ताश्च पाप्मानोऽतोऽस्मात्सेतोनि(र्नि)वर्तन्त एतं न स्पृशन्तीत्यर्थः । हि यस्मात्कारणादेष यथोक्तो ब्रह्मलोको ब्रह्मैव लोकोऽपहतपाप्मा तस्माद्वै तस्मादेवैतं यथोक्तं सेतुं तीर्त्वा प्राप्याऽन्धः सन् देहसंबन्धेनाऽन्धोऽपि सन् देहवियोगे तं सेतुं प्राप्यानन्धो भवति । तथा देहसंबन्धवशेन यथोक्तमात्मानं सेतुमप्राप्य विद्धः सन् देहवियोगे पश्चात्तमेव सेतुं प्राप्याविद्धो भवति । तथा देहसंबन्धेनैव यथोक्तमात्मानं सेतुमप्राप्या(प्यो)पतापी जरादिसंतापवान् देहवियोगे पुनस्तं सेतुं प्राप्यानुपतापी भवति ।

---

[1] य आत्मा–सुपा.

किं च यस्माद्यथोक्तस्य सेतोरहोरात्रादि कालपरिच्छेदो नास्ति । तस्माद्वै तस्मादेवैतं सेतुं तीर्त्वा प्राप्य नक्तमपि तमोरूपा रात्रिरप्यहरेव अहरिव अहर्विज्ञप्त्यात्मज्योतिस्वरूपमेवाभिनिष्पद्यते यथोक्तात्मविदुषः संपद्यत इत्यर्थः । हि यस्मात्कारणादेष यथोक्तो ब्रह्मलोकः सकृद्विभातः सदाविभातः स्वेन रूपेण सदैवेकरूपः ॥

अस्त्येवं किं तत इत्यत्राह–

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳसर्वेषु लोकेषु कामाचारो भवति ॥ [३]॥

॥ इति चतुर्थः खण्डः ॥

तदिति ॥ तत्तत्र ये ब्रह्मजिज्ञासव एतं पूर्वोक्तं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येण स्त्रीविषयसंपर्कजातादितृष्णापरित्यागेनानुविन्दन्ति शास्त्राचार्योपदेशमनु स्वात्मसंवेद्यतामापादयन्ति तेषामेव ब्रह्मचर्यसाधनवतां ब्रह्मविदामेवैष यथोक्तो ब्रह्मलोको ब्रह्मैव लोकः, नान्येषां ब्रह्मविदामपीत्यर्थः । किं च तेषां ब्रह्मचर्यादिसाधनवतां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । तस्माद्ब्रह्मचर्यमेवोत्कृष्टं ब्रह्मज्ञानसाधनमित्यभिप्रायः ॥

॥ इति दीपिकायां चतुर्थः खण्डः ॥

एवमात्मानं सेतुत्वादिगुणैः प्रशस्येदानीं तद्विज्ञानसहकारिसाधनं ब्रह्मचर्याख्यं विधातुं यज्ञादिमभिस्तौति—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते । अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् । ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मानमनुविन्दते ॥ [१] अथ यत् सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवाऽऽत्मानमनुविद्य मनुते ॥ [२] अथ यदनाशकायनमित्याक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् ॥

अथ यदिति ॥ अथ पुनर्यज्ञ इति लोके यदाचक्षते उत्कृष्टपुरुषार्थसाधनं वर्णयन्ति विशिष्टाः । तद् ब्रह्मचर्यमेव यज्ञस्य यत्फलं तद् ब्रह्मचर्यवान् प्राप्नोति । अतो

यज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यमेवेति प्रतिपत्तव्य इत्यर्थः । तस्यैव प्रतिपादनम् । हि यस्माद्यो ज्ञाता विद्वान् स तं ब्रह्मलोकं यज्ञस्यापिं पारंपर्येण फलं भूतं ब्रह्मचर्येणैव स्त्रियादिविषयसंसर्कतृष्णाराहित्येनैव विन्दते लभते । तस्माद्यज्ञो ब्रह्मचर्यमेवेत्युक्तिरुपपन्नेत्यर्थः । अथ पुनरिष्टमिति लोके यदाचक्षते शिष्टास्तद्ब्रह्मचर्यमेव । कथम्–हि यस्माद् ब्रह्मचर्यणैव साधनेनेश्वरमिष्ट्वा पूजयित्वा यद्वैषणामात्मविषयां कृत्वात्मानमनुविन्दते तस्मादिष्टमपि ब्रह्मचर्यमेव । कथम्–हि यस्माद्ब्रह्मचर्येणैव साधनेन सत आत्मनोऽन्यस्मात्त्राणं रक्षणं विन्दते लभते । विद्वान् अतः सत्रायणशब्दवाच्यमपि ब्रह्मचर्यमेव । अथ पुनर्लोके मौनमिति यदाचक्षते शिष्टास्तदपि ब्रह्मचर्यमेव । कथम्–हि यस्माद्ब्रह्मचर्येणैव साधनेन युक्तः सन्नात्मानं शास्त्राचार्याभ्यामनुविद्य विज्ञाय पश्चान्मनुते ध्यायति विद्वान् । अतो मौनशब्दवाच्यमपि ब्रह्मचर्यमेव । अथ पुनर्लोके शिष्टा अनाशकायनमिति यदाचक्षते तदपि ब्रह्मचर्यमेव । कथम्–हि यस्माद्यमात्मानं ब्रह्मचर्येण साधनेन युक्तः सन्ननुविन्दते, एष ब्रह्मचर्यादिसाधनवतो विदुषः सोऽयमात्मा न नश्यति तस्मादनाशको(का)यनशब्दवाच्यमपि ब्रह्मचर्यमेव । अथ पुनर्लोके शिष्टा अरण्यायनमिति यदाचक्षते तदपि ब्रह्मचर्यमेव । अरण्यशब्दवाच्ययोरर्णवयोः सरसोर्वा ब्रह्मचर्येणैव प्राप्तेररण्यायनमपि ब्रह्मचर्यमेवेत्युच्यते । यज्ञफललाभाद्य एषणादिष्टं सतस्त्राणात् सत्रायणं मननान्मौनमविनाशादनाशकायनमरण्ययोर्गमनादरण्यायनमिति एतैर्हेतुभिः पुरुषार्थसाधनैर्ब्रह्मचर्यस्य स्तुतत्वाद्ब्रह्मचर्यमुत्कृष्टं ब्रह्मज्ञानसहकारिसाधनमित्यवगम्यते । अतो ब्रह्मविदापि यत्नतो ब्रह्मचर्यं रक्षणीयमित्यर्थः ।

अस्त्येवं किं तत इत्यत्राह—

अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि । तदैरं[1]मदीयंꣳसरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितꣳहिरण्मयम् ॥ [३] तद्य एतावरं[2] च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ [४]॥

॥ इति अष्टमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥

अरश्चेति ॥ तत्र ब्रह्मलोक इतोऽस्माल्लोकादारभ्य गणनायां तृतीयस्यां दिवि भुवमन्तरिक्षं चापेक्ष्य तृतीया द्यौस्तस्यामरश्चाराख्यो वै प्रसिद्धोऽण्यश्चार्णवौ समुद्रौ

---

१ तदरश्च–मुपा

२ एवैतावरम्–मुपा

यद्वा समुद्रोपमे सरसो विद्येते । किं च तत्तत्रैवैरं इरान्नं तन्मययैरोमण्डस्तेन पूर्णमैरं मदीयं मन्दकरं तत्सेविनां हर्षोत्पादकमित्यर्थः सरो विद्यते । किं च तत्तत्रैवाश्वत्थो वृक्षः सोमसवनः सोमसवनाख्यो यद्वा सोमोऽमृतं तन्निस्रवः सोमसवनोऽमृतप्रस्रव इत्यर्थः ।

किं च तत्तत्रैव ब्रह्मलोके ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्यापराजिता ब्रह्मचर्यवद्भ्योऽन्यैर्ब्रह्मचर्यसाधनरहितैर्न जीयत इत्यपराजिताख्या पूः पुरी विद्यते । किं च तत्रैव प्रभुविमितं प्रभुणा ब्रह्मणा विशेषेण मितं निर्मितं हिरण्मयं सौवर्णमण्डपमप्यस्तीति शेषः । तत्तत्र ब्रह्मलोक एतौ यथोक्तावरं च ण्यं चार्णवौ ये ब्रह्मविदो ब्रह्मचर्येण साधनेनानुविन्दति(न्ति) तेषामेवैष यथोक्तो ब्रह्मलोको नान्येषां ब्रह्मचर्यरहितानां ब्रा(बा)ह्यविषयासक्तचित्तानामित्यर्थः ।

केचिदत्र यज्ञादिभिरुत्कृष्टस्यैव स्तोतव्यत्वान्नास्त्रियादिविषयतृष्णनिवृत्तिमात्रं स्तूयते । किं तु ज्ञानस्य साक्षान्मोक्षसाधनत्वात्तदेवोत्कृष्टमिति यज्ञादिभिः स्तूयत इति वर्णयन्ति । तदनुपपन्नम् । स्त्रियादिबाह्यविषयतृष्णापहृतचित्तानां प्रत्यगात्मनि विवेकज्ञानानुपपत्तेः । तथा च श्रूयते–‘**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् परां पश्यति नान्तरात्मन्**’ [कठ उप. ४–१] इत्यादि श्रुतिषु । अतः स्त्रियादिविषयतृष्णानिवृत्तेरुत्कृष्टसाधनत्वात्तद्विध्यर्थं सैव स्तूयत इति युक्तमुत्पश्यामः ।

ननु यज्ञादिभिर्ब्रह्मचर्यस्य स्तुतत्वाद्यज्ञादिनामपि पुरुषार्थसाधनत्वमवगम्यत इति चेत् बाढम्, तथापीह ब्रह्मलोकं प्रति यज्ञादीनां साधनविवक्षया यज्ञादिभिर्ब्रह्मचर्यं न स्तूयते ।

किं तर्हि तेषां कर्मकाण्डप्रसिद्धमेव पुरुषार्थसाधनत्वमपेक्ष्य ब्रह्मचर्यं स्तूयते । ब्रह्मलोके ये समुद्रसरोवृक्षपुरीहिरण्यादयः संकल्पकाश्च पित्रादयो भोगाः श्रुतास्ते किं यथेहलोक आप्याः पार्थिवाश्च दृश्यन्ते तादृशा एव विवक्षिताः । नेति ब्रूमः–किं तु मानसप्रत्ययमात्रा इति ब्रूमः । यदि ते पार्थिवा आप्याश्च स्थूला भवेयुः तर्हि तेषां हृदयाकाशे समाधानं न स्यात् । ‘**मनोमयानि ब्रह्मलोके शरीरादीनि**’ इति पुराणवाक्यमपि विरुद्ध्येत । ‘**अशोकम्** [बृ. उप. ५–१०–१; मै. उप. ६–२३; ७–३] इत्याद्याः श्रुतयोऽपि विरुध्येरन् । ननु **समुद्राः सरितः सरांसि वाप्यः कूपा वेदा यज्ञा मंत्रादयश्च । मूर्तिमन्तो ब्रह्माणमुपतिष्ठन्ते**’ इति पुराणवाक्यमपि तेषां मानसत्वे विरुध्यते इति चेत्, न । मूर्तिमतां समुद्रादीनां ब्रह्मलोकगमनानुपपत्तेः ।

तस्मात्तत्सिद्ध्यर्थं प्रसिद्धमूर्तिव्यतिरेकेण मूर्त्यन्तरं समुद्रादिभिरुपात्तं ब्रह्मलोकगन्तृकल्पनीयम् । उभयत्र समानायां च कल्पनायां यथा प्रसिद्धा एव मानस्यो मूर्तयो युक्ताः समुद्रादीनां कल्पयितुं न स्थूलाः हृदि समाधानानुपपत्तेः मनोमयवाक्यविरोधाच्च । दृश्यन्ते मानसप्रत्ययप्रभवा मूर्तयः स्वप्ने अत्यल्पमिदमुच्यते जाग्रद्विषया अपि मानसप्रत्ययप्रभवा एव सदीक्षणप्रभवतेजोबन्नमयत्वाज्जाग्रद्विषयाणां समक्लृप्तां द्यावापृथिवी इत्यत्र लोकादीनामपि संकल्पमूलत्वमुक्तम् ।

ननु तर्हि प्रत्ययमात्रप्रभवत्वे लोकादीनां स्वप्नदृष्टवदनृतत्वं स्यादिति चेत्, सत्यमेवं स्यात् । यदि स्वप्नदृष्टस्यापि ततोऽनृतत्वं स्यात्तस्याप्यनृतत्वं जाग्रद्बाधापेक्षं न स्वतस्तथा जाग्रद्विषयाणामपि सद्बोधोपेक्षमनृतत्वं, न स्वतः विशेषाकारमात्रं तु सर्वेषां मिथ्याप्रत्ययनिमित्तमिति **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'** [छा. उप. ६-१-४, ५, ६] इत्यत्र अभिहितम् । स्वतस्तु सन्मात्ररूपतया सर्वं सत्यमेवेति न कश्चिद्विरोधः । तस्मान्मानसप्रत्ययप्रभवा एव ब्रह्मलोके समुद्रादयः संकल्पजाश्च पित्रादयः कामा इति सिद्धम् ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
अष्टमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥

ये ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्ना बाह्यविषयेष्वासक्तिं परित्यज्य हृदयपुण्डरीके यथोक्तगुणविशिष्टं ब्रह्मोपासते तेषां मूर्धन्यया नाड्या गतिं वक्तुमारभते–

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येति ॥

अथेति ॥ अथेदानीं हृदयपुण्डरीके यथोक्तब्रह्मोपासकानां मूर्धन्यया नाड्या गतिरुच्यत इत्यर्थः । याः एता वक्ष्यमाणा हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मोपासनस्थानस्य संबन्धिन्यो नाड्यो यथादित्यमण्डलात्सर्वतो रश्मयो विनिःसृतास्तद्वन्मांसपिण्डाद्धृदयात्सर्वतो नाड्यो विनिःसृताः । नाड्यः पिङ्गलस्य पिङ्गलवर्णनाम्नः सूक्ष्मेण रसेन पूर्णास्तदाकारा एव तिष्ठन्ति वर्तन्त इत्यर्थः । तथा शुक्लस्य शुक्लवर्णनाम्नः सूक्ष्मेण रसेन पूर्णास्तथा नीलस्य पीतस्य लोहितस्य पूर्णा इति सर्वत्राध्याहारः । सौर्येण तेजसा पित्ताख्येन वाताभिनिर्वृत्तेन कफेनाल्पेन संपर्कात्पिङ्गलं भवति । सौरं तेजं पित्ताख्यं तदेव च वातभूयस्त्वान्नीलं भवति । तदेव च कफभूयस्त्वाच्छुक्लं भवति । कफेन समतायां पीतं भवति । शोणितबाहुल्येन लोहितं भवति । यद्वा वैद्यशास्त्राद्वर्णविशेषा अवगन्तव्याः ।

कथमाशंक्य श्रुतिः स्वयमेवादित्यसंबन्धः तदीयस्यैव तेजसो नाडीष्वनुगतस्यैते वर्णविशेषा इत्याह–

असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ [१] ॥

असाविति ॥ असौ वै अयमेव परिदृश्यमान आदित्यः पिङ्गलवर्णविशेषः सौर्येण तेजसा पित्ताख्येन वाताभिनिर्वृत्तेनाल्पेन कफेन संपर्कादुत्पन्नत्वादादित्य एव पिङ्गल इत्युच्यते । तथा एष आदित्य एव शुक्लो वर्णः एष आदित्यः एव नील एष एवादित्यः पीतः पीतवर्ण एष एवादित्यो लोहितो लोहितवर्णः सौर्यतेजसंपर्ककृतादेषां वर्णानामादित्यात्मकत्वं वेदितव्यम् ॥

कथमादित्यस्य नाडीभिः संबन्ध इत्यत्राह–

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ताः । आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ [२] ॥

तद्यथेति ॥ तत्तत्र यथा लोके महान् विस्तीर्णश्चासौ पंथा च महापथ आततौ व्याप्तः । इमं सन्निहितं चामुं च विप्रकृष्टं च देशत एतावुभौ ग्रामौ गच्छति प्राप्नोति । एवमेव तथैवेता आदित्यस्य रश्मय इमं पुरुषं चामुं चादित्यमण्डलं चैतावुभौ लोकौ लोक्यत इति लोकौ गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । कथं या रश्मय अमुष्मादादित्यादादित्यमण्डलात्प्रतीयन्ते संतता भवन्ति ता अध्यात्ममासु पिङ्गलादिवर्णास(सु) यथोक्तासु नाडीषु सृप्ता गताः प्रविष्टा इत्यर्थः । या रश्मयो आभ्यो यथोक्ताभ्यो नाडीभ्यः प्रतीयन्ते प्रवृत्ताः संतानभूताः सन्त्यस्ते रश्मयोऽमुष्मिन्नादित्यमण्डले सृप्ताः प्रविष्टा भवन्ति । रश्मीनामुभयलिङ्गत्वात् स्त्रीलिङ्गनिर्दिष्टानामेव पुनः पुलिङ्गेन तच्छब्देन प्रतिनिर्देशः रश्मिद्वारादित्यस्य हृदयनाडीसंबन्ध इत्यर्थः ।

अस्त्येवं किं तत इत्यत्राह–

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं विजानात्याशु(सु) तदा नाडीषु सृप्तो भवति । तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा संपन्नो भवति ॥ [३] अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासिमां जानासि मामिति । स यावदस्माच्छरीरादुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥[४] अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्राम-

त्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिवाऽदोद्वा[१]मीयते स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति ॥

तद्यत्रेति ।। तत्रैवं सति यत्र यस्मिन् काले जीवः समस्त उपसंहृतसर्वकरणवृत्तिः संपन्ने तत्स्वपनं सुप्तो भवति । स्वापस्य द्विप्रकारत्वादेतदिति विशेषणम् । अत एव संप्रसन्नः बाह्यविषयसंपर्कजनितकालुष्याभावात्सम्यक् प्रसन्नो भवति । अत एव स्वप्नं विषयाकारभासं मानसं स्वप्नप्रत्ययं न विजानाति नानुभवति । यदैव सुप्तो भवति तदैवासु यथोक्तासु सौरतेजःपूर्णासु नाडीषु सृप्तः प्रविष्टः आभिर्नाडीभिर्द्वारभूताभिर्हृदयाकाशं गतो भवतीत्यर्थः । नाडीष्विति सप्तमी तृतीया परिणम्येते तत्संपत्तेरन्यत्र स्वप्नदर्शनं नास्तीति सामर्थ्यात् तं सता संपन्नं पुरुषं कश्चन कश्चिदपि धर्माधर्मरूपः पाप्मा न स्पृशति । आत्मनः स्वरूपावस्थात् देहेन्द्रियविशिष्टमेव धर्माधर्मरूपः पाप्मा सुखदुःखरूपकार्यप्रदानेन स्पृशति न तु देहेन्द्रियसंबन्धरहितं सत्संपन्नं स्वरूपावस्थं तदा तस्याविषयत्वात् । अन्यो ह्यस्य विषयो भवति न ह्यस्य संपत्संपन्नस्य स्वरूपावस्थस् केनचित्कुतश्चिदप्यन्यत्वं संभवति । यदैवं सुप्तस्तदा हि यस्मादसौ तेजसा सौ । नाड्यंतर्गतेन संपन्नः सर्वतो व्याप्तो भवति । तस्मादयं सर्वकरणनिरोधात्स्वप्नं न विजाना युक्तमित्यर्थः । अथ पुनर्यत्र यस्मिन् काले पुरुषो बलिमानम् अनलभावं रोगादिर्नि देहस्य कृशीभावमेतं नयनं नीतः प्रापितो भवति यदा मुमूर्षुः सन्वर्तत इत्यर्थः । तदा तं मुमूर्षुमभितः सर्वतो वेष्टयित्वा आसीनाः स्थिता ज्ञातय एवमाहुः–तव पितरं मां जानासि, तव पुत्रं मां जानासीति । स मुमूर्षुर्यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो निर्गतो भवति तावत्पितरं पुत्रं वा जानाति । अथ पुनः पुरुषो यत्र यस्मिन् कालेऽस्माच्छरीरात्, एतदिति क्रियाविशेषणं, उत्क्रामति, अथ पुनस्तदेतैरेव यथोक्तैः रश्मिभिरूर्ध्वसन्नाक्रमते । यथा कर्मजितं लोकं प्रत्यविद्वान् तथा विद्वान् ब्रह्मलोकं प्रत्येतीत्यर्थः । स यथोक्तसाधनसंपन्नो विद्वान् ओमित्योंकारेणात्मानं ध्यायन् यथापूर्वं वा अद अवोद्वा विद्वांश्चेदूर्ध्वम् अविद्वांश्चेत्तिर्यगित्यर्थः, मीयते प्रमीयते गच्छतीत्यर्थः । विद्वानुत्क्रमेण यावता कालेन मनः क्षिप्येत मनसः क्षेपो भवेत् तावत्तावता कालेनादित्यं गच्छति प्राप्नोति क्षिप्रमादित्यं गच्छतीत्यभिप्रायः ॥

किमर्थं विद्वानादित्यं प्राप्नोतीत्यत्राह—

एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥[५]

---

१. ०ओमिति वा होद्वा–मुपा.

एतद्वा इति ॥ एतद्वै खलु एतदेव प्रसिद्धं लोकद्वारं ब्रह्मलोकस्य द्वारम् । य आदित्यः आदित्येन द्वारभूतेन ब्रह्मलोकं विद्वान् गच्छतीत्यर्थः । अतो विदुषां प्रपदनं प्रपद्यन्ते ब्रह्मलोकमनेनादित्यात्मकेन द्वारेणेति प्रपदनम् । किं चायमेवादित्योऽविदुषां निरोधो भवति सौरेण तेजसा देह एव निरुद्धाः सन्तो मूर्धन्यजा नाड्या ब्रह्मविद्यारहिता मोत्क्रामन्त एवेत्यर्थः ॥

यथोक्तेऽर्थे मन्त्रोऽप्यस्तीत्याह—

तदेषः श्लोकः—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
योर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ [६] ॥

॥ इत्यष्टमाध्याये षष्ठः खण्डः ॥

तदेश(षः) श्लोक इति ॥ तदेतस्मिन् यथोक्तेऽर्थे एष श्लोको मन्त्रोऽप्यस्ति—शतं चैका च एकोत्तरं शतं हृदयस्य मांसपिण्डस्य संबन्धिन्यो नाड्यः प्रधानभूता भवन्ति । आनन्त्यान्नाडीनां तासां नाडीनां मध्ये एका नाडी मूर्धानमभिन्ननिःसृता निर्गता ता या नाड्या हृदि यथोक्तब्रह्मविदूर्ध्वमायन् गच्छन्नमृतत्वममृतभावमेति प्राप्नोति, अन्यां नाड्यो विष्वङ् नानागतयस्तिर्यग् विसर्पिण्यः संसारगमनद्वारभूताः सत्यः उत्क्रमण एवोत्क्रान्त्यर्थमेव भवन्ति नामृतत्त्वायेत्यर्थः । द्विरुक्तिः प्रकरणसमाप्तिद्योतनार्था ॥

दहराकाशस्य ब्रह्मत्वं प्रथमाध्यायस्य तृतीये पादे पञ्चमाधिकरणे निर्णीतम् । तद्यथा—

दहरः को वियज्जीव(वो) ब्रह्म वाकाशशब्दतः ।
वियत्स्यादथवाल्पत्वश्रुतेर्जीवो भविष्यति ॥
बाह्याकाशोपमानेन द्युभूम्यादिसमाहितः ।
आत्मापहतपाप्मत्वात्सेतुत्वाच्च परमेश्वरः ॥[1]

छान्दोग्यस्याष्टमाध्याये श्रूयते—**अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः**' [छा. उप. ८-१-१] इति ब्रह्मण उपलब्धिस्थानन शरीरें ब्रह्मपुरम् । तत्राल्पं हृदयपुण्डरीकं वेश्मवदस्ति तिष्ठते । तस्मिन्वेश्मन्यल्प आकाशो वर्तत इत्यर्थः । तस्याकाशस्य त्रेधा संदेहे सति यदिति तावत्प्राप्तं आकाशशब्दस्य व्यनिरूढत्वात् यद्वा दहरशब्देनात्मत्वोक्तः परिच्छिन्नो जीवो भविष्यति न तु

---

[1] १. ब्र. स. न्या. पृ. २२२

ब्रह्मेति प्राप्ते ब्रूमः-ब्रह्मैवाकाशशब्दवाच्यम् । कुतः । **'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश'** [छा. उप. ८-१-३] इति प्रसिद्धेन वियता उपमितत्वात् न हि वियतो वियत् उपमानं संभवति, नाप्यल्पपरिमाणो जीवो वियत्परिमाणेन उपमातुं शक्यः । लौकिकरूढिस्तु श्रौतरूढ्या परिहृता । किं च **'उभे अस्मिन् द्यावापृथवी अन्तरेव समाहिते'** [छा. उप. ८-१-३] इत्यादिना द्यावापृथिव्याद्यशेषजगदाधारत्वं दहराकाशस्य श्रूयते । तथा **'एष आत्मापहतपाप्मा'** [छा. उप. ८-४-५] इति जगन्मर्यादानामसांकर्यादायविधारकत्वं क्षणं सेतुत्वं च तस्मादेतेभ्यो हेतुभ्यः परमात्मा तदुपासनया ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य संकल्पसिद्ध्योदयश्चत्वारोऽर्थाः चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे चतुर्थाधिकरणे निर्णीताः । तद्यथा—

भोग्यसृष्टावस्ति बाह्यो हेतुसंकल्प एव वा ।
आशामोदकवैषम्या[द्]हेतुर्बाह्योऽस्ति लोकवत् ॥
संकल्पादेव पितर इति श्रुत्य(त्या)वधारणात् ।
संकल्प एव हेतुः स्याद्वैषम्यं चानुचिन्तनात् ॥[1]

पूर्वाधिकरणत्रयेण विदेहमुक्तौ विचारितायां ब्रह्मलोकलक्षणायामुक्तेरवशिष्टत्वात् तद्विचार आपादसमाप्तेः प्रवर्तते । तत्रार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकस्य भोगवस्तूनां सृष्टौ बाह्यो हेतुरपेक्षितः । न तु मानससंकल्पमात्रं तद्धेतुः । तथात्वे सत्याशामोदकमत्वेन पुष्कलभोगाभावप्रसङ्गादिति प्राप्ते ब्रूमः-**'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति'** [छा. उप. ८-२-१] इत्यादिना पितृमातृभ्रातृगंधमाल्यादिभोगसृष्टौ संकल्पसाधनत्वमभिधायैवकारेण बाह्यहेतुं निराचष्टे न च संकल्पकार्याणामाशामोदकसमानत्वं शंकनीयम्, उपार्जितमोदकसमानत्वस्यापि संकल्पयितुं शक्यत्वांत् संकल्पशब्देरुपासनाप्रसादेव(?) निरंकुशत्वात् । तस्मात् संकल्प एव भोग्यसृष्टौ हेतुः ।

पञ्चमाधिकरणमारचयति—

व्यवस्थितावैच्छिकौ वा भावाभावौ तयोर्यतः ।
विरुद्धौ तेन पुंभेदादाच्छ्न्यौ[2] **स्यातां व्यवस्थितौ ॥**
एकस्मिन्नपि पुंस्येतावैच्छिकौ कालभेदतः ।
अविरोधात्स्वप्नजाग्रद्भोगवद्भुज्यते[3] **द्विधा ॥**[4]

---

१. ब्र.सू.न्या. पृ. ८९६

२. ०दादुभौ-मुपा.

३. ०वद्युज्यते-मुपा.

४. ब्र. सू. न्या. पृ. ८९८

'मनसैतान् कामान् [पश्यन्] रमते य एते ब्रह्मलोके' [छा. उप-८-१२-५] इति मानसं भोगमुपपादयन्ती इति श्रुतिर्बाह्यदेहस्येन्द्रियस्याभावमाह । **'स एकधा भवति त्रिधा भवति'** [छा. उप. ७-२६-२] इति श्रुतिर्देहसद्भावं ब्रुवते । तावेतौ देहभावाभावौ एकस्मिन् पुरुषे विरुद्धौ तयोः पुरुषभेदेन व्यवस्थितिरिति प्राप्ते ब्रूमः—एकस्यापि पुरुषस्य कालभेदेन तौ व्यवस्थितौ । यदा देहमिच्छति तदा संकल्पेन देहं सृष्ट्वा तत्रावस्थितो जाग्रद्दशायामिव भोगान् भुंक्ते । यदा देहं नेच्छति तदा संकल्पेन तं देहं उपसंहृत्य स्वप्नदशायामिव मनसैव भोगान् भुंक्ते । तस्मादस्यैकस्यापि कापुरुषस्यैकिकौ देहभावाभावौ ।

षष्ठाधिकरणमारचयति--

निरात्मनोऽनेकदेहास्सात्मका वा निरात्मकाः ।
अभेदादात्ममनसोरेकस्मिन्नेव वर्तनात् ॥
एकस्मान्नवसो[1]न्यानि मनांसि स्युः प्रदीपवत् ।
आत्मभिस्तदवच्छिन्नैः सात्मका स्युस्त्रिधेत्यतः ॥[2]

'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव' [छा. उप. ७-२६-२] इति युगपदनेकशरीरस्वीकार ऐच्छिक आम्नायते । तत्रैको देहः सात्मकः इतरे निरात्मकाः आत्ममनसोः बहुभावस्याश्रुतत्वात् कल्पकाभावाच्चेति प्राप्ते ब्रूमः—अस्ति हि कल्पकं युगपदनेकदेहभोगानुपपत्तिरूपं भोगाय हि बहवो देहा निर्मु-(र्मि)ताः । न चैकेनो(नै)वात्मना मनसा च युगपद्बहुदेहानां भोगो दुष्चरः । तस्मादात्ममनसोर्बहुत्वं कल्पयितव्यम् । यद्यपि नात्मन उत्पाद्याः, तथापि एकेन मनसा संकल्प्य बहुषु मनस्सूत्पादितेषु तैर्मनोभिरवच्छिन्ना आत्मनो बहवस्स्युः । एतदेवाभिप्रेत्य **'स एकधा भवति त्रिधा भवति'** [छा. उप. ७-२६-२] इत्यादि श्रुतम् । तस्मात्सात्मकाः सर्वे देहाः ।

सप्तमाधिकरणमारचयति—

जाग्रत्स्रष्टृत्वमस्त्येषां योगिनामथ नास्ति वा ।
अस्ति स्वाराज्यमाप्नोतीत्युक्तैश्वर्यानवग्रहात् ॥
सृष्टावव्यकृतत्वेन स्रष्टृता नास्ति योगिनाम् ।
स्वाराज्यमीशो भोगाय ददौ[3] मुक्तिं च विद्यया ॥[4]

---

[1] ०स्मान्मसो०—मुपा.

[2] ब्र. सू. न्या. पृ. ९००

[3] ददे—मुपा.

[4] ब्र. सू. न्या. पृ. ९०१

ब्रह्मलोकप्राप्तानां उपासकानां यथा भोगयोग्यदेहेन्द्रियस्रष्टृत्वमस्ति । '**आप्नोति स्वाराज्यम्**' [तै. उप. १-६] इति श्रुत्या निरवग्रहैश्वर्यावगमात् , इति प्राप्ते ब्रूमः–वियदादिजगत्सृष्टिप्रतिपादकेषु करणेषु सर्वत्र परमात्मैव स्रष्टृत्वेनावगम्यते न क्वापि योगिनस्तथावगम्यते । अतो न तेषां जगत्स्रष्टृत्वमन्यथानेकेश्वरत्वे सति कश्चित्सिसृक्षति कश्चित्संजिहीर्षतीति जगद् व्यवस्था न सिद्ध्येत् ।

कथं तर्हि स्वाराज्यश्रुतिः ईश्वराधीनस्वाराज्याभिप्रायेति ब्रूमः । ईश्वरो ह्युपासनया तोषितः तेषां भोगमात्रसिद्धये स्वाराज्यं ददौ मुक्तिं च तत्त्वविद्योत्पादनेन दत्तवान् । तस्माज्जगत्सृष्टौ स्वातन्त्राभावेऽपि भोगमोक्षयोस्तेषां स्वातन्त्र्यमस्तीति अशेषमतिमङ्गलम् ॥

॥इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने अष्टमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥

कोऽसौ संप्रसादः कथं वा तस्याधिगमः कथं वा सोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्यते स कंलक्षण इत्याद्यर्थजातं विद्यांग्रहसंप्रदानविधिप्रदर्शनार्थ(र्थं) या विद्यास्तुत्यर्थया वाख्याधि(य,कया निरूपयितुमुपक्रमते—

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥ [१] ॥

य आत्मेति ॥ य आत्मेत्यादि पूर्ववत् । यस्य चोपलब्धार्थं हृदयपुण्डरीकमभिहितं यस्मिन् कामाः समाहिताः सत्या अनृतापिधानाय उपासनसहकारि ब्रह्मसाधनं यदुपासनफलभूतकामप्रतिपत्त्यर्थं मूर्धन्यया नाड्या गतिरुक्ता सोऽन्वेष्टव्यः, शास्त्राचार्योपदेशैः स एवान्विष्य विजिज्ञासितव्यः विशेषेण स्वसंवेद्यतामापादयितव्यः । यस्तमानमन्विष्य विजानाति स सर्वांश्च लोकानाप्नोति स सर्वांश्च कामानिति प्रजापतिरुवाच ह उक्तवान् किल ।

ततः किमित्यत्राह—

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे । ते होचुर्हन्त तमा[त्मा]नमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानिति ॥

तद्धेति ॥ तत्प्रजापतेर्वचनं देवासुरा देवाश्चासुराश्चोभये अनुबुबुधिरे परंपरया स्वकर्णपथमागतं बुद्धवन्तः किल । बुध्वा च ते उभये ऊचुर्ह स्वपरिषदि अन्योन्यमेवमुक्तवन्तः किल । हन्त यद्यनुमन्निर्भवनं प्रजापतिनोक्तं तमात्मानमन्विच्छामोऽन्वेषणं कुर्मो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति विद्वांश्च सर्वांश्च कामानिति ॥

ततोऽपि किमित्यत आह—

इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम् ॥

इन्द्रो ह वा इति ॥ एवं स्वपरिषद्यन्योन्यमुक्त्वा देवानां मध्य इन्द्रः स्वयमेवान्यान् देवान् स्वभोगपरिच्छेदं च सर्वं स्थापयित्वा देहमात्रेणैवाभिप्रवव्राज प्रजापतिम् । प्रजापतिं प्रति प्रव्रजितवान् किल । तथाऽसुराणां मध्ये विरोचनो विरोचनाख्यो राजा स्वयमेव प्रजापतिमभिप्रवव्राज ॥

कथं प्रजापतिं तावभिजग्मुरित्यत्राह—

तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥[२]॥

तौ हेति ॥ ताविन्द्रविरोचनावसंविदानावेवान्योन्यसंविदमकुर्वाणावेव विद्याफलं प्रत्यन्योन्यमीर्ष्यां दर्शयन्तौ समित्पाणा(णी) समिद्भारहस्तौ प्रजापतिसमीपमाजग्मतुर्ह आगतवन्तौ किल । त्रैलोक्याधिपत्याच्च गुरुतरा ब्रह्मविद्येति यत्नतो नयेन गुरवोऽभिगन्तव्या इत्यभिमानं परित्यज्य समिद्भारहस्तौ सन्तौ विद्याग्रहणाय प्रजापतिसमीपमागतावित्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह—–

तौ ह द्वात्रिꣳशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः ॥

तौ हेति ॥ तावेवं नियमेन प्रजापतिसमीपमागतविन्द्रविरोचनौ द्वात्रिशतं द्वात्रिंशत्संख्याकानि वर्षाणि शुश्रूषापरो भूत्वा ब्रह्मचर्यमुद्दिश्योषतुर्ह उषितवन्तौ किल ।

ततः प्रजापतेर्वचनं दर्शयति—–

तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति ॥

तौ हेति ॥ ततः प्रजापतिरिन्द्रविरोचनयोरभिप्रायं ज्ञात्वा ताविन्द्रविरोचनौ प्रत्युवाच ह एवमुक्तवान् किल । किमिच्छन्तौ किं फलमच्छिन्तो युवामवास्तदु(मु)षितवन्ताविति ॥

इन्द्रविोचनयोर्वचनं दर्शयति—–

तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते । तमिच्छन्ताववास्तमिति ॥ [३] ॥

तौ होचतुरिति ॥ ततस्ताविन्द्रविरोचनौ प्रजापतिमूचुर्ह एवमुक्तवन्तौ किल। य आत्मेत्यादि व्याख्यातपरां एतादृशभगवन्तः पूज्यस्य प्रजापतेः तव वचो वेदयन्ते शिष्टाः। तस्मात्तमात्मानमिच्छन्तौ ज्ञातुमिच्छां कुर्वन्तावावामवास्तं उषितवन्ताविति ॥

तताः प्रजापतेर्वचनं दर्शयति--

तौ ह प्रजापतिरुवाच-य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति ॥

तौ ह प्रजापतिरिति ॥ तौ प्रजापतिसमीपमागमनात्पूर्वमन्योन्यमीर्ष्यायुक्तावपि त्यक्तरागद्वेषेर्ष्यादिदोषतया विशुद्धात्मानौ विद्यायोग्यावुपलक्ष्य प्रजापतिरुवाच ह एवमुक्तवान् किल-**य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते मृदितकषायैर्योगिभिः एष आत्माऽपहतपाप्मा** [छा. उप. ८-१-५] इत्यादि गुणयुक्त इति । यमेवोचं पुराहं यद्विज्ञानात्सर्वलोककामोवाप्तिरिति । किं चैतदमृतमविनाशी अत एवाभयं भयरहितं अत एव ब्रह्मवृद्धतममिति प्रजापतिरुवाचेत्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह—

अथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इति ।

अथेति ॥ अथानन्तरमेतादृशं प्रजापतेर्वचनं श्रुत्वेन्द्रविरोचनं छायापुरुषं विजानीतः विज्ञाय च तद्दृढीकरणाय प्रजापतिमेवं पृष्टवन्तौ-हे भगवन्नप्सु योऽयं परिख्यायते समन्ताद्विज्ञायते यश्चायमादर्शे दर्पण आत्मनः प्रतिबिम्बाकारः परिख्यायते यश्च खड्गादौ च परिख्यायते एषां मध्ये भवद्भिरुक्त एष आत्मा कतमः । अथवा सर्वेष्वप्येतेष्वब्वादिष्वेक एव परिख्यायत इति ॥

पुनः प्रजापतेर्वचनं दर्शयति—

एष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत इति होवाच ॥ [४] ॥

॥ इति अष्टमाध्याये सप्तमः खण्डः ॥

एष इति ॥ एवं ताभ्यां पृष्टः प्रजापतिरेष उ एव यश्चक्षुषि द्रष्टा मयोक्त इत्येतन्मनसि कृत्वा यमेव सर्वेष्वादिष्वन्तेषु मध्येषु परिख्यायत इत्युवाच इन्द्रविरोचनौ प्रत्युक्तवान् किल ।

ननु प्रजापतेर्विगतरागद्वेषादिदोषस्याचार्यस्य सतः शिष्ययोर्विपरीतग्रहणानुज्ञानं न युक्तमिति चेत्, सत्यम् । तथापि इन्द्रविरोचनावात्मन्यध्यारोपितपाण्डित्यबोद्धृत्वौ लोके प्रसिद्धा यदि प्रजापतिना मूढौ युवां विपरीतग्राहिणावित्युक्तौ भवेतां ततस्तयोश्चित्ते महद्दुःखं जायते । अतस्तन्मा भूदिति तदनुक्तानां तच्च विपरीतग्रहणमुदशरावादिदृष्टान्तेनापनेष्यामीति बुद्ध्या उक्तवान् ।

॥ इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये सप्तमः खण्डः ॥

अथ प्रजापतेर्वचनं दर्शयति—

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति ।

उदशराव इति ॥ उदशरावे उदकपूर्णे शरावे आत्मानमवेक्ष्य दृष्ट्वा यत्तत्रात्मानं पश्यन्तौ न विजानीथ तन्मे मह्यं प्रब्रूतं आचक्षीयाथमिति प्रजापतिरिन्द्रविरोचना उक्तवानित्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह—

तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते ॥

तौ हेति ॥ तावेवं प्रजापतिनोक्ताविन्द्रविरोचनौ तथैवाऽवेक्षांचक्राते ह आत्मावेक्षणं चक्रतुः किल । तत्र तयोरिदमावयोरविदितमिति अज्ञानशंकैव मा भूत् छायात्मन्यात्मप्रत्ययनिश्चयात्, अतस्ताविन्द्रविरोचनाविदमावाभ्यामविदितमिति नोक्तवन्तौ ॥

पुनः प्रजापतेर्वचनं दर्शयति—

तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यत(थ) इति ॥

तौ हेति ॥ विपरीतग्राहिणावपि शिष्यावनुपेक्षणीयाविति बुद्ध्या प्रजापतिः स्वयमेव ताविन्द्रविरोचनौ प्रत्येवमुवाच ह उदशराव आत्मानमवेक्ष्य किं पश्यथ इति ॥

तत इन्द्रविरोचनयोर्वचनं दर्शयति—

तौ होचतुः-सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ [१] ॥

तौ होचतुरिति ॥ ताविन्द्रविरोचनौ पुनर्विपरीतनिश्चयदार्ढ्यादुचतुर्ह प्रजापतिमेवमुक्तवन्तौ किल—भगवो हे भगवन् उदशराव आत्मानमवेक्ष्य आ लोमभ्य आ नखेभ्यः लोभनखादिसहितं सर्वमेवेदमावयोः प्रतिरूपमेव वां पश्याव नान्यत्किञ्चिदिति ॥

पुनःप्रजापतेर्वचनं दर्शयति—

तौ ह प्रजापतिरुवाच—साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति ॥

तौ हेति ॥ तयोश्छायात्मनिश्चयापनया पुनः प्रजापतिस्ताविन्द्रविरोचनावेवमुवाच—हे इन्द्रविरोचनौ युवां साध्वलंकृतौ यथा स्वगृहे तद्वत्सम्यगलंकृतौ सुवसनौ महार्हवस्त्रपरिधानौ परिष्कृतौ छिन्नलोमनखौ च भूत्वोदशराव आत्मानमवेक्षेथामिति ॥

ननु कथमनेन स्त्राध्वलंकारादि कृत्वोदशरावादात्मनिरीक्षणेनेन्द्रविरोचनयोश्छायात्मन्यात्मनि निश्चयोऽपनीयतामिति चेत्, उच्यते। यद्वा साध्वलंकारसुवसनादीनामागन्तुकानां

शरीरसंबन्धानामुदशरावे छायाकरत्वं एवं शरीरस्याप्यागन्तुकस्य छायाकरत्वमासामित्यवगम्यते । यथा च शरीरैकदेशानां लोमनखादीनामखंडितानां छायाकरत्वं पूर्वमभूच्छिन्नेषु च लोमनखादिषु पश्चात्तेषां न छायाकरत्वमागमापायित्वादेव शरीरस्याप्यागमापायित्वं सिद्धमित्युदशरावादौ दृश्यमानस्य प्रतिबिम्बस्य च देहस्यागन्तुकदेहसंबन्धालंकारादिवदागमापायिलोमनखादिवच्चानात्मत्वं सिद्धम् । ततश्च यावत्किञ्चिद्दृश्यमानत्वेनाभिमतं तत्सर्वं कदाचित्कत्वादागमापायि लोमनखादिवदागन्तुकालंकारादिवच्चानात्मभूतमेवेत्यवगन्तव्यमिति प्रजापतिनोक्तत्वात् । इन्द्रविरोचनयोर्मिथ्याग्रहापनयनार्थमेतद्वचनमिति सिद्धम् ॥

ततः किमित्यत्राह—

तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांचक्राते ।

तौ हेति ॥ तौ ह प्रजापतिनैवमुक्ताविन्द्रविरोचनौ साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ च भूत्वोदशराव आत्मानमवेक्षांचक्राते अवेक्षणं चक्रतुः । तथापि तयोः केनचिद्दोषेण प्रतिबन्धाद्विवेकविज्ञानानुदयान्मिथ्या ग्रहो न निवृत्तः ॥

पुनः प्रजापतेर्वचनं दर्शयति—

तौ ह प्रजापतिरुवाच–किं पश्यथ इति ॥ [२] ॥

तौ हेति ॥ तौ पूर्ववदेवं छायात्मनि दृढनिश्चयाविन्द्रविरोचनौ प्रजापतिरेवमुवाच ह–किमत्र पश्यथ इति ॥

इन्द्रविरोचनयोः प्रतिवचनं दर्शयति—

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृताविति ।

तौ होचतुरिति ॥ तौ पूर्ववदेव छायात्मनि दृढनिश्चयाविन्द्रविरोचनौ प्रजापतिमिदमूचतुर्हे भगवो हे भगवन् यथैवावां साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ च [स्व भगव एवमेवेमौ छायात्मानौ भगवो हे भगवन् साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भवत इति ॥

ततः प्रजापतेर्वचनं दर्शयति—

एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति ॥

एष इति ॥ यस्माद्विपरीतग्रहणापनयनमुदशरावे साध्वलंकारदृष्टान्तेऽभिहितेऽपि विपरीतग्रहो न निवृत्तस्तस्मात्स्वदोषेण केनचित्प्रबन्धविवेकविज्ञानसामर्थ्यविताविति मद्वचनं सर्वं पुनः पुनः स्मरतोरनयोः प्रतिबन्धक्षयात्स्वयमेवात्मविषयविवेकविज्ञानं भविष्यतीति मन्वानः प्रजापतिश्चाभिप्रेतमेवात्मानमेष आत्मेत्येतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेत्युवाच ह न तु तयोरभिप्रेतमात्मानं तस्यापहतपाप्मत्वादिलक्षणासंभवात् ॥

ततः किमित्यत्राह —

तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥ [३] ॥

तौ हेति ॥ ततस्ताविन्द्रविरोचनौ शान्तहृदयौ तुष्टहृदयौ कृतार्थबुद्धी इत्यर्थः प्रवव्रजतुर्ह स्वस्थानं प्रतिगतवन्तौ किल ॥

एवं गतयोरिन्द्रविरोचनयोर्राज्ञोर्भोगासक्तयोर्यथोक्तात्मविस्मरणं स्यादित्याशंक्य य आत्मापहतपाप्मेत्यादिवचनवदनयोः श्रवगरथमेष्यतीति मत्वा य मद्वचनं प्रजापतिनोक्तं तदिदानीं दर्शयति—

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाच–अनुपलभ्याऽऽत्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति ॥

तौ हेति ॥ तौ दूरं गच्छताविन्द्रविरोचनावन्वीक्ष्य प्रजापतिरेवमुवाच ह–अनुपलभ्य यथोक्तलक्षणमात्मानमविज्ञायाननुविद्य स्वात्मप्रत्यक्षं चाकृत्वा विपरीतनिश्चयौ भूत्वेन्द्रिय(न्द्र)विरोचनावेतौ व्रजतो गच्छेयाताम् । अथो यतरे देवा असुरा वा एतदुपनिषदः आभ्यां या गृहीतात्मविद्या सेयमेतदुपनिषद् येषां देवानामसुराणां वा एतदुपनिषदो भविष्यन्ति । एवं विज्ञाना एतं निश्चयाश्च भविष्यतीत्यर्थः । ते किं पराभविष्यन्ति । ते देवा असुरा वा पराभविष्यन्ति श्रेयोभागोतरराभूता बहिर्भूताः सन्तो विनिष्टा भविष्यन्तीति ॥

ततः किमित्यत्राह—

स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम । तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाच– आत्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति ॥ [४] ॥

सहेति ॥ ततः स्वगृहं प्रतिगच्छतोः सुरासुरराजयोर्मध्ये योऽसुरराजः स विरोचनः शान्तहृदय एव देहात्मबुद्ध्यैव कृतार्थबुद्धिः सन्नेवासुरान् जगाम ह गतवान् किल । गत्वा च तेभ्योऽसुरेभ्य एतां शरीरात्मबुद्धिरूपामुपनिषदं प्रोवाच ह । देहमात्रामेवात्मा प्रजापतिनोक्त इत्युक्तवान् किल । तस्मादात्मैव देह एवेहलोके महय्य पूजनीयस्तथात्मदेह एव परिचर्य परिचरणीयः । तथात्मानमेव देहमेवेहलोके महयन्पूजयन्नात्मानं देहमेव परिचरन्नुभौ लोकाविहलोकपरलोकाववाप्नोति तस्यैव विवरण मिमं चेहलोकं चामुं परलोकं चेति ॥

कथमेतदवगम्य इत्यत्राह--

तस्मादप्यद्येहाश्रद्दधान[1]मयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराꣳह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति सꣳस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ [५] ॥

॥ इत्यष्टमाध्यायस्याष्टमः खण्डः समाप्तः ॥

तस्मादिति ॥ यस्मादसुरेभ्यो देहात्मविद्यां प्रोवाच विरोचनस्तस्मात्तत्संप्रदायोऽद्याप्यनुवर्तते । इह लोकेऽश्रद्धधानं नित्यनैमित्तिककर्मसु श्रद्धारहितमयजमानं यथा शक्त्या यजमानमकुर्वाणं च बतेति खिद्यमानाः शिष्टा आहुरासुरोऽयं यत एवं स्वभावो वर्तत इति । हि यस्मादेषा अश्रद्दधानतालक्षणोपनिषदसुराणां तस्मात्तयोपनिषदा संस्कृताः सन्तो नास्तिकाः प्रेतस्य शरीरं कुणपं भिक्षया गंधमाल्यादिरूपया वसनेन वस्त्राद्याच्छादनेन चालंकारेण ध्वजपताकादिकरणेनेत्येवं संस्कुर्वन्ति । एतेन यथोक्तेन कुणपसंस्कारेणैवामुं प्रेत्य गन्तव्यं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद् व्याख्याने
अष्टमाध्यायस्याष्टमः खण्डः ॥

विरोचनकृतं दर्शयित्वेदानीमिन्द्रेण यत्कृतं तद्दर्शयति-

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श । यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति ॥ [१] ॥नाहमत्र योग्यं परिपश्यामीति ॥

अथ हेति ॥ अथानन्तरमिन्द्रो देवान् अप्राप्यैव शुद्धत्वाद्गुरोर्वचनं पुनः पुनः स्मरन्नेव गच्छन्नेतद्वक्ष्यमाणं भयं छायात्मनि निश्चयनिमित्तं ददर्श ह दृष्टवान् किल । कथं यथैव खलु प्रसिद्धमस्मिन् शरीरे साध्वलंकृते अयं छायात्मापि साध्वलंकृतो भवति सुवसने महार्हवस्त्रोपेते चास्मिन् शरीरे छायात्मापि सुवसनो भवति । यथा चास्मिन् शरीरे परिष्कृते छिन्ननखरोमादिके सति परिष्कृतो भवति छायात्मापि नखरोमादिरहितो भवति । एवमेव तथैवास्मिन् शरीरेऽन्धेऽपगतचक्षुष्ययं छायात्माप्यन्धो भवति । नख-

---

१. ०हाददानमश्रद्दधान० मुपा.

रोमादिभिर्देहावयवत्वस्य तुल्यत्वाच्चक्षुरादीनां तथा स्रामे स्राम एकनेत्रस्तस्यान्धत्वेन गतत्वाच्चक्षुर्नासिका वा यस्य सदा स्रवति तस्मिन्सत्ययं छायात्मापि स्रामो भवति। तथा परिवृक्णो छिन्नहस्ते छिन्नपादे वास्मिन् शरीरे छायात्मापि परिवृक्णो भवति। तथा शरीरस्यैव नाशमन्वेष छायात्मापि नश्यति। तस्मादहमत्र छायात्मदर्शने भोग्यं फलं किञ्चिन्न पश्यामीत्येवं भयं ददर्शेति पूर्वेण संबन्धः ॥

ततः किमित्यत्राह–

स समित्पाणिः पुनरेयाय ॥

स समिदिति ॥ स एवं छायात्मनि दोषदृगिन्द्रः समित्पाणिः समिद्भारहस्तः पुनरप्येयाय प्रजापतिं प्रत्यागतवान् ॥

तꣳ ह प्रजापतिरुवाच–मघवन् यच्छान्तहृदयः प्राव्राजी सार्धं विरोचनेन किमिच्छन्पुनरागम इति ॥

तं हेति ॥ तमेवं पुनरागमन(गत)मिन्द्रं प्रजापतिर्जानन्नपीन्द्रायाभिप्राभिव्यक्त्यर्थमेवमुवाच ह–हे मघवन्निन्द्र त्वं यदिति क्रियाविशेषणं विरोचनेनासुरराजेन सार्धं सन् शान्तहृदयः कृतार्थबुद्धिः सन् प्रव्राजीः प्रगतवानसि पुनः किमिच्छन्नागम आगतवानसीति ॥

इन्द्रस्य वचनं दर्शयति–

स होवाच–यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमयमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ [२] एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाणीति ॥

स होवाचेति ॥ स एवं प्रजापतिना पृष्टः इन्द्रः स्वाभिप्रायं प्रकटयन् प्रजापतिमेवमुवाच ह–किन्त्वेवमेव यो मयोक्त आत्मापहतपाप्मत्वादिलक्षणः प्रकृतस्तमेतमेवात्मानं ते तुभ्यं भूयः पूर्ववदसकृत् व्याख्यातमप्यनुव्याख्यास्यामि। यस्मात्सकृद्व्याख्यानेनैवावधारयितुं योग्यमप्यात्मानं केनचिन्महता दोषेण प्रतिबद्धात्मविषयावधारणसामर्थ्यस्त्वं तस्माद्दोषक्षपणायापराणि आ(अ)न्यान्यपि द्वात्रिंशतं द्वात्रिंशत्संख्यकानि वर्षाणि वस, पूर्ववन्निवासं कुर्विति ॥

ततः किमित्यत्राह—

स हापराणि द्वात्रिँशतं वर्षाण्युवास ॥

स हेति ॥ स एवं प्रजापतिनोक्त इन्द्रस्तथैवापराणि द्वात्रिंशद्वर्षाण्युवास ह ब्रह्मचर्यमुद्दिश्य निवासं कृतवान् किल ।

ततोऽपि किमित्यत्राह—

तस्मै होवाच ॥ [३] ॥

॥ इत्यष्टमाध्याये नवमः खण्डः ॥

तस्मा इति ॥तस्मै एवं गुरुकुलवासेन क्षपितदोषायेन्द्रायोवाच ह प्रजापतिरेवमात्मानमुक्तवान् किल ।

॥ इति सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्यानेऽष्टमाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥

कथमुवाचेत्यत्राह—

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतभयमेतद् ब्रह्मेति ॥

य एष इति ॥ य आत्मापहतपाप्मत्वादिलक्षणो **'य एषोऽक्षिणि'** [छा. उप. ८-८-१] इत्यादिना व्याख्यात एषोऽयं स्वप्ने महीयमानस्त्र्यादिभिः पूज्यमानश्चरति नानाप्रकारेण स्वप्नभोगाननुभवतीत्यर्थः । एष सोऽयमात्मेत्यत एवैतदमृतमत एवाभयमत एवैतद्ब्रह्म बृहदिति च प्रजापतिरुवाच ह ॥

ततः किमित्यत्राह—

स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज ॥

स हेति ॥ स एवं प्रजापतिनोक्त इन्द्रः शान्तहृदयः कृतार्थबुद्धिः सन् प्रवव्राज ह ।

ततोऽपि किमित्यत्राह—

हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श ॥

हाप्राप्येति ॥ ततः स इन्द्रो देवतानप्राप्यैव शुद्धहृदयत्वाद्गुरोर्वचनं पुनः पुनः स्मरन्नेव गच्छन्नेतद्वक्ष्यमाणं ददर्श ह ॥

कथमित्यत्राह—

तद्यद्यपीदँ शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ [१] न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ [२] ॥

तद्यदिति ॥ तदिदं शरीरं यद्यप्यन्धं भवति तथाति स्वप्नात्माऽनन्ध एव भवति। यथा यदिदं शरीरं स्रामं भवति तथापि स स्वप्नात्मा अस्रामो भवति। तथास्य देहस्य दोषेणैव स्वप्नात्मा नैव दुष्यति। तथास्य शरीरस्य वधेन एष स्वप्नात्मा न हन्यते। तथास्य देहस्य स्राम्येण स्रामत्वदोषेणैष स्वप्नात्मा न स्रामो भवति। तथा छायात्मा देहदोषैर्दूष्यति तद्वत्स्वप्नात्मा न दूष्यतीत्यर्थः। किंत्वेनं स्वप्नात्मानं प्रत्येव एवशब्देवकारार्थे। घ्नन्तीवैनं केचनेत्यर्थः। उत्तरेषु सर्वेष्विवशब्दप्रयोगदर्शनात्तथैव केचन विच्छादयन्तीव विशेषेण छादयन्तीव, उपलक्षणमेतद् विद्रावयन्तीवेत्यादि द्रष्टव्यम्। तथा अप्रियवेत्तैव पुत्रादिमरणनिमित्ताप्रियाणां वेत्ता लब्धेव भवति न तु वस्तुतो प्रियवेत्ता भवति। अपि च स्वप्नात्मा रोदितीव भवति। अतोऽहमत्र स्वप्नात्मज्ञाने भोग्यमिष्टं फलं न पश्यामीत्येवं स्वप्नात्मज्ञानेऽपि भयं ददर्शेत्यर्थः ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय ॥

स समित्पाणिरिति ॥ स एवं स्वप्नात्मन्यपि दोषदृगिन्द्रः समित्पाणिः सन् पुनरप्येयाय ॥

ततः प्रजापतेर्वचनं दर्शयति–

तं ह प्रजापतिरुवाच–मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति ॥

तं हेति ॥ तमेव पुनरागतमिन्द्रं प्रजापतिर्जानन्नपि इन्द्राभिप्रायाभिव्यक्त्यर्थमुवाच एवं पृष्टवान्–हे मघवन् शान्तहृदयः कृतार्थबुद्धिः सन् प्राव्राजीः प्रागतवान् स पुनः किमिच्छन्नागम आगतोऽसीति ॥

इन्द्रस्योत्तरं दर्शयति–

सहोवाच–तद्यद्यपीदं[1] शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ [३] न वधेनास्य स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥

स होवाचेति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

प्रजापतेर्वचनं दर्शयति—

---

१. ‘भगः’ इति मुद्रितपुस्तके अपा

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयो व्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति ॥

एवमेवेति ॥ हे मघवन् सम्यक्त्वयावगतमेष स्वनात्मा । एवमेव त्वदुक्तप्रकारेणैव भवति तु किन्त्वेतमेव यो मयोक्त आत्मापहतपाप्मत्वादिगुणवान् प्रकृतस्तमेतमात्मानं ते तुभ्यं भूयः पूर्ववदनु व्याख्यास्यामि । व्याख्यातमप्यनुव्याख्यास्यामि । तस्माद्विरुक्तमपि न्यायतो यथावन्नावधारयति तस्मादद्यापि विद्याप्रतिबंधकारणं किंचित्तवास्ति । तद्दोषक्षपणायापराणि द्वात्रिंशद्वर्षाणि वस ब्रह्मचर्यमुद्दिश्य निवसेति प्रजापतिरुवाच ॥

ततः किमित्यत्राह—

स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास ॥

स हेति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

ततोऽपि किमित्यत्राह—

तस्मै होवाच ॥[४]॥

॥ इत्यष्टमाध्याये दशमः खण्डः ॥

तस्मा इति ॥ तस्मै गुरुकुलवासेन क्षपितदोषायेन्द्राय प्रजापतिरेवमुवाच ह ॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
अष्टमस्याध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

कथमुवाचेत्यत्राह—

यद्य[1]त्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति ॥

यद्यत्रेति ॥ तदेवं सति यत्र यस्मिन् काल एतत् स्वप्नं अक्षिणि यो द्दष्टा यश्च स्वप्ने महीयमानश्चरति स एव सुप्तः उपसंहृतकरणः । तस्माद्बाह्यविषयसंपर्कजातजातुष्यभावात् संप्रसन्नः सम्यक्प्रसन्नो भवति । तदा स्वप्नं विषयाकारभासं मानसं स्वप्नं प्रत्ययं न विजानाति नानुभवति । एष यथोक्त आत्मेत्येनदमृत[म]भयमेतद् ब्रह्मेति च स्वाभिप्रायमेवात्मानं प्रजापतिरुवाच ह ॥

ततः किमित्यत्राह—

स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज ॥

स हेति ॥ स इन्द्रः शान्तहृदयः कृतार्थबुद्धिः सन् प्रवव्राज ह ॥

---

१ तद्य०–मुपा.

ततोऽपि किमित्यत्राह—

स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श ॥

स हाप्राप्येति ॥ ततः सो (स) इन्द्रो देवानप्राप्यैव शुद्धहृदयत्वाद्गुरोर्वचनं पुनः पुनः स्मरन्नेव गच्छन्नेनद्वक्ष्यमाणं भयं ददर्श ह ॥

कथमित्यत्राह—

नाह खल्वयमेवꣳसंप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ [१] ॥

नाह खल्विति ॥ अयं सुषुप्तस्थोऽप्यात्मा संप्रतीदानीमयमहमस्मीत्येवमात्मानं नाह नैव जानाति। खलु अथवेमानि भूतानीति नो विजानाति । यथा जाग्रत्स्वप्नयोरयमहमस्मीमानि भूतानि वेति जानाति तद्वदत्र न जानातीत्यर्थः । अतो विनाशमेव अत्राप्येवकार इवशद्बार्थे वर्तते । अतो विनष्ट इव भावीत्यभिप्रायः। अतोऽत्र सुषुप्तात्मन्यपि भोग्यमिष्टं फलं न पश्यामीत्येवं भयं ददर्शेत्यर्थः ॥

ततः किमित्यत्राह—

स समित्पाणिः पुनरेयाय ॥

स समित्पाणिरिति ॥ स एवं सुषुप्तात्मन्यपि दोषं पश्यन्निन्द्रः समित्पाणिः सन् पुनरपि प्रजापतिं प्रत्येयाय ॥

ततोऽपि किमित्यत्राह—

तꣳह प्रजापतिरुवाच—मघवन् यच्छान्तहृदयः प्रावाजीः किमिच्छन् पुनरागम इति ॥

तं हेति ॥ तमेवं पुनरागतमिन्द्राभिप्रायं जानन्नपि प्रजापतिरिन्द्राभिप्रायाभिव्यक्त्यर्थमेवमुवाच ह एवं पृष्टवान् किल—हे मघवन् शांतहृदयः कृतार्थबुद्धिः सन् प्राव्राजीः प्रागतवान् असि किमयं ज्ञातुमिच्छन्नागम इति ॥

इन्द्रस्योत्तरं दर्शयति—

स होवाच—नाह खल्वयं भगव एवꣳ संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ [२]

स होवाचेति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

पुनः प्रजापतेर्वचनं दर्शयति--

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति ।।

एवमेवेति ।। हे मघवन् सम्यक्त्वयावगतमेष सुप्तात्मा । एवमेव त्वदुक्तप्रकारेण भवति । तु किन्तु योऽपहतपाप्मत्वादिलक्षण आत्मा एतस्मादात्मनोऽन्यत्रात्मा ह कश्चिदवगन्तव्यो नो वा नैवास्ति । अत एव तमेव यथोक्तमेवात्मानं ते तुभ्यं भूयो व्याख्यास्यामि यस्मादसकृदुक्तमप्यात्मानं किञ्चित्तवास्ति तद्दोषक्षपणायापराणि अन्यानि पञ्चसंख्याकानि वर्षाणि वसेति प्रजापतिरिन्द्रमुवाचेति संबन्धः ।।

ततः किमित्यत्राह--

स हापराणि पञ्चवर्षाण्युवास ।।

स हेति ।। स एवं प्रजापतिनोक्त इन्द्रोऽपराणि पञ्चवर्षाण्यवशिष्टदोषक्षपणायोवास ह ।।

यथोक्तमात्मज्ञानं स्तौति-

तान्येकशतꣳसंपेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतꣳह वै वर्षाणि मघवन् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास ।।

तान्यैकशतमिति ।। तानि यथोक्तानि वर्षाण्येकशतमेकोत्तरशतसंख्याकानि संपेदुः संपन्नानि बभूवुः । तत्तत्र यदाहुर्लोके शिष्टा एकोत्तरशतमेकोत्तरशतसंख्यकानि वर्षाणि मघवा इन्द्रः प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुद्दिश्य वसति तदेतत् द्वात्रिंशतं द्वात्रिंशतमित्यादिना आख्यायिकातः श्रुत्या दर्शितमिति । यत इन्द्रोऽपीन्द्रत्वादपि गुरुतरमात्मज्ञानमिति मत्वा महता प्रयत्नेनैकोत्तरवर्षशतमात्मज्ञानसिद्ध्यर्थं प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास । अतो नात्र पुरुषार्थान्तरमस्तीति भवतीत्यात्मज्ञानस्तुतिः ।।

ततः किमित्यत्राह--

तस्मै होवाच-।। [३] ।।

।। इति अष्टमाध्याये एकादशः खण्डः ।।

तस्मा इति ।। ततस्तस्मै बहुकालवासेन क्षपिताशेषकल्मषायेन्द्राय स्थानत्रयदोषसंबंधरहितमपहतपाप्मत्वादिलक्षणमात्मनः स्वरूपं प्रजापतिरेवमुवाच ह ।।

।। इति सामवेदप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
अष्टमाध्यायस्यैकादशः खण्डः ।।

कथमुवाचेत्यत्राह--

मघवन् मर्त्यं वा इदꣳ शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ [१] ॥

मघवन्निति ॥ हे मघवन् त्वं यत्प्रत्यक्षेण पश्यसि तदिदं शरीरं मर्त्यं वै मरणधर्मेव विनाश्येवेत्यर्थः । किं च तन्मृत्युना आत्तं सततं ग्रस्तमेव । मर्त्यमित्युक्त्वा पुनरात्तं मृत्युनेति विशेषोक्तिर्दृढवैराग्योत्पादनाय । तद्यथोक्तं शरीरमस्य संप्रसादस्य मरणधर्मरहितस्याशरीरस्य देहेन्द्रियमनोबुद्धिवर्जितस्य निरवयवस्यात्मनो भोगायतनं तदधिष्ठितस्तद्वान् भूत्वा सशरीरो भवति । अशरीरस्वभावात्माहमेव शरीरं शरीरमेवाहमित्यविवेकतः शरीरसहितो भवति । अतः प्रियाप्रियाभ्यां सुखदुःखाभ्यामात्तो वै व्याप्त एव भवति । वै प्रसिद्धमेतत्सशरीरस्य सत आत्मनः प्रियाप्रिययोर्बाह्यविषयसंयोगवियोगनिमित्तयोः सुखदुःखयोरपहतिर्विनाशो नास्तीति । अतो विवेकविज्ञानादशरीरं वा वसन्तं शरीरेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्वात्माध्यासरहितमेव प्रियाप्रिये बाह्यविषयसंयोगवियोगजनिते सुखदुःखे न स्पृशतः । विवेकविज्ञानात्परित्यक्तदेहेन्द्रियादिसंगस्य स्वरूपमात्रावस्थितस्य धर्माधर्मयोरभावात्तत्कार्ययोः सुखदुःखयोरप्यभाव इत्यर्थः ॥

अशरीरस्वभावस्य संप्रसादस्याविद्यया शरीरेणाविशेषतां प्राप्तस्य शरीरात्समुत्थाय स्वेन रूपेण निष्पत्तिं दृष्टान्तेन व्युत्पादयितुं तावद्दृष्टान्तं दर्शयति—

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ [२] ॥

अशरीर इति ॥ अशरीरः न विद्यते शिरःपाण्यादिमच्छरीरं यस्येत्यशरीरो वायुस्तथाभ्रं मेघो विद्युत्सौदामिनीस्तनयित्नुर्गर्जिताशनि इत्येतानि भूतान्यशरीराणि शिरःपाण्यादिमच्छरीररहितानि तत्त्रैवं सति यथैतानि वाय्वादीनि यथोक्तानि भूतान्य(नि) आकाशसमानतामापन्नानि स्वेन स्वेन वाय्वादिरूपेणागृह्यमाणान्यमुष्मात् द्युलोकसंबन्धिन आकाशात्समुत्तिष्ठन्ति वर्षादिप्रयोजनसिद्ध्यर्थम् । ततः समुत्थाय च पुनः शिशिरापाये परं प्रकृष्टं सावित्रं ज्योतिः ग्रैष्मकमुपसंपद्य सावित्रमभितापं प्राप्येत्यर्थः । आदित्याभितापेन पृथग्भावमापादितो स्वेन स्वेन रूपेण वायुस्तिमितभावं हित्वा स्वेनवातादिरूपेणाभ्रमपि स्वेन पर्वतहस्त्यादि रूपेण विद्युदपि स्वेन ज्योतिर्लतावच्चपलरूपेण स्तनयित्नुरपि स्वेन गर्जिताशनि रुपे[ण] प्रावृडागमे हि निष्पद्यन्ते ॥

एवं दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ॥

एवमिति ॥ एवमेव यथा दृष्टान्तस्तथैव विद्यया संसारावस्थायां शरीरसाम्यमापन्नोऽहममुष्य पुत्रो जातो जीर्णो मरिष्य इत्येवं प्रकारमापन्नः पुनस्तत्त्वमस्यादिवाक्यैः प्रतिबोधितः सन्नेष प्रसादोऽस्माच्छरीरमुत्थाय देहादिवैलक्षण्यमात्मनो रूपमवगम्य देहात्मभावनां हित्वा परं प्रकृष्टं ज्योतिरुपसंपद्य प्राप्य स्वेन रूपेण स्वात्मनैवाभिनिष्पद्यत इति ॥

अस्त्येवं किं तत्र इत्यत्राह—

स उत्तमपुरुषः स तत्र पर्येति ज[क्ष]त् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा वयस्यैर्वा[1] नोपजनँ स्मरन्निदं शरीरम् ॥

स उत्तमपुरुष इति ॥ एवं च सति स स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्न आत्मा उत्तमपुरुषः उत्तमश्चासौ पुरुषश्चेत्युत्तमपुरुषः स्थानत्रयदोषवर्जितत्वात् जाग्रदाद्यवस्थात्रयवर्तिनः पुरुषानपेक्ष्य किं च स संप्रसादः स्वेन रूपेण तत्र स्वात्मन्यवस्थितः सर्वात्मकः सन् क्वचिदिन्द्राद्यात्मना जक्षन् ह स उच्चावचानभीष्टान् भक्ष्यान् वा स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा वयस्यैर्वा सह क्रीडन् रममाणश्च मनसैवोपजनं स्त्रीपुंसयोरन्योन्योपगमेन जायत इत्युपजनम् । अथ चात्मभावेनात्मसामीप्येन जायत इत्युपजनमिदं प्रत्यक्षेण परिदृश्यमानं च स्मरन् शरीरस्मरणे हि दुःखमेव स्यात् दुःखात्मकत्वात् । अतस्तत्स्मरणरहितः सन्नित्यर्थः । यदुक्तं '**य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत**' (छा. उप. ८-७-४) इति ॥

तदिदानीमुपपादयति—

स यथा प्रयोग्य आचरणे घु(यु)क्त एवमेवास्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥ [३] अथ यत्रैतदाकाशमनुविषणं(ण्णं) चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गंधाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदँ शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥ [४] अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोकः(के) ॥ [५] ॥

---

[1] 'वयस्यैर्वा'–इति नास्ति मुग.

स यथेति ।। यथा लोके प्रयोग्य प्रयुज्यतेऽप्रकर्षेण युज्यत इति । प्रयोग्योऽश्वो बलीवर्दो वा इति आचरणे आचरत्यनेन आचरणं रथादि तस्मिन्नाचरणे युक्तः सन् तदाचरणाय भवति । एवमेव सोऽयमात्मास्मिन् शरीरे रथस्थानीये प्राणः पञ्चवृत्तिरिन्द्रियमनोबुद्धियुक्तः प्रज्ञात्माज्ञानक्रिय शक्तिर्द्वयमूर्च्छितात्मना युक्तः स्वकर्मफलोपभोगनिमित्तदर्शनादिव्यापारेषु नियुक्तः तस्यैव त्वेकदेशभूतं चक्षुरादिकमिन्द्रियरूपाद्युपलब्धिद्वारभूतम् । अथ पुनरेवं सति यत्र यस्मिन् देहे एतदाकाशं देहछिद्रमनु...आत्मा चाक्षुषश्चक्षुषि भवति चाक्षुषः पुरुषस्तस्य उपाद्युपलब्धये चक्षुःकरणं अंतश्चक्षुषो दर्शनेन लिङ्गेन दृश्यत इति अक्षिणि पुरुषो दृश्यत इत्युपपद्यत इत्यर्थः । अक्षिणीत्यस्य शब्दस्य सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थत्वात्, अथ पुनर्यस्मिन् शरीरे इदं सुगन्धिर्दुगन्धि वा त्वहं जिघ्राणीति वेद स आत्मा तस्य गन्धाय गन्धविज्ञानाय घ्राणं करणम् । अत(थ) पुनर्यस्मिन् शरीरे इदं वचनमहमभिव्याहराण्यभिवदानीति वेद स आत्मा तस्याभिव्यवहारायाभिवदनक्रियार्थं वागिन्द्रियकरणम् । अथ पुनर्यस्मिन् शरीरे इदं शब्दजातमहं शृण्वानीति वेद स आत्मा तस्य श्रवणाय शब्दग्रहणार्थं श्रोत्रं करणम् । अथ पुनर्योऽस्मिन् शरीरे इदं गन्तव्यमहं मन्वानीति मननं कारवाणीति वेद स आत्मा यो वेद स आत्मेत्येवं सर्वत्र संबन्धाद्वेदनमप्यात्मनः स्वरूपमिति गम्यते । यथायं पुरस्तात्प्रकाशयति स आदित्यो यो दक्षिणतो यः पश्चाद्य उत्तरतो य ऊर्ध्वं प्रकाशयति स आदित्यः इत्युक्ते प्रकाशस्वरूप इति गम्यते । तद्वद्वेदनस्वरूप आत्मेत्यवगम्यते । अस्यात्मनो मनो दैवमाप्राकृतमितरेन्द्रियैरसाधारणं चक्षुर्दर्शनसाधनम् । चक्षुरादीनीन्द्रियाणि सन्निहितवर्तमानविषयाण्येव मनस्तु त्रिकालवर्ति सूक्ष्मव्यवहितसर्वविषयोपलब्धिकरणम् । अत इतरेन्द्रियसाधारणत्वादिदेवं (त्वादिदमेव ?) चक्षुरित्युच्यते । स एष यथोक्तो य आत्मा एतेन यथोक्तेन दैवेनाप्राकृतेन च चक्षुषा ति(त्रि)कालवर्तिसूक्ष्मव्यवहितविषयदर्शनसाधनेन मनसैवैतान् पश्यन् रमत एतान् कामानित्यस्य विवरणम् । य एते ब्रह्मलोके ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन् संकल्पमात्रप्रभावास्तानेतान् कामान् यश्य(त्ये)त्यन्वय ।।

यथोक्तमात्मज्ञानं सर्वकामादिसाधनत्वेन स्तौति—

तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते । तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः ॥

तं वा एतमिति ॥ यस्मादेष आत्मा प्रजापतिनेन्द्रायोक्तस्तस्मात्ततः श्रुत्वा देवास्तमेतमेवात्मानम् अद्याप्युपासते । तदुपासनादेव तेषां देवानां सर्वे च लोका आत्ताः प्राप्ताः सर्वे च कामाः आत्ताः । अत इदमात्मज्ञानं सर्वकामादिसाधनत्वाप्रशस्तमित्यर्थः ॥

ननु भवतु देवानां दीर्घायुषां महाप्रज्ञानां यथोक्तात्मज्ञानेन सर्वकामावाप्तिः । मनुष्याणामल्पजीवितानां मन्दप्रज्ञानां कथं भविष्यतीत्यत्राह—

स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति । इति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ [६]॥

॥ इति द्वादशः खण्डः ॥

स सर्वाꣳश्च लोकानिति ॥ यः कश्चिदिदानींतनो मनुष्योऽपीन्द्रादिवत् तमेतमात्मानमनुविद्य शास्त्राचार्येभ्यो विज्ञाय विजानाति प्रत्यक्षीकरोति । स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति स सर्वाꣳश्च कामानाप्नोति ह सामान्येन किल प्रजापतिरुवाच । तस्मादिदानींतनानामपि यथोक्तसाधनसंपन्नानामात्मज्ञानं तत्फलप्राप्तिश्च भवतीत्यर्थः । द्विरुक्तिः प्रकरणपरिसमाप्तिद्योतनार्था ।

‘**य एषोऽक्षिणिपुरुषः**’ [छा. उप. ८-७-४] इति वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वं प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे षष्ठाधिकरणे[1] निर्णीतम् । तद्यथा-

यः प्रजापतिविद्यायां किं जीवोऽथवेश्वर ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तोक्तेस्तद्वद्जीव इहोच्यते ॥
आत्मापहतपाप्मेति प्रक्रम्यान्ते स उत्तम ।
पुमानित्युक्त ईशोऽत्र जाग्रदाद्यवबुद्धये ॥

दहरविद्याया उपरि प्रजापतिविद्यायामिन्द्रविरोचनप्रजापतिसंवादे श्रूयते-‘**य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच**’ [छा. उप. ८-७-४] इति । तत्र जीवात्मेति प्राप्तम्, अवस्थात्रयोपन्यासात् । ‘**अक्षिणि पुरुषः**’ [छा. उप. ८-७-४] इति जागरणोपन्यासः । ‘**य एष स्वप्ने हीयमानश्चरति** [छा. उप. ८-१०-१] इति स्वप्नोपन्यासः । **सुप्तः समस्तः] संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति**’ [छा उप. ८-११-१] इति सुषुप्तोपन्यासः । एवमवस्थात्रय उपन्यस्ते सति अवस्थावान् जीव एव ग्रहीतुमुचितः, ईश्वरस्यावस्थाराहित्यादिति प्राप्ते ब्रूमः-ईश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः । कुतः । ‘**य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युः**’ [छा. उप. ८-१-५] इति परमात्मानमुपक्रम्य ‘**स उत्तमपुरुषः**’ [छा. उप. ८-१२-३] इत्यन्ते परमात्मान एवोपसंहरन्न चैवं सति जागरणाद्युपन्यासवैयर्थ्यं शाखाचन्द्रन्यायेन परमात्मावो[नो]पयुक्तत्वात् । तस्मादीश्वरोऽक्षिपुरुषः परं ज्योतिरूप संपद्येत्यत्र ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं तस्मिन्नेव पादे द्वादशाधिकरणे[2] निर्णितम् । तद्यथा—

---

[1] नायं समीचनो निर्देशः । तत्र मुद्रितपाठे कारिकाद्वयं न दृश्यते ।

[2] ‘एकादशाधिकरणे’’ इति समीचीनः पाठः ।

परं ज्योतिस्तु सूर्यस्य मण्डलं ब्रह्म वा भवेत् ।
समुत्थायोपसंपद्येत्युक्तया स्याद्रविमण्डलम् ॥
समुत्थानं पदार्थत्वं शुद्धिर्वाक्यार्थबोधनम् ।
संपत्तिरुत्तमत्वोक्तेर्ब्रह्म स्यादक्षिसाक्षितः ॥[1]

छान्दोग्ये अष्टमाध्याये प्रजापतिविद्यायामाम्नायते । **‘एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । स उत्तम[पुरुषः]’** [छा. उप. ८-१२-३] इति । अस्यार्थः-सम्यक् प्रसीदत्यस्य(स्या)मवस्थायां संप्रसादः सुषुप्तिः, तयावस्थया तद्वान् जीव उपलक्ष्यते । एष जीवोऽस्माच्छरीराद्यु(दु)त्थायेति[2] सुगमम् । तत्र ज्योतिःशब्दवाच्ये द्वेधा संदिग्धे सति रविमण्डलमिति तावत्प्राप्तं, कुतः, शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्येति देहान्निर्गत्य पश्चाज्ज्योतिः प्राप्नोतीत्युच्यमानत्वाद्ब्रह्मप्राप्त्यै निर्गमाभावात् प्राप्तृप्राप्तव्यभेदानुपपत्तेश्च इति प्राप्ते ब्रूमः-ज्योतिःशब्दवाच्यं ब्रह्म स्यात् । कुतः । **‘स उत्तमपुरुषः’** [छा. उप. ८-१२-३] इत्युत्तमपुरुषसंकीर्तनात् रश्मिमण्डलस्य तदयोगात् । किं च **‘यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा’** [छा. उा. ८-१२-४] **‘यो वेदेद शृणवानीति स आत्मा’** [छा. उप. ८-१२-४] इत्यादेना घ्रातृघ्राणत्रे श्रोतृश्रवणश्रोत्रादि साक्षित्वमान्नतः श्रूयते । तदेकवाक्यतया ज्योतिःशब्दवाच्यं ब्रह्म । यदुक्तम्-**शरीरात्समुत्थाय[परं]ज्योतिरुपसंपद्य** [छा. उप. ८-३-४, मैत्रि उप. २-२] इत्येतद्द्वयं ब्रह्मपक्षे न संभवतीति । तदसत्, न ह्यत्र ब्रह्मसमुत्थानम् । किं तर्हि । त्वं पदार्थस्य जीवस्य शरीरत्रयाद्विवेकः नान्युरसंपत्तिः प्राप्तिः । किं तर्हि । शोधितस्य त्वं पदार्थस्य ब्रह्मत्वेव नावबोधनम् । तस्मा[त्]ज्योतिर्ब्रह्मः ॥

॥ **इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने**
अष्टमाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥

चित्तशुद्ध्यर्थं जप्यं मन्त्रं दर्शयति—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये । शबलाच्छा(च्छया)मं प्रपद्ये ॥

श्यामाच्छबलमिति ॥ श्यामात् श्यामो गंभीरो वर्णः श्याम इव श्यामो दुरवगाह्यत्वात् हार्दं ब्रह्म तद्ध्यानेन जित्वा तस्माच्छामाद्धार्यात् ब्रह्मग इत्यर्थः । शबलं शबल इव शबलोऽरण्याद्येनककाममिश्रिताद्ब्रह्मलोकस्त्वं शबलं प्रपद्ये शरीरपातादूर्ध्वम् । यस्मादहं शबलाद्ब्रह्मलोकान्नामरूपव्याकरणाय श्यामं प्रपद्ये हार्दं ब्रह्म प्रपन्नोऽस्मि तस्मात्तमेव प्रकृतिस्वरूपमात्मानं शबलं प्राद्य इत्यर्थः ।

---

[1] ब्र. सू. न्या. पृ. २८३

[2] द्र. छा. उप. ८-६-५

कथं श्यामाच्छबलप्राप्तिरित्येव उच्यते—

अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभिसंभवामीति ॥ [१] ॥

॥ इति अष्टमाध्याये त्रयोदशः खण्डः ॥

अश्व इव ॥ यथा लोकेऽश्वो रोमाणि विधूय कम्पनेन रोमस्थं पांस्वादिकमपनीय निर्मलो भवति एतं(वं) ध्यानादिना हार्दब्रह्मजपेन पापं धर्माधर्मरूपं विधूय परित्यज्य चन्द्र इव यथा च राहुग्रस्तश्चन्द्रो राहोर्मुखात्प्रमुच्य भास्वरतमो भवति। एवं शरीरं सर्वानर्थाश्रयं धूत्वापहाय ध्यानेन कृतात्मना कृतकृत्यः सन् अकृतम् अनिष्पापं नित्यं ब्रह्मलोकमभिसंभवामि अभिप्राप्नोमि। द्विरुक्तिर्मन्त्रसमाप्तिद्योतनार्था।

'विधूय पापम्' [छा. उप. ८-१२-१] इत्यत्र तस्य विधूतस्य पापस्यान्यैरुपायनं तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे पञ्च[1]माधिकरणे निर्णीतम्।

तत्र प्रथमवर्णकमारचयति-

उपायनमनाहार्यं हानायाह्रियतेऽथवा ।
अश्रुतत्वादनाक्षेपाद्विद्याभेदाच्च नाहृतिः ॥
विद्याभेदेऽप्यर्थवाद आहार्यः स्तुतिसाम्यतः ।
हानस्य प्रत्यभिज्ञानादेकविंशादिवाद्वत् ॥[2]

शाकटायनि[नः] पठन्ति **'तस्य पुत्रादयमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यम्'** इति। अस्यायमर्थः-ज्ञानिनः पुत्रस्थानियाः सर्वेऽपि प्राणिन तदीयवित्तस्थानीयं कर्म यथायोग्यं गृह्णातीति। ताण्डिनस्तु पठन्ति-**'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरम'** [छा. उप. ८-१३ १] इति। तथाथर्वणिकाः पठन्ति-**तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जः परमं साम्यमुपैति** [मुं. उप. ३-१३] इति। निरञ्जनो भाविजन्मकारणरहितः साम्यं ब्रह्मरूपमित्यर्थः। तत्र तत्त्वज्ञानिनः पुण्यपापपरित्यागप्रतिपादिकासु श्रुतिषु... पापयोरितरपुरुषस्वीकारो नोपसंहर्तव्यः। त्यागश्रुतिषु क्वाप्यन्यस्वीकरस्याः(स्य) श्रुतत्वात्। अश्रुतमप्याक्षिप्यत इति चेत्, न। अनुपपत्तेरभावात्। इतरस्वीकारमन्तरेणापि ज्ञानिना परित्याग उपपद्यत एव।

---

[1] 'पञ्चदश' इति समीचीनः पाठः।

[2] ब्र. सू. न्या. पृ. ७२०

किं च इतरस्वीकरणवाक्यं सगुणविद्यायां पठितं त्यागवाक्यं तु निर्गुणविद्यायाम् । तस्मात्केवलानां हानौ श्रूयमाणायां उपायनं नोपसंहर्तव्यमिति प्राप्ते ब्रूमः–सत्यं विद्याभेदो नास्ति । अत एव न वयं उपायनमनुष्ठेयधर्मतयोपसंहरामः, किं त्वर्थवादत्वेन । यथा श्रूयमाणेन पुण्यपापपरित्यागेन ब्रह्मविद्या स्तूयते तथेतरस्वीकारेणापि स्तोतुं शक्यत एव, न चार्थवादत्वमात्रेण हानोपायनश्रुत्योः स्वार्थे तात्पर्याभावः मानान्तरप्रसिद्धिविरोधयोरभावेन भूतार्थवादत्वात् । यत्तु हानश्रुतिषु न क्वाप्युपायनं श्रुतमित्युक्तं तदसत् कौषीतकीश्रुतौ हानोपायनयोरुभयोरवगमात् ।–**तत्सुकृतदुष्कृते विधूनते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्'** [कौ. उप. १–४] इति । तत्तत्र ब्रह्मलोकप्राप्तिवेलायामित्यर्थः । एवं च सति कौषीतकीश्रुतस्य ज्ञानस्याथर्वणिकताण्डिशाखयोः प्रत्यभिज्ञानात् कौषीतकीप्रोक्तस्योपायनस्योपसंहारो युक्तः ।

नन्वर्थवादान्तरापेक्षोऽर्थवादो न क्वापि दृष्टचर इति चेत्, न । सामोपास्तिस्तावकत्वेन श्रुतस्यैकविंशो वा इतोऽसावादित्यस्यावार्थदस्यैकविंशत्वनिर्णयाय तैत्तिरीयगतसत्रप्रकरणास्यार्थवादापेक्षत्वात्–**'द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः'** [तै. सं. ५–१–१०–३] इति । तत्र संख्यानिर्वाहः उक्तः । तस्मादर्थवादत्वेऽपि उपायनमुपसंहर्तव्यम् ॥

द्वितीयवर्णकमारचयति—

[विधू]ननं चालनं स्याद्धानं वा चालनं भवेत् ।
दोधूयन्ते ध्वजाग्राणीत्यादौ चालनदर्शनात् ॥
हानमेव भवेद्वाक्यशेषेऽन्योपायनश्रवात् ।
कर्त्रा न ह्यपरित्यक्तमन्यः स्वीकर्तुमर्हति ॥[1]

सुकृतदुष्कृते विधूनुत इति । अत्र विधूननशब्दस्य दोधूयन्त इत्यादाविव चालनमर्थः न तु परित्याग इति प्राप्ते ब्रूमः–वाक्यशेषे श्रूयमाणस्येतरस्वीकारस्य विना परित्यागमनुपपत्तेः चालनवाचिना विधूननशब्देन परित्याग उपलक्ष्यते ॥

॥ इति सामवेदाथप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने
अष्टमाध्यास्य त्रयोदशः खण्डः ॥

आध्यानाय ब्रह्मणो लक्षणं दर्शयति—

आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा ।

---

[1] ब्र. सू. न्या. पृ. ७२०

आकाश इति ॥ आकाशो वै नाम आकाश इवाशरीरत्वात् सूक्ष्मत्वादात्मा श्रुतिषु प्रसिद्धो नामरूपयो[ः] स्वात्मनि वर्तमानयोर्जगद्बीजभूतयोर्निर्वहिता निर्वोढा व्याकर्तेत्येत्यर्थः । ते नामरूपे यदन्तरा यस्य ब्रह्मणोऽन्तरा मध्ये वर्तेते तद्ब्रह्मेत्यवगन्तव्यम् । तदेवामृतं मरणधर्मरहितमविनाशीत्यर्थः । स एवात्मा सर्वेषु ॥

भूतानां पुनर्जप्यं मन्त्रं दर्शयति–

प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्ये (श्ये)तमदत्कमदत्कँ श्येतं लिन्दु माऽभिगां लिन्दु माऽभिगाम् ॥[१]

॥ इति चतुर्दशः खण्डः ॥

प्रजापतेरिति ॥ प्रजापतेश्चतुर्मुखस्य ब्रह्मणः सभां वेश्म प्रभुनिर्मितं हिरण्मयं मण्डपं प्रपद्ये गच्छेयम् । किं चाहं ब्राह्मणानां यशो भवामि तथा विशां वैश्यानां यशो भवामि त्रयाणामपि वर्णानां ब्रह्मोपासकानामात्मा भवामीत्यर्थः । किं च योऽहं यश आत्मानमुप्रापत्सि प्रपन्नोऽस्मि सोऽहं यशसामात्मानां देहेन्द्रियमनोबुद्धिलक्षणानां यशोऽहं आत्मैव किमर्थमहमेवं प्रपद्य इत्युच्यत उक्तः । श्वेतं यद्वर्णतः पक्वबदरफलसदृशं रोहितमदत्कं यद्यपि दन्तरहितं तथाप्यद(त्कं?)...[ते]जोबलादीनां विनाशयितृस्त्रीव्यंजनं तत्श्येतम् । लिन्दु पिच्छलं स्त्रीव्यंजनाभिगामभिगच्छेयम् । द्विरुक्तिस्तदधिगमस्यात्यन्तानर्थहेतुत्वप्रदर्शनार्था ।

आकाशशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे त्रयोदशाधिकरणे[१] निर्णीतम् । तद्यथा–

वियद्वा ब्रह्म वाकाशो वै नामेति श्रुतं वियत् ।
अवकाशप्रदानेन सर्वनिर्वाहकत्वतः ॥
निर्वोढृत्वं नियन्तृत्वं चैतन्यस्यैव तत्त्वतः ।
ब्रह्मत्वाद्वाक्य[२]शेषे च ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दतः ॥[३]

छान्दोग्यस्याष्ठमाध्यायान्ते श्रूयते–'**आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा**' [छा. उप. ८-१४-१] इति । अस्यार्थः–

---

[१] 'द्वादशाधिकारणे' इति समीचीनः पाठः ।

[२] ब्रह्म स्याद्वाक्य० । –मु. पा.

[३] ब्र. सू. न्या. पृ. २८६

आकाशाख्यः कश्चित्पदार्थः स च जगद्रूपयोर्नामरूपयोर्निर्वाहकः। ते च नामरूपे यस्मादाकाशाद्भिन्ने, अथवा यस्याकाशस्यान्तरे वर्त (र्ते) ते तदाकाशं मरणरहितं ब्रह्म तदेव प्रत्यगात्मेति। तत्र **'आकाशो वै नाम'** [छा. उप. ८-१४-१] इति यच्छ्रुतं तद्वियत्स्यात्। **'नामरूपयोर्निर्वहिता'** [छा. उप. ८-१४-१] इत्युक्तस्य निर्वाहकत्वस्यावकाशप्रदातरि वियति संभवादिति प्राप्ते ब्रूमः–अत्र निर्वाहकत्वं नाम नावकाशमात्रं किं तु नियामकत्वम्। सर्वप्रकारनिर्वाहकस्य नियन्तृत्वेऽन्तर्भावात्तच्च नियन्तृत्वं चेतनस्य ब्रह्मणो युज्यते। श्रुत्यन्तरे श्रूयते च-**'न हि वियता चेतनस्य नियम्यविशेषा न जानतो नियन्तृत्वं न संभवति'**। तत आकाशं ब्रह्म स्यात्। किं च **'तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा'** [छा. उप. ८-१४-१] इति ब्रह्मत्वामृतत्वात्मनि श्रूयन्ते। ततोऽपि ब्रह्मैवाकाशम्॥

॥ इति सामवेदार्थप्रकाशे उपनिषद्व्याख्याने अष्टमस्याध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः॥

यथोक्तां ब्रह्मविद्यां विशिष्टसंप्रदायप्रदर्शनेन स्तौति–

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः॥

तद्धैतदिति॥ तद्धैतत् ब्रह्मज्ञानं सोपकरणं **'ओमित्येतदक्षरम्'** [छा. उप. १-१-१.] इत्यादैरुपासनैः सहितं तत्प्रतिपादकग्रंथरूपयाष्टाध्यायसह ब्रह्मा हिरण्यगर्भः प्रजापतये काश्यपायोवाच ह। सोऽपि प्रजापतिर्मनवे मनुनामधेमाय स्वपुत्रायोवाच। सोऽपि मनुः प्रजाभ्य उवाचेत्येवं ब्रह्मादिपरंपरयाऽऽगतमेतदुपनिषद्विज्ञानमे(मि)ति प्रशस्तमित्यर्थः॥

भवतु ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानस्य मोक्षफलत्वादर्थवत्वं कर्मणां तु न किंचित्प्रयोजनमस्तीत्यानर्थक्यं स्यादिति इममाशंकां निराकर्तुं विद्वद्भिरनुष्ठीयमानानां ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनत्वेनार्थवत्त्वमुपपादयति–

आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिꣳसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते। न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते॥ [१]॥

॥ इति पञ्चदशः खण्डः॥

आचार्यकुलादिति ॥ गुरोराचार्यस्य कर्म यत्कर्तव्यं तत्कर्म गुरुशुश्रूषां कृत्वेत्यर्थः । अतिशेषेण अतिशिष्यत इत्यतिशेषः तेन, यो गुरुशुश्रूषाशून्योऽतिविशिष्टः कालस्तेन कालेनेत्यर्थः । यथाविधानं विधिमनतिक्रम्य स्मृत्युक्तैर्नियमैर्युक्तः सन्नित्यर्थः । वेदमधीत्य वेदाध्ययनं कृत्वा तदर्थं च बुध्द्वा आचार्यकुलादति(भि)समावृत्य निवर्त्य कुटुम्बे स्थित्वा गार्हस्थ्यविहिते कर्मणि तिष्ठन्नित्यर्थः । शुचावमेध्यादिविवर्जिते देशे समासीन स्वाध्यायमधीयानः स्वशक्त्यानुसारेण ने(नै)त्यकमधिकं च ऋगाद्यभ्यासं कुर्वन्नेतेन गार्हस्थ्यविहितकर्मणां मध्ये स्वाध्यायपाठस्य प्राधान्यमुक्तं भवति । धार्मिकान् पुत्रान् शिष्यांश्च धर्मयुक्तान्विदधन्कुर्वन् आत्मनि हार्दे ब्रह्मणि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्योपसंहृत्य सर्वभूतानि स्थावरजङ्गमानि अहिंसन्नपीडयन् विहितकर्मानुष्ठानाय जङ्गमपर्यटनादिना पीडास्यादित्यत उक्तम्—अन्यत्रतीर्थेभ्य इति । तीर्थानामशास्त्रानुज्ञातो विषयस्ततोऽन्यत्रेत्यर्थः । सर्वाश्रमिणां च समानमेतद्यत्तीर्थेभ्योऽन्यत्र हिंसा न कर्तव्येति सोऽधिकृतो......यावज्जीव एवं खलु यथोक्तेन प्रकारेण वर्तयन् देहान्ते ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते प्राप्नोति प्राप्य च पुनर्नावर्तते । ब्रह्मलोकमभिसंपाद्य यावद्ब्रह्मलोकस्थितिः तावत्तत्रैव तिष्ठति इत्यर्थः । द्विरुक्तिरुपनिषद्विद्यापरिसमाप्तिद्योतनार्था ॥

पुनरावृत्तिरहितं मुक्तिस्वरूपं चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे त्रिभिरधिकरणैर्निर्णीतम् । तत्र प्रथमाधिकरणमारचयति—

नाकवन्नूतनं मुक्तिरूपं यद्वा पुरातनम् ।
अति(भि)निष्पत्तिवचनात्फलत्वादपि नूतनम् ॥
स्वेन रूपेणेति वाक्ये स्वशब्दात्तत्पुरातनम् ।
आविर्भावोऽभि निष्पत्तिः फलं चाज्ञानहानितः ॥[२]

'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' [छा. उप. ८-३-४, मै. उप. २-२] इति श्रूयते । अस्यायमर्थः-सम्यक् प्रसीदत्युपाध्युपशान्ताविति संप्रसादो जीवः स च शरीरत्रयाभिमानं परित्यज्य परं ब्रह्म प्राप्य मुक्तरूपेणावतिष्ठत इति तत्रैवं मुक्तरूपं न जीवस्य पूर्वसिद्धं किंतु स्वर्गवदागन्तुकम् । कुतः । अभिनिष्पद्यते इत्युपाद्यत श्रवणात्पूर्वसिद्धत्वे...संसारदशायामपि सद्भावने फलत्वं न स्यात् । तस्मात्स्वर्गवदिदं नूतनं मुक्तिरूपमिति प्राप्ते ब्रूमः– **'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'** [छा. उप. ८-३-४] इति स्वशब्देन विशेषितत्वात् पूर्वमपि विद्यत एवेदं मुक्तिरूपं, न चात्र स्वशब्दः स्वकीयत्वमभिधत्ते, विशेषण-

---

१. वोऽपि–मुपा

२. ब्र. सू. न्या. पृ. ८२९

वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । यद्यद्रूपं मुक्तावुपादत्ते तत्तत् स्वकीयमेवेति कस्य व्यावृत्तये विशेष्येत, आत्मवाचित्वे तु स्वशब्दस्य स्वकीयत्वव्यावृत्तिः प्रयोजनं चाभिनिष्पत्तिरुत्पत्तिः पूर्वसिद्धस्योत्पत्त्यसंभवात् । किं तर्हि तत्त्वज्ञानेन ब्रह्मत्वाविर्भावानिष्पत्तिः न चैवं संपाद्याभिनिष्पद्यत इत्यनयोः पुनरुक्तिरिति शङ्कनीयं संपत्तिशब्देन तत्पदार्थशोधनस्य विवक्षितत्वात् । अभिनिष्पत्तिस्तु वाक्यार्थावबोधपरः । न च पूर्वसिद्धत्वे मुक्तिरूपस्य फलत्वविरोधः निवृत्तज्ञानत्वाकारेण पूर्वासिद्धत्वाभावात् । तस्मात्पुरातनस्त्वेव मुक्तिरूपम् ।

द्वितीयाधिकरणमारचयति—

मुक्तरूपाद्ब्रह्मभिन्नमभिन्नं वाथ भिद्यते ।
संपद्य ज्योतिरित्येवं कर्मकर्तृभिदोक्तितः ॥

अभिनिष्पन्नरूपस्य स उत्तमपुमानिति ।
ब्रह्मत्वोक्तेरभिन्नं तद्भेदोक्तिरूपचारतः ॥[1]

पूर्वाधिकरणनिर्णितं यदेतन्मुक्तस्य स्वरूपं तत्परस्ताद्ब्रह्मणो भिन्नं भवितुमर्हति । कर्मकर्तृभेदव्यपदेशात् । **‘एष संप्रसादः...परं ज्योतिरुपसंपद्य’** [छा. उप. ८-३-४] इत्यत्र संप्रसादशब्दोदितो जीव उपसंपत्तौ कर्तृत्वेन व्यपदिश्यते । ज्योतिः शब्दः वाञ्छां च ब्रह्म कर्मत्वेन तस्मान्मुक्तजीवस्य स्वरूपं ब्रह्मणो भिन्नमिति प्राप्ते ब्रूमः- **“ज्योतिरुपसंपद्य”** [छा. ३५ ८-३-४] इति वाक्यं तत्पदार्थशुद्धिविषयमुक्तम् । अतस्तदानीं भेदोऽस्तु नाम तत उपरि **‘स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते’** [छा. उप. ८-३-४] इति वाक्यं वाक्यार्थदशापन्नं मुक्तस्वरूपं प्रतिपादयति । न च तस्य ब्रह्मणा सह भेदोऽस्ति । **‘स उत्तमपुरुषः’** [छा. ३५ ८-१२-३] इति वाक्ये तच्छब्देनाभिनिष्पन्नरूपं मुक्तस्वरूपं परामृश्यत(ते) । [त]स्योत्तमपुरुषशब्दवाच्यब्रह्मस्वरूपाभिधानात् । तस्मान्मुक्तस्वरूपं ब्रह्माभिन्नम् ।

तृतीयाधिकरणमारचयति-

क्रमेण युगपद्वास्य सविशेषाविशेषते ।
विरुद्धत्वात्कालभेदाद्व्यवस्था श्रुतयोस्तयोः ॥

मुक्तामुक्तदशोर्भेदाद्व्यवस्थासंभवे सति ।
अविरुद्धं यौगपद्यमश्रुतं क्रमकल्पनम् ॥[2]

---

१. ब्र.सू.न्या. पृ. ८९४

२. ब्र.सू.न्या. पृ. ८९४

भु(मु)क्तस्य स्वरूपभूतं ब्रह्मं श्रुतिषु द्विधा प्रतिपाद्यते । क्वचित्सविशेषं क्वचिन्निर्विशेषम् । तथा हि **‘य आत्मापहतपाप्मा विरजो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः’** [छा, उप. ८–७–१] इति सविशेषश्रुतिः **‘स यथा सैंधवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवेति** [बृ. उप. ४–५–१३] इति निर्विशेषत्वश्रुतिः...... सविशेषत्वनिर्विशेषत्वे मुक्तिदशायां ब्रह्मणो युगपत्संभवतः परस्परविरुद्धत्वात् । अतः कालभेदेनोभे व्यवस्थापनीय इति प्राप्ते ब्रूमः–प्रतिपत्तृभेदाद्युगपदेव सविशेषत्वनिर्विशेषत्वे उपपद्येते मुक्तप्रतिपत्त्या निर्विशेषत्वमेव बद्धप्रतिपत्त्या तु मुक्तस्वरूपं ब्रह्म सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टं सज्जगत्कारणत्वेनावभासते । नहि मुक्ताः पुरुषाः कदाचिदपि सर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पत्वादिगुणयुक्ता वयमिति प्रतिपद्यन्ते । तत्प्रतिपत्तिहेतुभूताया विद्याया विनाशितत्वात् बद्धपुरुषास्त्वविद्यायुक्ताः सन्तो निर्विशेषमेव ब्रह्म सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टमिति कल्पयन्ति । अतः प्रतिपत्तिभेदाद्व्यवस्थासिद्धौ किमनेन कालभेदकल्पनेन । तस्माद्युगपदेव सविशेषनिर्विशेषत्वे ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

॥ इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-
-श्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये
सामवेदार्थप्रकाश उपनिषद्व्याख्यानेऽष्टमाध्यायस्य
पञ्चदशः खण्डः ॥ समाप्तश्चाध्यायः ॥

॥ समाप्ता छान्दोग्योपनिषद् ॥

श्रीविद्याशंकाराय नमः । श्रीविद्यारण्यश्रीगुरुभ्यो नमः ।
श्रीभारतीतीर्थश्रीगुरुभ्यो नमः ॥

विद्यातीर्थाङ्घ्रिगुरवे परस्मै तेजसे नमः ।
यस्य नाङ्गीकृतस्नेहदशाहानिः कदाचन ॥

श्रीसाम्बसदाशिवाय नमः । श्रीरस्तु ॥

श्रीशुभं भवतु ॥

परिशिष्ट-१

उद्धरणसूचि

[इस परिशिष्टमें छान्दोग्योपनिद्दीपिका में सायणाचार्य द्वारा उद्धृत श्रुति एवं पुराण वाक्यों के मूल स्रोत के साथ दिया गया है। जहां मूल ग्रंथ प्राप्त नहि हुआ है वहाँ ? प्रश्नचिह्न लगाया है। एक बात नोंधपात्र है प्रवर्ग्यं...प्रवृणक्ति यह वाक्य में आरंभ एक स्थान पर प्राप्त हुआ और अंतका भाग अन्यत्र। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे आचार्यों अपनी स्मृतिके आधार पर ऐसे उद्धरण देते थे।]

अग्निर्भूत्वा मुखं प्राविशत् (ऐ. उप. २-४) 188-189

अग्निर्हिमस्य भेषजम् (तै. सं. ७-४-१-८) 94

अग्नीषोमीय पशुमालभेत (?) (द्र. ब्र सू. शां. भा. ३-१-२५) 64

अग्नेरापः (तै. उप. २-१) 246

अजः पशूनाम् (द्र. छा. उप. शां. भा. २-६-१) 83

अथ पुनर्व्रती वाव्रती स्नातको वास्नातको........ (-जाबा. उप. ४) 74

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे......(बृ. उप. ४-५-१) 17

अथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणः (बृ. उप. १-५-२१) 189

अद्भ्यः पृथिवी (तै. उप. २-१) 247

अनिरुक्तः प्रजापतिः (कौ. ब्रा. २३-२; २२-७; तां. ब्रा. ७-८-३.) 45

अन्नमया हि प्राणा अन्नोपष्टंभकाः (?) (द्र. मैत्राण्युपनिषद् ६-११) 299

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता ......(श्वे. उप. ३-१९) 104-105

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः (मुं. उप. २-१-२) 106

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् (ब्र. सू. २-१-५) 14

अयमग्निर्वैश्वानरो यो......(बृ. आ. उप. ५-९-१, मैत्री उप. २-३) 229

आकाशाद्वायुः वायोरग्निः (तै. उप. २-१) 131

आदित्यो ह वै बाह्यप्राणः (द्र. जै. उप. ४-२२-११) 98

आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम (?) (द्र. ब्र. सू. शां भा. १-३-३३) 92

आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत् (ऐ. उप. २-४) 160

आनीदवातम् (ऋ. वे. १०-१२९-२) 187

आप्नोति स्वाराज्यम् (तै. उप. १-६) 347

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव...(बृ. उप. २-२-४) 91

इयमेव जुहूरादित्यः स्वर्गलोकः (द्र. ब्र. सू. शां भा. ३-४-२१ तुल. मा. शं. ब्रा. ७-५-१-६) 9

इहैव सर्वे प्रलीयन्ते कामाः (मु. उप. ३-२-३) 284

उत्क्रान्तिराहुत्योर्गतिः प्रतिष्ठा (?) 197

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥ (?) 327

उद्गीथ एवोद्गातॄणाम् (तै. सं. ३-२९-५, ६) 26

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेत् द्विजः ।...(मनुस्मृति २-१४०) 148

उभे उ हैवैष एते तरन्ति (बृ. उप. ४-४-२२) 288

उष्ण एव हि जीविष्यंच्छीतो मरिष्यन्निति हि विज्ञायते (द्र. छा. उप. शां. भा. ३-१३-८) 101

ऋषयो वाव तदग्रे...(?) (द्र. ब्र. सू. शां. भा. २-४-१) 185

एकस्मिन् विदुषि भुंक्ते सर्वं जगत्तृप्यति (?) 222

एतदेवाक्षरं ब्रह्मैतद्धेवाक्षरं परम्-(कठ. उप. २-१६) 73

एतस्माज्जायते प्राणो (मु. उप. २-१-३) 185; 187

एतस्मिन् खल्वक्षरे गार्ग्याकाश (बृ. उप. ३-८-११) 331

एता वा आपः स्वराजो...(?) (द्र. छा. उप. शां भा. ३-१-१) 79

एते वै देवाः प्रत्यक्षं यत् ब्राह्मणाः (?)-(द्र. अथ हैते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः-ष. विं. ब्रा. १-१) 69

एवं विद्वानुद्गायति (जै. उ ब्रा. २-८-९) 4

एष संप्रसादोऽस्मात्...(मै. उप. २-२; छा. उप. ८-३-४) 369, 370

एष सर्वेषु भूतेषु...(क. उप. ३-१२) 2

ओंकारो वै सर्वा वाग् (?) 73

कतम आत्मा (बृ. उप. ४-३-७) 245

गायत्र्युदपतच्चतुराक्षरा...(तै. सं. ६-१-६-७) 95

ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं (तै. सं. ३-१-२) 6

चक्षुषश्चक्षुः (केन उप. १-२; बृ. उप. ४-४-१८) 156

चमसेनापः प्रणयेद्गोदोहनेन पशुकामस्य (आ. श्रौ. सू. १-१६; वा. श्रो. सु. १-२-४-५) 5

चित्रं देवानामुदगात् (ऋ. वे. १-१५१-१; ऐ. ब्रा. ३-९; अ. वे. १३-३-३५, २०-११७-१४; तै. सं. १-४-४३-१, २-४-१४-४; तै. ब्रा.

२–८–७–३; तै. आ. १–७–६; २–१३–१; नि. १२–१६) 42
जनको ह वैदेह आसांचक्रे (बृ. उप. ४–१–१) 17
ज्योतिंषि भावाच्च (ब्र. सू. १–३–३२) 91
ज्योतिः पश्यन्ति वासरां (ऋ. वे. ८–६–३०) 116
ज्योतिश्चरणाभिधानात् (ब्र. सू. १–१–२४) 102
तं यद्यथा यथोपासते तदेव भवति (?) (द्र. ब्र. सू. शां. भा. ४–३–१५) 165
तत्सुकृतदुष्कृते विधूनते...(कौ. उप. १–४) 366
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय...(मुं. उप. ३–१–३) 365
तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथा ऋषीणाम् (बृ. उप. १–४–१०) 92;93
तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा...(बृ. उप. ४–४–२२) 3
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्...(मुं. उप. २–२–११, श्वेता. उप. ६–१४) 116
तस्मात् सर्व एव मन्यते । मां प्रत्युदगादिति–(तै. सं. ६–५–४–२) 56
तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः (तै. उप. २–१) 331
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (कठ उप. ५–१५; मुं. उप. २–२–११) 158
तस्यैवं विदुषा यज्ञस्यात्मा यजमान (?) 1'6
तानि मृत्युः श्रमो भूत्वा (बृ. उप १–५–२१) 189
तेजो घृतम् (?) 255
ते सर्वे गच्छन्ति (कौषी. उप. १–२) 211
त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च...(बृ. उप. ३–९–१) 11
त्रिवृदिव वै चक्षु शुक्लं कृष्णं कनीनिकेति (?) 31
त्वाष्ट्र वै रूपाणामीशः (?) 218
दशाक्षरा विराट्, अन्नं विराट् (जै. ब्रा. २–३४०) 134
देवः सवितः प्रसुवे (य. वे. ९–१, ११–७, ३०–१.) 6
द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय लोका असावादित्य एकविंशः–(तै. सं. ५–१–१०–३) 60;366
द्वितीयेऽहनि यमो वैवस्वतो राजा (द्र. श. ब्रा. (१३–४–३८६) 17
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ (गीता ७–११) 104
धीघनबाधनायास्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छ्य...(?) 243
ध्यायतीव लेलायतीव (बृ. उप. ४–३–७) 249
न कञ्चन कामं कामये (मा. उप. ५; द्र. बृ. उप. ४–३–१९) 97

न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान् (बृ. उप. ४-४-२३) 159
न चात्रातीव कर्तव्यं (श्लोकवार्तिक १-१-४) 14
न जरया बिभेति (क. उप. १-१२) 25
न वै वाचो न चक्षूंषि (?) 189
न हि निन्दनिन्द्यं निन्दितुम्, अपि च स्तुत्यं स्तोतुम् (?) 159
न हि वियता चेतनस्य...(?) 368
न हिंस्यात् सर्वा भूतानि (?) (द्र. ब्र. सू. शां. भा. ३-१-२५) 64
नाभुक्तं क्षीयते कर्म...(?) 287
नामरूपे सत्यम्। ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः (बृ. उप. १-६-२) 319
नासदासीत् (ऋ. वे. १०-१२९-१) 187
निष्क्रियं शान्तं निरवद्यम् (श्वे. उप. ६-१९) 239
नैषा तर्केण मतिरापनेया (कठ उप. २-९) 243
पराञ्चि खानि व्यतृणत्...(कठ उप. ४-१) 340
परास्य शक्तिर्विविधा...(श्वे. उप. ६-८) 251
पारिप्लवमाचक्षीत (आ. श्रौ. सू. १०-६-१०) 17
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च (गीता ७-९) 104
पूर्वोतिथिभ्योऽश्नीयाद् (जाबालश्रुतिवचनम् द्र. ब्र. सू. शां. भा. ३-३-४०) 231
प्रथमेऽहनि मनुर्वैवस्वतो राजा (शां. श्रो. सू. १६-२-१) 17
प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयेत् (वै. श्रौ. सू. २-७, सत्या. श्रौ. सू. २-२-३२) 49
प्रवर्ग्यं...प्रवृणक्ति...(द्र. मा. श ब्रा. ९-२-१-१८) 7
प्राणः स वायुः (द्र. ब्र. सु. शां. भा. २-४-९) 187
प्राणस्य प्राणम् (बृ. ४-४-१८) 43
प्राणा वै सत्यम्। तेषामेष सत्यम् (बृ. उप. २-१-२०) 319
ब्रह्मचर्यं समाप्य गृहीभवेत् गृहीभूत्वा वनी...(जाबा. उप. ४) 74
ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी...(द्र. छा. उप. शां. भा. ४-२-५) 130
ब्रह्मणा सह ते सर्वे (द्र. ब्र. सू. शां. भा. ४-३-११) 164
ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि (?) 41
ब्रह्मैव सत् ब्रह्माप्येति (?) 284
भावं तु बादरायणोऽस्ति हि (ब्र. सू. १-३-३३) 92
मनोमयानि ब्रह्मलोके शरीरादीनि (इति पुराणवाक्यम् ?) 340
मनोऽस्य दैवं चक्षुः (?) 255

मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपम् (ऐ. आ. ३-१-१) 61
मन्त्रेषु कवयो यान्यपश्यत् (मु. उप. १-२-१) 299
मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः (ब्र. सू. १-३-३१) 90
म्रियमाणस्य नाद्यापि (?) 189
मेधातिथेश्चार्थमस्ति । मेधातिथिं हि काण्वायनं...(षड्विंश ब्रा. १-१) 92
यं यं वाऽपि स्मरन्भावं...(गीता ८-६) 103
यतो वाचो निवर्तन्ते...(तै. उप. २-४; २-९) 293
यत्स्तूयते तद्विधीयते (?) 167
यथा ह वै स्वयमहुत्वाग्निहोत्रं...(जाबालश्रुतिवचनम् द्र. शां. भा. ३-३-४०) 231
यदन्तरा पितरं मातरं च (?) 203
यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति (?) 268
यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभि...(बृ. उप. ४-४-१६) 337
यस्य पर्णमयी जूहुः...(तै. सं. ३-५-७-२) 4
येनावृतं खं च दिवं महिं च (महाना. उप. १-३) 331
ये प्रजामेषिरेऽधीरा...(?) (द्र. छा. उप. शां. भा. ५-१०-२) 203
ये वै के चास्माल्लोकात् (कौषी. उप. १-२) 211
यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः (कौ. उप. ३-३) 104
यः प्राणः स वायुः (द्र. ब्र. सू. शां. भा. २-४-९) 187
लोकाय वै यजते यो यजते (?) 75
वर्णात्कारः (वा. २२२७; द्र. पा. सू. ३-३-१०८) 45
वाङ्मनसि संपद्यते (?) 296
वायुरेवेष व्यष्टिः वायुः समष्टिः (द्र. बृ. उप. ३-३-२) 188
वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता (तै. सं. २-१-१-१) 94
वायोरग्निः, अग्नेरापः (तै. उप. २-१) 131
वायोरग्निः (तै. उप. २-१) 246
विरोधे गुणवादः स्याद्...(न्यायसिद्धान्तमञ्जरी-४) 94
वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते (?) (द्र. ब्र. सू. शां भा. ३-४-१८) 74
वैवस्वतं संगमनं जनानां (?) (द्र. ब्र. सू. शां. भा. ३-३-१३) 211

वैश्वानरः कस्मात् ? विश्वान्नरान्नयति...विश्वे नरा नयन्तीति वा...(नि. ७-६-११) 223
शतायुः पुरुषः-(तै. सं. २-३-१-१) 62
शरीरात्समुत्थाय [परं] ज्योति...(मै. उप. २-२; छां. उप. ८-३-४) 364
श्येनो वा सुपर्णो वा (बृ. उप. ४-३-१९) 262
श्रद्धा वा आपः...(?) 198
स एतं देवयानं पंथानम् (कौ. उप. १-३) 162
स एष महाजन आत्मा (बृ. आ. उप. ४-४-२५) 245
स एष रसानां रसतमः परमः (?) 9
सप्तप्राणाः प्रभवन्ति...(मुं. उप. २-१-८) 184
सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः (तै. सं ५-१-७-१) 185
समुद्राः सरितः सरांसि वाप्यः कूपा यज्ञा मंत्रादयश्च । भूतिमन्तो ब्रह्माणमुपतिष्ठन्ते (इति पुराणवाक्यम् ?) 340
समः प्लुषिणा समो मशकेन (बृ. उप. १-३-२२) 188
स यथा सैंधवनो...(बृ. उप. ४-५-१-३) 371
सर्वं प्रविध्य...(?) (द्र. ब्र. सू. शां. भा. ३-३-२५ सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य (?) द्र. ब्र. सू. शां. भा. ३-३-२५) 6
स वायुमागच्छति (बृ. उप. ५-१०-.) 162
स श्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः...(बृ. उप. १-५-२१) 262
सह शाखया प्रस्तरं प्रहरन्ति (का. श्रौ. सू. ४-२-४२) 49
स हि सर्वस्य कर्ता (द्र. बृ. उप. ४-३-१०) 104
सामान्या कारणवृत्ति प्राणाद्य...(द्र. ब्र. सू. शां. भा. २-४-९) 187
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य (भ. गी. १८-४६) 11
हस्तौ चादातव्यं...(प्र. उप. ४-८) 186

परिशिष्ट-२

वैयासिकन्यायमाला सूचि

[भाष्यकार सायणाचार्यने छान्दाग्योपनिषद्दीपिकामें भारतीतीर्थमुनिकी **वैयासिकी-न्यायमाला** में से पर्याप्तमात्रामें उद्धरण दिये है । यह न्यायमाला में महर्षि बादरायण द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्रों के अधिकरणोंका सार दिया गया है । इस–न्यायमालाका संदर्भ यहां **ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्** (रत्नप्रभा–भारती–न्यायनिर्णय–व्याख्यात्रयोपेतम्) की निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वारा १९३४में प्रकाशित आवृत्ति से दिया गया है । इसको इस प्रकार प्रस्तुत किया है–**अङ्गध्यानं याजमान...**(ब्र.सू. ३–४–१३, सू. ४४–४६) ब्र.सू.न्या. पृ. ८१५, 4. इसका अर्थ है ब्रह्मसुत्रके तृतीय अध्यायके चतुर्थपादके १३वें अधिकरणमें ४४ से ४६ सूत्रके लिये यह दो कारिकायें प्रस्तुत है । ब्र.सू.न्या.पृ. का अर्थ है ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यकी वैयासिकी-न्यायमाला की उपर्युक्त आवृत्ति की पृष्ट संख्या। अंतमें जो अंग्रेजीमें संख्या है वह इस मुद्रित छान्दोग्योपनिषद्दीपिका की पृष्ट संख्याका निर्देश करती है ।

यहां एक विशिष्ट बात विद्वानोंके ध्यान पर लाने की है कि **यः प्रजापति विद्यायाम्** से आरंभ होती हुई दो कारिकायें सायणाचार्यने उद्धुत की है वह मुद्रित निर्णयसागर के ग्रंथमें प्राप्त नहीं होती हैं। यह एक संशोधनका विषय है।]

अङ्गध्यानं याजमान...ब्र.सू. (३–४–१३ सू. ४४–४६)
ब्र.सू.न्या. पृ. ८१५, 4

एका भिन्नाथवोद्गीथ...(ब्र.सू. ३-३-३ सू. ६-८)
ब्र.सू.न्या पृ. ६८०, 17

आरब्धे नश्यतो नो वा...(ब्र.सू. ४–१–११ सू. १५)
ब्र.सू.न्या. पृ. 288

आवेष्टितो वेष्टितो वा...(ब्र.सू. ३–१–१ सू.–१–७)
ब्र.सू.न्या. पृ. ५९३, 209

आकाश इति होवाच...(ब्र.सू. १–१–८ सू. २२)
ब्र.सू.न्या. पृ. १३४, 38

आदित्यादावङ्गदृष्टि...(ब्र.सू ४–१–५ सू. ६)
ब्र.सू.न्या. पृ. ८३७, 21

उक्थ्यादिधीः स्वशाखा...(ब्र.सू. ३–३–३१ सू. ५५–५६)
ब्र.सू.न्या. पृ. ७६९, 5

उपास्तिबोधयोर्मार्गः...(ब्र.सू. ३-३-१७ सू. २९-३०)
ब्र.सू.न्या. पृ. ७२८, 160
एकीकृत्य पृथग्वा स्याद्...(ब्र.सू. ३-३-२८ सू. ४३)
ब्र.सू.न्या. पृ. ७५३, 136
किमन्यधीर्ब्रह्माणे...(ब्र.सू. ४-१-४ सू. ५)
ब्र.सू.न्या. पृ. ८३५ 120-121
किमिन्द्रियाण्यनादीनि...(ब्र सू. २-४-१ सू. १-४)
ब्र सू.न्या. ५६५ 185
किमङ्गोपास्तिसंयुक्त...(ब्र.सू. ४-१-१३ सू, १८)
ब्र.सू.न्या. पृ. ८५२, 12; 289-290
किमध्यासोऽथवा बाध...(ब्र.सू. ३-३-४ सू. ९)
ब्र.सू.न्या. पृ. ६८६, 7
क्रमेण युगपद्वास्य...ब्र.सू. ४-४-३ सु. ५-७)
ब्र.सू.न्या. पृ ८९४, 370
चन्द्रं याति न वा पापी..(ब्र सू. ३-१-३ सू. १२-२१)
ब्र.सू.न्या. पृ ६१०, 210
छायाजीवौ देवतेशौ...(ब्र.सू. १-२-४ सू. १३-१७)
ब्र सू.न्या. पृ. १७५, 160
जगत्स्रष्टृत्वमस्त्येषां...(ब्र.सू. ४-४-७ सू. १७ से २२)
ब्र.सू.न्या. पृ. ९०२ 346
ज्ञानिनः पापलेपोऽपि...(ब्र.सू. ४-१-९ सू. १३)
ब्र.सू.न्या. पृ. ८४५, 287
तदैक्षतेति वाक्येन...(ब्र.सू. १-१-५ सू. ५-११)
ब्र.सू.न्या पृ. १०२, 243
ता अन्नमसृजन्तेति...(ब्र.सू. २-३-६ सू. १२)
ब्र.सू.न्या. पृ. ५१७, 247
ध्येयो वैश्वानरांशोऽपि...(ब्र.सू. ३-३-३२ सू. ५७)
ब्र.सू.न्या. पृ. ७७१, 230
न लुप्यते लुप्यते वा...(ब्र.सू. ३-३-२६ सू. ४०-४१)
ब्र.सू.न्या. पृ. ७४६, 230-231
नश्येन्नो वाग्निहोत्रादि...(ब्र.सू. ४-१-१२ सू-१६-१७)
ब्र.सू.न्या. ८५१, 289

नाकवन्नूतनं मुक्ति...(ब्र.सू. ४-४-१ सू. १-३)
ब्र.सू.न्या. पृ. ८९२, 369
नाधिक्रियते विद्यायां...(ब्र.सु. १-३-८ सू. २६-३३)
ब्र.सू.न्या. पृ. २४६, 93
नानाविधो ब्रह्मलोक...(ब्र.सू. ४-३-१ सू. १)
ब्र.सू.न्या. पृ. ८७२, 161
नास्त्यूर्ध्वरेता: किं वास्ति...(ब्र.सू. ३-४-२ सू. १८-२०)
ब्र.सू.न्या. पृ. ७८९ 74
नित्या अङ्गावबद्धा स्युः...(ब्र.सू. ३-३-२७ सू. ४२)
ब्र.सू.न्या. पृ. ७५०, 4
निमित्तमेव ब्रह्म स्याद्...(ब्र.सू. १-४-७ सू. २३-२७)
ब्र.सू.न्या. पृ. ३३७ 244
निरात्मानोऽनेकदेहा...(ब्र. सू. ४-४-६ सू. १५ से १६)
ब्र.सू.न्या. पृ. ९०० 346
परं ब्रह्माथ वा कार्यम्...(ब्र.सू. ४-३-५ सू. ७-१४)
ब्र.सू.न्या. पृ. ८७९, 164
पारिप्लवार्थमाख्यानं...(ब्र.सू. ३-४-४ सू. २३-२४)
ब्र.सू. न्या. पृ. ७९९, 17
पुण्येन लिप्यते नो वा...(ब्र.सू. ४-१-१० सू. १४)
ब्र.सू.न्या. पृ. ८४८, 288
प्रतीकेऽहं दृष्टिरस्ति...(ब्र.सू. ४-१-३ सू. ४)
ब्र.सू.न्या. पृ. ८३४, 120
प्रतीकोपासकान् ब्रह्म...(ब्र.सू. ४-३-६ सू. १५-१६)
ब्र.सू.न्या. पृ. ८८९ 164-165
प्राणस्य वृत्तयोऽक्षाणि (ब्र.सू. २-४-८ सू. १७-१९)
ब्र. सू. न्या. पृ. ५८५ 189
प्रत्णोऽयं विभुरन्यो...ब्र.सू. २-४-६ सु-१३
ब्र. सू. न्या. पृ. ५८१ 188
बहुजन्मप्रदारब्ध...(ब्र. सू. ४-१-१४ सू. १९)
ब्र. सू. न्या. पृ. ८५४, 290
ब्रह्मणोऽपां जन्म किं वा....(ब्र. सू. २-३-६ सू. १२)
ब्र. सू. न्या. पृ. ५१७, 246

भूमा प्राणः परेशो वा...(ब्र. सू. १-३-२ सू. ८-९)
ब्र. सू. न्या पृ. २११, 327
भोग्यसृष्टावस्ति बाह्यो...ब्र. सू. ४-४-४ सू. ८-९)
ब्र. सू. न्या. पृ. ८९६, 345
मनोमयोऽयं शारीर...(ब्र. सू. १-२-१ सू. १-८)
ब्र. सू. न्या. पृ. १६०, 106
मार्गः श्रुतस्थलेष्वेव...(ब्र. सू. ३-३-१८ सू. ३१)
ब्र. सू. न्या. पृ. ७३०, 161
मार्गाचिह्नं भोगभूर्वा...'ब्र. सू. ४-३-४ सू. ४-६)
ब्र. सू. न्या. पृ. ८७६, 163
मुखस्थो वायुरीशो वा...(ब्र. सू. १-१-९ सू. २३)
ब्र. सू. न्या. पृ. १३७, 43
मुख्यः प्राणः स्यादनादिः...(ब. सू. २-४-४ सू. ८)
ब्र. सू. न्या. पृ. ५७५, 186
मुक्तरूपाद् ब्रह्मभिन्न...(ब. सू. ४-४-२ सू. ४)
ब्र. सू. न्या. पृ. ८९४, 370
यः प्रजापतिविद्यायां
यह दो कारिका ब्र. सू. न्या. में उपलब्ध नहीं है ।
लोककार्याश्रमी ब्रह्म...(ब्र. सू. ३-४-२ सू. १८ से २०)
ब्र. सू. न्या. पृ. ७८९, 74–75
वरुणादेः सन्निवेशो...(ब्र. सू. ४-३-३ सू. ३)
ब्र. सू. न्या. पृ. ८७६, 163
वसिष्ठत्वाद्यनाहार्य...(ब्र सू. ३-३-५ सू. १०)
ब्र. सू. न्या. पृ. ६८९, 190
वायुर्वाऽक्षक्रिया वाऽन्यो...(ब्र. सू. २-४-५ सू. ९ से १२)
ब्र. सू. न्या ५७७, 187
विधूननं चालनं स्याद्...(ब्र. सू. ३-३-१६ सू. २६)
ब्र. सू. न्या. पृ. ७२०, 366
वियदादिस्वरूपत्वम्...(ब्र. सू. ३-१-४ सू. २२)
ब्र. सू. न्या. पृ. ६१५, 211
वियद्वा ब्रह्म वाकाशो...(ब. सू. १-३-१२ सू. ४१)
ब्र. सू. न्या. पृ. २८६, 367

वैद्यमन्त्रप्रवर्ग्यादि...(ब्र. सू. ३-३-१४ सू. २५)
ब्र. सू. न्या. पृ. ७११, 6
वैश्वानरः कौक्षभूत...(ब्र सू. १-२-७ सू. २४ ३२)
ब्र. सू. न्या. पृ. १९३, 229
व्यवस्थितावैच्छिकौ वा...(ब्र. सू. ४-४-५ सू. १० १४)
ब्र. सू. न्या. पृ. ८९८, 345
व्यापीन्यणूनि वाक्षाणि...(ब्र. सू. २-४-३ सू. ७)
ब्र. सू. न्या. पृ. ५७४, 186
व्रीह्यादेः प्राग्विलम्बेन...(ब्र. सू. ३-१-५, सू. २३)
ब्र. सू. न्या. पृ. ६१६, 211
व्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्...(ब्र. सू. ३-१-६ सू. २४ २७)
ब्र. सू. न्या. पृ. ६१७ 212
संनिवेशयितुं वायु...(ब्र. सू. ४-३-२ सू. २)
ब्र. सू. न्या. पृ. ८७४, 162
सप्तैकादश वाऽक्षाणि...(ब्र. सू. २-४-२ सू. ५ ६)
ब्र. सू. न्या. पृ. ५७०, 185
सद् ब्रह्म जायते नो ना...(ब्र. सू. २-३-२ सू. ९)
ब्र. सू. न्या. पृ. ५१३, 245
समुच्चयोङ्गावबद्धेषु...(ब्र. सू ३-३-३६ सू. ६१ ६६)
ब्र. सू. न्या. पृ. ७७७, 5
सर्वाशनविधिः प्राण...(ब्र. सू. ३-४-७ सू. २८ ३१)
ब्र. सू. न्या. पृ. ८०४, 191
स्तोत्रं रसतमत्वादि...(ब्र. सू. ३-४-३ सू. २१ २२)
ब्र. सू. न्या. पृ. ७९६, 9
स्वतन्त्रा देवतन्त्रा वा...(ब्र. सू. २-४-७ सू. १४ १६)
ब्र. सू. न्या. पृ. ५८२, 188
स्वर्गावरोही क्षीणानु...(ब्र. सू. ३-१-२ सू. ८ १२)
ब्र. सू. न्या. पृ. ६०३, 209
हिरण्मयो देवतात्मा...(ब्र. सू. १-१-७ सू. २० २१)
ब्र. सू. न्या. पृ. १३०, 32

परिशिष्ट-३

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

[यह अनुक्रमणिका में जिस मंत्रके सामने * चिन्ह दिया है उसका आरभका पाठ मुद्रितपाठसे भिन्न है ।]

मन्त्रप्रतीकानि	अ.खं.म.	पृष्ठ
अग्निर्हिङ्कारों वायुः	२-२०-१	68
अग्निष्टे पादं वक्तेति	४-६-१	141
अजा हिङ्कारोऽवयः	२-१८-१	66
अतो यान्यन्यानि	१-३-५	22
अत्र यजमानः परस्तादा	२-२४-६	76
,, ,,	२-२४-१०	77
अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्	५-१२-२	217
,, ,,	५-१४-२	219
,, ,,	५-१५-२	220
,, ,,	५-१६-२	221
,, ,,	५-१७-२	222
* अथ आत्मा सु सेतु	८-४-१	337
अथ खलु य उद्गीथः	१-५-१	26
,, ,,	१-५-५	27
अथ खलु व्यानमेवोद्गीथम्	१-३-३	21
अथ खलूद्गीथाक्षराणि	१-३-६	22
अथ खल्वमुमादित्यम्	२-९-१	56
अथ खल्वात्मसंमितमति०	२-१०-१	59
अथ खल्वाशीः	१-३-८	23
अथ खल्वेतयर्चा पच्छः	५-२-७	183
अथ जुहोति नमः	२-२४-१४	78
अथ जुहोति नमो वायवे	२-२४-९	77
अथ जुहोति नमोऽग्नये	२-२४-५	76
अथ तत ऊर्ध्वः	३-११-१	88
*अथ तदेवैतदादित्यस्य	१-६-६	28

मन्त्रप्रतीकानि	अ खं मं	पृष्ठ
अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ	५-२-६	182
अथ य इमे ग्रामे	५-१०-३	203
* अथ य चैवा	४-१५-५	159
अथ य एतदेवं विद्वान्	१-७-७	31
अथ य एवायं	१-२-७	15
अथ य एष सम्प्रसादः	८-३-४	336
अथ य एषोऽन्तरक्षिणि	१-७-५	30
अथ यच्चतुर्थममृतम्	३-९-१	87
अथ यत्तदजायत	३-१९-३	121
अथ यत्तपो दानम्	३-१७-४	114
अथ यत्तृतीयममृतम्	३-८-१	86
अथ यत्पञ्चमममृतम्	३-१०-१	88
अथ यत्प्रथमास्तमिते	२-९-८	59
अथ यत्प्रथमोदिते	२-९-३	57
अथ यत्र तत्पुरुषः	६-८-५	266
अथ यत्रैतदबलिमानम्	८-६-४	342
अथ यत्रैतदस्माच्छरीराद्	८-६-५	342
अथ यत्रैतदाकाशम्	७-१२-४	361
अथ यत्रोपाकृते	४-१६-४	167
अथ यत्सङ्गववेलायाम्	२-९-४	57
अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने	२-९-५	58
अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते	८-५-२	338
अथ यदतः परो दिवः	३-१३-७	101
अथ यदनाशकायन	८-५-३	338
अथ यदवोचं भुवः	३-१५-६	108

मन्त्रप्रतीकानि	अ खं.मं.	पृष्ठ
अथ यदवोचं भूः	३-१५-५	108
अथ यदवोचꣳस्वः	३-१५-७	108
अथ यदश्नाति	३-१७-२	113
अथ यदास्य वाङ्मनसि	३-१५-२	284
अथ यदेवं विद्वान्	५-२४-२	227
अथ यदि गन्धमाल्य	८-२-६	334
अथ यदि गीतवादित्र	८-२-८	334
अथ यदि तस्याकर्ता	६-१६-२	286
अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे	८-१-१	329
* अथ यदि पितृलोक	८-२-१	334
अथ यदि भ्रातृलोककामः	८-२-३	334
अथ यदि महज्जिगमिषेद्	५-२-४	181
अथ यदि मातृलोककामः	८-२-२	334
अथ यदि यजुष्टो रिष्येत्	४-१७-५	168
अथ यदि सखिलोककामः	८-२-५	334
अथ यदि सामतो रिष्येत्	४-१७-६	168
अथ यदि स्त्रीलोककामः	८-२-९	334
अथ यदि स्वसृलोककामः	८-२-४	334
अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्	२-९-६	58
अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्	२-९-७	58
अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लम्	१-७-४	30
अथ यदेतदादित्यस्य	१-६-५	28
अथ यद्द्वितीयममृतम्	३-७-१	85
अथ यद्धसति	३-१७-३	113
अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते	८-५-१	338
अथ यद्यन्नपानलोककामः	८-२-७	334
अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्त०	७-१५-३	316
अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत	२-२२-४	70
अथ या एता हृदयस्य	८-६-१	341
अथ यां चतुर्थीम्	५-२२-१	226
अथ यां तृतीयाम्	५-२१-१	225
अथ यां द्वितीयाम्	५-२०-१	225
अथ यां पञ्चमीम्	५-२३-१	226
अथ यानि चतुश्चत्वारि	३-१६-३	111
अथ यान्यष्टाचत्वारिंशत्	३-१६-५	112
अथ येऽस्य दक्षिणा	३-२-१	80
अथ येऽस्य प्रत्यञ्चः	३-३-१	81
अथ येऽस्योदञ्चः	३-४-१	82
अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयः	३-५-१	82
अथ यो वेदेदं मन्वानीति	८-१२-५	361
अथ योऽस्य दक्षिणः	३-१३-२	98
अथ योऽस्य प्रत्यङ्सुषिः	३-१३-३	99
अथ योऽस्योदङ्सुषिः	३-१३-४	99
अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः	३-१३-५	100
अथ सप्तविधस्य वाचि	२-८-१	55
अथ ह हꣳसा निशायाम्	४-१-२	124
अथ ह चक्षुरुद्गीथम्	१-२-४	15
अथ ह प्राण उच्चिक्र	५-१-१२	177
अथ ह प्राणा अहꣳश्रेयसि	५-१-६	174
अथ ह मन उद्गीथम्	१-२-६	15
अथ ह य एतानेवम्	५-१०-१०	208
अथ ह वाचमुद्गीथम्	१-२-३	15
अथ ह शौनकं च	४-३-५	132
अथ ह श्रोत्रमुद्गीथम्	१-२-५	15
अथ हाग्नयः समूदिरे	४-१०-४	150
अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव	८-९-१	353
अथ हैनं गार्हपत्यः	४-११-१	152
अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद	१-११-८	42
अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद	१-११-४	41
अथ हैनं यजमान उवाच	१-११-१	41

मन्त्रप्रतीकानि	अ खं.मं.	पृष्ठ
अथ हैनं वागुवाच	५-१-१३	177
अथ हैनꣳश्रोत्रमुवाच	५-१-१४	177
अथ हैनमन्वाहार्यपचन	४-१२-१	153
अथ हैनमाहवनीयः	४-१३-१	154
अथ हैनमुद्गातोपससाद	१-११-६	42
अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद	४-५-१	140
अथ होवाच जनꣳ	५-१५-१	220
अथ होवाच बुडिल	५-१६-१	220
अथ होवाच सत्ययज्ञम्	५-१३-१	217
अथ होवाचेन्द्रद्युम्नम्	५-१४-१	219
अथ होवाचोद्दालकम्	५-१७-१	221
अथात आत्मादेश एव	७-२५-२	324
अथातः शौव उद्गीथः	१-१२-१	43
अथाधिदैवतं य एवासौ	१-३-१	19
अथाध्यात्मं प्राणो वाव	४-३-३	131
अथाध्यात्मं य एवायम्	१-५-३	27
अथाध्यात्मं वागेवर्क्प्राणः	१-७-१	30
अथानु किमनुशिष्टः	५-३-४	193
अथानेनैव ये चैतस्मात्	१-७-८	31
अथावृत्तेषु द्यौर्हिङ्कारः	२-२-२	50
अथैतयोः पथोर्न कतरेण	५-१०-८	207
अथोताप्याहुः	२-१-३	47
अधीहि भगव इति	७-१-१	291
अनिरुक्तस्त्रयोदशः	१-१३-३	45
अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः	१-६-२	28
अन्तरिक्षोदरः कोशः	३-१५-१	107
अन्नं वाव बलाद्भूयः	७-९-१	306
अन्नमयꣳहि सोम्य	६-५-४	256
,, ,,	६-६-५	257
अन्नमशितं त्रेधा विधीयते	६-५-१	254
अन्नमिति होवाच	१-११-९	42
अन्यतरामेव वर्तनीम्	४-१६-३	169
अपां का गतिरित्यसौ	१-८-५	34
अपाꣳ सौम्य पीयमान	६-६-३	257
अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति	५-२१-२	225
अभिमन्थति स हिङ्कारः	२-१२-१	62
अभ्रं भूत्वा मेघो भवति	५-१०-६	205
अभ्राणि यत् संप्लवन्ते	२-१५-१	65
अमृतत्वं देवेभ्यः	२-२२-२	70
अयं वाव लोकः	१-१३-१	45
अयं वाव स योऽयमन्तः	३-१२-८	97
अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदये	३-१२-९	97
अरिष्टं कोशम्	३-१५-३	108
अशनापिपासे मे सोम्य	६-८-३	263
अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्	८-१२-२	360
असौ वा आदित्यः	३-१-१	79
असौ वाव लोकः	५-४-१	197
अस्य यदेकाꣳ शाखाम्	६-११-२	273
अस्य लोकस्य का गतिः	१-९-१	36
अस्य सोम्य महतो	६-११-१	273
आकाशो वाव तेजसः	७-१२-१	311
आकाशो वै नाम	८-१४-१	366
आगाता ह वै कामानाम्	१-२-१४	19
आत्मानमन्तत उपसृत्य	१-३-१२	24
आदित्प्रत्नस्य रेतसः	३-१७-७	115
आदित्य इति होवाच	१-११-७	42
आदित्य ऊकारः	१-१३-२	45
आदित्यमथ वैश्वदेवम्	२-२४-१३	77
आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः	३-१९-१	121
आदिरिति द्व्यक्षरम्	२-१०-२	60

मन्त्रप्रतीकानि	अ.खं.मं.	पृष्ठ
आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते	६–५–२	255
आपयिता ह वै कामानाम्	१–१–७	10
आपो वावान्नाद्भूयस्यः	७–१०–१	308
आप्नोति हादित्यस्य	२–१०–६	60
आशा वाव स्मराद्भूयसी	७–१४–१	314
इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः	५–९–१	201
इदं वाव तज्ज्येष्ठाय	३–११–५	90
इदमिति ह प्रतिजज्ञे	४–१४–३	156
इमाः सोम्य नद्यः	६–१०–१	272
इयमेवर्गग्निः	१–६–१	27
उदशराव आत्मानमवेक्ष्य	८–८–१	350
उदाने तृप्यति त्वक्	५–२३–२	227
उदीथ इति त्र्यक्षरम्	२–१०–३	60
उद्गृह्णाति तन्निधनम्	२–३–२	51
उद्दालको हारुणिः	६–८–१	261
उद्यन्हिङ्कार उदितः	२–१४–१	64
उपकोसलो ह वै	४–१०–१	148
उपमन्त्रयते स हिङ्कारः	२–१३–१	63
ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि	७–१–२	292
ऋतुषु पञ्चविधम्	२–५–१	52
एकविꣳशत्यादित्यम्	२–१०–५	60
एतꣳसंयद्वाम इत्याचक्षते	४–१५–२	157
एतद्ध स्म वै तद्विद्वाꣳसः	६–४–५	253
एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह	३–१६–७	112
एतमु एवाहमभ्यगासिषम्	१–५–२	26
,, ,,	१–५–४	27
ऐतमृग्वेदमभ्यतपꣳ	३–१–३	79
एतेषां मे देहीति	१–१०–३	39
एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा	१–२–८	16
एवꣳसोम्य ते षोडशानाम्	६–७–६	260

मन्त्रप्रतीकानि	अ.खं.म.	पृष्ठ
एवमेव खलु सोम्य	६–६–२	257
,, ,,	६–११–३	273
एवमेव खलु सोम्येमाः	६–१०–२	272
एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच	१–१०–११	40
एवमेवैष मघवन्निति	८–९–३	354
,, ,,	८–११–३	359
एवमेवैष सम्प्रसादः	८–१२–३	361
एवमेवोद्गातारमुवाच	१–१०–१०	40
एवमेषां लोकानामासाम्	४–१७–८	169
एष उ एव भामनीरेष हि	४–१५–४	158
एष उ एव वामनीरेष हि	४–१५–३	158
एष तु वा अतिवदति	७–१६–१	318
एष म आत्मान्तहृदये	३–१४–३	105
एष वै यजमानस्य	२–२४–१५	78
एष ह वा उदक्प्रवणः	४–१७–९	169
एष ह वै यज्ञो योऽयम्	४–१६–१	165
एषां भूतानां पृथिवी रसः	१–१–२	8
ओ ३ मदा ३ मो	१–१२–५	44
ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत	१–१–१	6
,, ,,	१–४–१	24
औपमन्यव कं त्वम्	५–१२–१	216
कं ते काममागायानीत्येषः	१–७–९	32
कतमा कतमर्क्कतमत्	१–१–४	10
कल्पन्ते हास्मा ऋतवः	२–५–२	53
कल्पन्ते हास्मै	२–२–३	50
का साम्नो गतिरिति	१–८–४	34
कुतस्तु खलु सौम्य	६–२–२	237
क्व तर्हि यजमानस्य	२–२४–२	75
गायत्री वा इदं सर्वम्	३–१२–१	94
गोअश्वमिह महिमेत्या	७–२४–२	323

मन्त्रप्रतीकानि	अ०खं०मं०	पृष्ठ
चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः	३-१८-५	119
चक्षुरेवर्गात्मा	१-७-२	30
चक्षुर्होच्चक्राम	५-१-९	176
चित्त वाव सङ्कल्पाद्भूयः	७-५-१	301
जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः	४-१-१	124
तं चेदेतस्मिन्वयसि	३-१६-२	110
,, ,,	३-१६-४	111
,, ,,	३-१६-६	112
तं चेद्ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदम्	८-१-४	331
तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्	८-१-२	330
तं जायोवाच तप्तः	४-१०-२	149
तं जायोवाच हन्त	१-१०-७	40
तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद	४-८-२	146
* तं वा एतं देवा	८-१६-६	362
तꣳहꣳस उपनिपत्याभ्युवाद	४-७-२	144
तꣳह चिरं वसेत्याज्ञा०	५-३-७	196
तꣳह प्रवाहणः	१-८-८	35
*तꣳह यथैवेदं	१-१२-४	44
तꣳह सिलकः	१-८-६	35
तꣳहाङ्गिरा उद्गीथम्	१-२-१०	18
तꣳहाभ्युवाद रैक्वेदम्	४-२-४	129
तꣳहैतमतिधन्वा	१-९-३	37
तꣳहोवाच किंगोत्रः	४-४-४	318
तꣳहोवाच नैतदब्राह्मणः	४-४-५	138
तꣳहोवाच यं वै	६-१२-२	277
तꣳहोवाच यथा	६-७-५	260
तꣳहोवाच यथा सोम्य	६-७-३	259
त इमे सत्याः कामाः	८-३-१	335
त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा	६-९-३	271
त एतदेवं रूपमभि०	३-६-२	84

मन्त्रप्रतीकानि	अ०खं०मं०	पृष्ठ
त एतदेवं रूपमभि०	३-७-२	85
[त एत] देवं रूपमभि	३-८-२	86
,, ,,	३-९-२	87
,, ,,	३-१०-२	88
तत्रोद्गातॄनास्तावे	१-१०-८	40
तथामुष्मिँल्लोके	१-९--४	37
तथेति ह समुपविविशुः	१-८-२	33
तदुताप्याहुः साम्नैनमुपा०	२-१-२	47
तदु ह जानश्रुतिः	४-१-५	126
,, ,,	४-२-१	128
तदु ह शौनकः कापेयः	४-३-७	133
तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म	३-१८-२	117
तदेतन्मिथुनमोमिति	१-१-६	10
तदेष श्लोकः	८-६-६	344
तदेष श्लोको न पश्यः	७-२६-२	326
तदेष श्लोको यदा	५-२-८	184
तदेष श्लोको यानि	२-२१-३	69
तदैक्षत बहु स्याम्	६-२-३	239
तद्धैतत्सत्यकामः	५-२-३	181
तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः	३-१७-६	114
तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतये	३-११-४	90
,, ,,	८-१५-१	368
तद्धोभये देवासुराः	८-७-२	347
तद्य इत्थं विदुः	५-१०-१	202
तद्य इह रमणीयचरणाः	५-१०-७	206
तद्य एवैतं ब्रह्मलोकम्	८-४-३	338
तद्य एवैतावरं च	८-५-४	339
तद्यत्प्रथमममृतम्	३-६-१	83
तद्यत्रैतत्सुप्तः	८-६-३	342

मन्त्रप्रतीकानि	अ०खं०मं०	पृष्ठ
तद्यथा महापथ आततः	८-६-२	342
तद्यथा लवणेन	४-१७-७	169
तद्यथेषीकातूलमग्नौ	५-२४-३	227
तद्यथेह कर्मजितो लोकः	८-१-६	333
तद्यद्युक्तो रिष्येद्भूः	४-१७-४	168
तद्यद्रतꣳसेयं पृथिवी	३-१९-२	121
तद्व्यक्षरत्तदादित्यम्	३-१-४	79
,, ,,	३-२-३	80
,, ,,	३-३-३	81
,, ,,	३-४-३	82
,, ,,	३-५-३	82
तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम	४-६-२	142
तमु ह परः प्रत्युवाच	४-१-३	125
तमु ह परः प्रत्युवाचाह	४-२-३	129
तयोरन्यतरां मनसा	४-१६-२	166
तस्मा आदित्याश्च	२-२४-१६	78
तस्मा उ ह ददुस्ते	४-३-८	134
तस्मादप्यद्येहाददान०	८-८-५	353
तस्मादाहुः सोष्यति	३-२७-५	114
तस्मादु हैवंविद्यद्यपि	५-२४-४	228
तस्माद्वा एतꣳसेतुम्	८-४-२	337
तस्मिन्निमानि सर्वाणि	२-९-२	56
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ	५-४-२	197
,, ,,	५-५-२	198
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ	५-६-२	199
,, ,,	५-७-२	199
,, ,,	५-८-२	200
तस्मिन्यावत्संपातम्	५-१०-५	205
तस्मै श्वा श्वेतः	१-१२-२	43
तस्य क्व मूलꣳस्याद्	६-८-४	264

मन्त्रप्रतीकानि	अ०खं०मं०	पृष्ठ
तस्य क्व मूलं	६-८-६	267
तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम	३-१५-२	107
तस्य यथा कप्यासम्	१-६-७	29
तस्य यथाभिनहनम्	६-१४-२	281
तस्य ये प्राञ्चो रश्मयः	३-१-२	79
तस्यर्क्च साम च गेष्णौ	१-६-८	29
तस्य ह वा एतस्य	३-१३-१	98
तस्य ह वा एतस्यात्मनः	५-१८-२	223
तस्य ह वा एतस्यैवम्	७-२६-१	325
तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्	४-२-५	130
तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतत्	३-१३-८	101
त्रयी विद्या हिङ्कारस्त्रयः	२-२१-१	69
त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञः	२-२३-१	72
त्रयो होद्गीथे कुशलाः	१-८-१	33
ता आप ऐक्षन्त	६-२-४	241
तानि वा एतानि यजूꣳष्येतम्	३-२-२	80
तानि वा एतानि सामानि	३-३-२	81
तानि ह वा एतानि	७-४-२	298
,, ,,	७-५-२	301
,, ,,	८-३-५	336
तानु तत्र मृत्युर्यथा	१-४-३	25
तान्यभ्यतपत्तेभ्यः	२-२३-३	73
तान्होवाच प्रातर्वः	५-११-७	215
तान्होवाचाश्वपतिर्वै	५-११-४	214
तान्होवाचोहैव	१-१२-३	43
तान्होवाचैते वै खलु	५-१८-१	222
तावानस्य महिमा	३-१२-६	96
तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकाम्	६-३-३	249
,, ,,	६-३-४	250
तेजसः सोम्याश्यमानस्य	६-६-४	257

मन्त्रप्रतीकानि	अ०खं-मं०	पृष्ठ
तेजो वावाद्भ्यो भूयः	७-११-१	310
तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते	६-५-३	255
तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः	५-११-५	214
तेन तꣳह बकः	१-२-१३	19
तेन तꣳह बृहस्पतिः	१-२-११	18
तेन तꣳहायास्य	१-२-१२	18
तेनेयं त्रयी विद्या	१-१-९	11
तेनोभौ कुरुतो यश्चैतत्	१-१-१०	12
ते यथा तत्र न विवेकम्	६-९-२	270
ते वा एते गुह्याः	३-५-२	82
ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरसः	३-४-२	82
ते वा एते पञ्च	३-१३-६	100
ते वा एते रसानाꣳरसाः	३-५-४	83
तेषां खल्वेषां भूतानाम्	६-३-१	247
ते ह प्राणाः प्रजापतिम्	५-१-७	174
ते ह नासिक्यम्	१-२-२	14
ते ह सम्पादयाञ्चक्रु	५-११-२	213
ते होचुरुपकोसलैषा	४-१४-१	154
ते होचुर्येन हैवार्थेन	५-११-६	215
तौ वा एतौ द्वौ	४-३-४	132
तौ ह द्वात्रिꣳशतं वर्षाणि	८-७-३	348
तौ ह प्रजापतिरुवाच	८-७-४	349
,, ,,	८-८-२	350
तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिः	८-८-४	352
तौ होचतुर्यथैवेद०	८-८-३	351
दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य	६-६-१	257
दुग्धेऽस्मै वाग्दोहन्	१-१३-४	46
,, ,,	२-८-३	56
देवा वै मृत्योर्बिभ्यतः	१-४-२	24
देवासुरा ह वै यत्र	१-२-१	13

मन्त्रप्रतीकानि	अ०खं०मं०	पृष्ठ
द्यौरेवासादित्यः	१-६-३	28
द्यौरेवोदन्तरिक्षं	१-३-७	23
ध्यानं वाव चित्ताद्भूयः	७-६-१	302
नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमाः	१-६-४	28
न वधेनास्य हन्यते	८-१०-२	355
,, ,,	८-१०-४	356
न वै तत्र न निम्लोच	३-११-२	89
न वै नूनं भगवन्तस्ते	६-१-७	234
न वै वाचो न चक्षूꣳषि	५-१-१५	178
न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति	१-१०-४	39
न ह वा अस्मा उदेति	३-११-३	89
न हाप्सु प्रेत्यप्सुमान्	२-४-२	52
नान्यस्मै कस्मैचन	३-११-६	90
नाम वा ऋग्वेदो	७-१-४	293
नाहमत्र भोग्यं	८-९-२	353
निधनमिति त्र्यक्षरम्	२-१०-४	60
नैवैतेन सुरभि न	१-२-९	16
न्यग्रोधफलमत आहरे	६-१२-१	275
पञ्च मा राजन्यबन्धुः	५-३-५	194
परोवरीयो हास्य भवति	२-७-२	54
पर्जन्यो वाव गौतमाग्निः	५-५-१	198
पशुषु पञ्चविधम्	२-६-१	53
पुरा तृतीयसवनस्योपा०	२-२४-११	77
पुरा प्रातरनुवाकस्योपा०	२-२४-३	76
पुरा माध्यन्दिनस्य	२-२४-७	77
पुरुषꣳ सोम्योत	६-१६-१	285
पुरुषꣳसोम्योतोपतापिनम्	३-१५-१	284
पुरुषो वाव गौतमाग्निः	५-७-१	199
पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य	३-१६-१	109
पृथिवी वाव गौतमाग्नि	५-६-१	199

मन्त्रप्रतीकानि	अ०खं०मं०	पृष्ठ
पृथिवी हिङ्कारोऽन्तरिक्षम्	२-१७-१	66
प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्	२-२३-२	73
,, ,,	४-१७-१	167
प्रवृत्तोऽश्वतरीरथः	५-१३-२	218
प्रस्तोतर्या देवता	१-१०-९	40
प्राचीनशाल औपमन्यवः	५-११-१	212
प्राण इति होवाच	१-११-५	41
प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः	३-१८-४	119
प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति	५-१९-२	224
प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः	२-७-१	54
प्राणो वा आशायाः	७-१५-१	316
प्राणो ह्येतानि सर्वाणि	७-१५-४	317
प्राप हाचार्यकुलम्	४-९-१	147
बलं वाव विज्ञानाद्	७-८-१	305
ब्रह्मणः सोम्य ते पादम्	४-६-३	143
,, ,,	४-७-३	144
,, ,,	४-८-३	146
ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति	४-५-२	140
ब्रह्मवादिनो वदन्ति	२-२४-१	75
ब्रह्मविदेव वै सोम्य	४-९-२	147
भगव इति ह प्रतिशुश्राव	४-१४-२	157
भगवाँस्त्वेव मे	१-११-३	41
भवन्ति हास्य पशवः	२-६-२	53
मघवन्मर्त्यं वा इदम्	८-१२-१	360
मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या	१-१०-१	38
मद्गुष्टे पादं वक्तेति	४-८-१	145
मनो ब्रह्मेत्युपासीत	३-१८-१	117
मनोमयः प्राणशरीरः	३-१४-२	104
मनो वाव वाचो भूयः	७-३-१	296
मनो हिङ्कारो वाक्	२-११-१	61

मन्त्रप्रतीकानि	अ०खं०मं०	पृष्ठ
मनो होच्चक्राम	५-१-११	176
मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्	४-१७-१०	169
मासेभ्यः पितृलोकम्	५-१०-४	203
मासेभ्यः संवत्सरम्	५-१०-२	202
यं यमन्तमभिकामः	८-२-१०	334
*य आत्मापहतपाप्मा	८-७-१	347
*य आशां ब्रह्मेत्यु	७-१४-१	315
य एते ब्रह्मलोके	८-१२-६	362
य एष स्वप्ने महीयमानः	८-१०-१	355
य एषोऽक्षिणि पुरुषः	४-१५-१	156
यच्चन्द्रमसो रोहितँ रूपम्	६-४-३	252
यत्र नान्यत्पश्यति	७-२४-१	322
*यत्रैतत्सुप्तः	८-११-१	357
*यथा एतामेवं	३-११-४	89
यथा कृतायविजिताया	४-१-४	125
,, ,,	४-१-६	127
यथा विलीनमेवाङ्ग	६-१३-२	278
*यथाऽश्मानमाखणमृत्वा	१-२-८	16
यथा सोम्य पुरुषम्	६-१४-१	281
यथा सोम्य मधु मधुकृतः	६-९-१	270
यथा सोम्यैकेन	६-१-४	234
यथा सोम्यैकेन नख०	६-१-६	234
यथा सोम्यैकेन लोह०	६-१-५	234
यथेह क्षुधिता बाला	५-२४-५	228
यदग्ने रोहितँ रूपम्	६-४-१	251
यदादित्यस्य रोहितम्	६-४-२	252
यदाप उच्छुष्यन्ति	४-३-२	131
या वा ऋचमाप्नोति	१-४-४	25
यदा वै करोत्यथ	७-२१-१	320
यदा वै निस्तिष्ठत्यथ	७-२०-१	320

मन्त्रप्रतीकानि	अ०खं०मं०	पृष्ठ
यदा वै मनुतेऽथ	७-१८-१	319
यदा वै विजानात्यथ	७-१७-१	318
यदा वै श्रद्दधात्यथ	७-१९-१	320
यदा वै सुखं लभतेऽथ	७-२२-१	321
यदुदिति स उद्गीथः	२-८-२	55
यदु रोहितमिवाभूदिति	६-४-६	253
यद्विज्ञातमिवाभूत्	६-४-७	253
यद्विद्युतो रोहितꣳ रूपम्	६-४-४	252
*यद्यन्तभक्तं तद्भक्तं	५-१९-१	224
यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदम्	३-१२-४	96
यद्वै तद्ब्रह्मेतीदम्	३-१२-७	97
यस्तद्वेद स वेद	२-२१-४	69
यस्यामृचि तामृचम्	१-३-९	23
यां दिशमभिष्टोष्यन्	१-३-११	23
या वाक्सर्क्तस्मात्	१-३-४	21
यावान्वा अयमाकाशः	८-१-३	330
या वै सा गायत्रीयम्	३-१२-२	95
या वै सा पृथिवीयम्	३-१२-३	95
*ये चास्येह जीवा	८-३-२	335
येनच्छन्दसा	१-३-१०	23
येनाश्रुतꣳ श्रुतम्	६-१-३	223
यो वै भूमा तत्सुखम्	७-२३-१	321
योषा वाव गौतमाग्निः	५-८-१	200
यो ह वा आयतनम्	५-१-५	173
यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च	५-१-१	171
यो ह वै प्रतिष्ठां वेद	५-१-३	172
यो ह वै वसिष्ठं वेद	५-१-२	172
यो ह वै सम्पदं वेद	५-१-४	173
रैक्वेमानि षट्शतानि	४-२-२	128
लवणमेतदुदकेऽवधायाथ	६-१३-१	278

मन्त्रप्रतीकानि	अ०खं०मं०	पृष्ठ
लो३कद्वारमपावा३र्णू	२-२४-४	76
,, ,,	२-२४-८	77
,, ,,	२-२४-१२	77
लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत	२-२-१	49
लोम हिङ्कारस्त्वक्प्रस्तावः	२-१९-१	67
वसन्तो हिङ्कारः	२-१६-१	65
वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्ना	५-२-५	181
वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः	३-१८-३	118
वागेवर्क् प्राणः	१-१-५	10
वाग्वाव नाम्नो भूयसी	७-२-१	294
वायुर्वाव संवर्गो यदा	४-३-१	131
विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयः	७-७-१	304
विनर्दि साम्नो वृणे	२-२२-१	70
वृष्टौ पञ्चविधम्	२-३-१	51
वेत्थ यथासौ लोको न	५-३-३	193
वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः	५-३-२	192
व्याने तृप्यति श्रोत्रं	५-२०-२	225
श्यामाच्छबलं प्रपद्ये	८-१३-१	364
श्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्	४-९-३	147
श्रोत्रꣳ होच्चक्राम	५-१-१०	176
श्रोत्रमेव ब्रह्मश्चतुर्थः	३-१८-६	120
श्रोत्रमेवर्ङ्मनः	१-७-३	30
श्वेतकेतुर्हारुणेयः	५-३-१	191
,, ,,	६-१-१	224
षोडशकलः सोम्य	६-७-१	258
संकल्पो वाव मनसः	७-४-१	298
स एतां त्रयीं विद्याम्	४-१७-३	168
स एतास्तिस्रो देवताः	४-१७-२	167
स एवाधस्तात्स उपरि०	७-२५-१	323
स एष परोवरीयानुद्गीथः	१-९-२	36

मन्त्रप्रतीकानि	अ०खं०मं०	पृष्ठ
स एष ये चैतस्माम्	१-७-६	31
स एष रसानाँरसतमः	१-१-३	8
स जातो यावदायुषम्	५-९-२	201
सत्यकामो ह जाबालः	४-४-१	137
सदेव सोम्येदमग्रे	६-२-१	235
स ब्रूयान्नास्य जरयैतत्	८-१-५	332
समस्त[स्य]खलु	२-१-१	47
समान एवायं चासो	१-३-२	20
समाने तृप्यति मनः	५-२२-२	226
स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते	७-१२-२	312
स य इदमविद्वानग्निहोत्रम्	५-२४-१	227
*स य एतदादित्यो	३-९-४	87
स य एतदेवं विद्वानक्षरम्	१-४-५	26
स य एतदेवं विद्वान्	२-१-४	48
स य एतदेवममृतं वेद	३-६-३	85
,, ,,	३-७-३	85
,, ,,	३-८-३	86
,, ,,	३-९-३	87
,, ,,	३-१०-३	88
स य एतमेवं विद्वाऽश्वतु	४-५-३	141
,, ,,	४-६-४	143
,, ,,	४-७-४	145
,, ,,	४-८-४	146
स य एतमेवं विद्वाना	३-१९-४	123
स य एतमेवं विद्वानुग	४-११-२	152
,, ,,	४-१२-२	153
,, ,,	४-१३-२	154
स य एवमेतद्गायत्रम्	२-११-२	62
स य एवमेतत्साम	२-२१-२	69
स य एवमेतद्बृहदादित्ये	२-१४-२	64

मन्त्रप्रतीकानि	अ० खं० मं०	पृष्ठ
स य एवतमेद्यज्ञायज्ञीय	२-१९-२	67
स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ	२-१२-२	62
स य एवमेतद्राजनं	२-२०-२	68
स य एवमेतद्वामदेव्यम्	२-१३-२	63
स य एवमेतद्वैराजमृतुषु	२-१६-२	65
स य एवमेतद्वैरूपम्	२-१५-२	65
स य एवमेताः शक्वर्यो	२-१७-२	66
स य एवमेता रेवत्यः	२-१८-२	67
स य एषोऽणिमैतदात्म्यम्	६-८-७	268
,, ,,	६-९-४	271
,, ,,	६-१०-३	272
,, ,,	६-१२-३	277
,, ,,	६-१३-३	280
,, ,,	६-१४-३	283
,, ,,	६-१५-३	285
स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते	७-४-३	300
स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते	७-१३-२	314
स यथा तत्र	६-१६-३	286
स यथा शकुनिः सूत्रेण	६-८-२	262
स यथोभयपाद्व्रजन्	४-१६-५	167
स यदवोचं प्राणम्	३-१५-४	108
स यदशिशिषति	३-१७-१	113
स यदि पितरं वा मातरम्	७-१५-२	316
स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते	७-५-३	302
स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते	७-११-२	311
स यावदादित्य उत्तरतः	३-१०-४	88
स यावदादित्यः	३-६-४	84
स यावदादित्यः पश्चात्	३-९-४	87
स यावदादित्यः पुरस्तात्	३-७-४	86
स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते	७-६-२	303

मन्त्रप्रतीकानि	अ०खं०मं०	पृष्ठ
स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते	७-१-५	294
स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते	७-९-२	308
स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्ते	७-१०-२	309
स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते	७-८-२	306
स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते	७-३-२	297
स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते	७-२-२	295
स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते	७-७-२	305
सर्वं खल्विदं ब्रह्म	३-१४-१	103
सर्वकर्मा सर्वकामः	३-१४-४	105
सर्वास्वप्सु पञ्चविधम्	२-४-१	51
सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः	२-२२-३	70
सर्वे स्वरा घोषवन्तः	२-२२-५	70
स वा एष आत्मा	८-३-३	336
स समित्पाणिः पुनरेयाय	८-१०-३	356
,, ,,	८-११-२	358
स ह क्षत्तान्विष्य	४-१-७	127
स ह खादित्वातिशेषान्	१-१०-५	39
स ह गौतमो राज्ञः	५-३-६	195
स ह द्वादशवर्ष उपेत्य	६-१-२	233
स ह पञ्चदशाहानि	६-७-२	259
स ह प्रातः संजिहानः	१-१०-६	39

मन्त्रप्रतीकानि	अ०खं०मं०	पृष्ठ
स ह व्याधिनानशितुम्	४-१०-३	149
स ह सम्पादयाञ्चकार	५-११-३	213
स ह सिलकः	१-८-३	34
स ह हारिद्रुमतं गौतमम्	४-४-३	138
स हाशाथ हैनमुपससाद	६-७-४	260
स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्	१-१०-२	39
स होवाच किं मेऽन्नम्	५-२-१	179
स होवाच किं मे वासः	५-२-२	180
स होवाच भगवन्तं वा	१-११-२	41
स होवाच महात्मनः	४-३-६	133
स होवाच विजानाम्यहम्	४-१०-५	150
सा ह वागुच्चक्राम	५-१-८	174
सा हैनमुवाच नाहम्	४-४-२	137
सेयं देवतैक्षत	६-३-२	248
सैषा चतुष्पदा षड्विधा	३-१२-५	96
सोऽधस्ताच्छकटस्य	४-१-८	127
सोऽहं भगवो मन्त्र	७-१-३	292
स्तेनो हिरण्यस्य सुराम्	५-१०-९	208
स्मरो वावाकाशाद्भूयः	७-१३-१	313
हꣳसस्ते पादं वक्तेति	४-७-१	144
हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति	१-८-७	35

❦

Bhawan's Sri Sankaracharya ... 220

Sayanacharya was a great Vedic scholar who commented on almast all the important Vedic texts such as all the Samhitas of 'four Vedas. numerous Brahmanas and Aranyaks. It was expected that he might have commented atleast on old Upanishads like Chhandogyopanishad, Bruhadaranyakopanishad etc.

In our search for tracing the MSS of missing Sayanabhashya on Upanishads, under the able and worthy guidance of Ananta-shri-vibhushita, Veda-darshanacharya Swami GANGESHWARANANDJI MAHARAJA, UDASIN (Now 108 years old), we could trace two MSS of the commentaty of Sayanacharya on Chhandogyopanishad; one from Bhandarakar Oriental Research Institue, Pune, and other. from the Oriental Research Institue, Mysore, With the help of these two MSS the critical edition of Chhandogyopanished with Sayanabhashya is published for the first time by Sadguru Gangeshwar International Ved Mission, (Bombay)-an internationally recognised mission working for the cause of Vedic studies.

The editor of this work Dr. Gautam V. Patel is a well-known professor of Sanskrit who has more than fifty works and numerous research papers at his credit, ranging from the works on Vedic literture to the critical edition of Vallabhadeva's commentary on Kumarasambhava of Kadidasa. He has widely travelled in various countries and attended notional and international Sanskrit Conferences. The persent work has grown out of continuous study for seven years.

Hope this publication would be able to atterct the attention of Vedic scholars and satisty their need for the study of Upanishads in general and that of the commentary of Sayanacharya in perticular.